त्रिपुरारहस्यम्

(ज्ञानखण्डम्)

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

२६४

त्रिपुरारहस्यम्

(ज्ञानखण्डम्)

'विमला'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकार—

आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र

साहित्याचार्य, व्या० शा०

एम० ए० (द्वितय), पी-एच्० डी०, डिप्-इन-एड्०

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

समर्पण

अन्तःसुखसाधिका

उस पराचिति

को, जिसने

झकझोर कर मुझे जगाया है ।

*

जगदीश

भूमिका

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम् ।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ।।
एवमेकाक्षरं ब्रह्म यतयः शुद्धचेतसः ।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ।।

(श्रीदेव्यथर्वशीर्षम्)

हमारे देश की प्राचीन भाषा संस्कृत रही है । एक समय था जब संस्कृत केवल वेद, पुराणों, उपनिषदों आदि तक सीमित नहीं थी, बल्कि यह बोली के रूप में भी जनमानस में जानी जाती थी । संस्कृत-साहित्य जितना समृद्ध है, दुनिया का कोई भी साहित्य उतना समृद्ध नहीं है । एक बात और है; किसी भी पक्ष को बिना किसी हिचक के साथ संस्कृत-साहित्य में खुले रूप से प्रकट किया गया है । यह तभी सम्भव होता है जब कोई भी देश पूरी तरह से समृद्ध हो और वहाँ की जनता सुखी हो । इसी का परिणाम रहा है कि खजुराहो, कोणार्क, पुरी से लेकर सभी विख्यात मन्दिरों में रंगमण्डप रहे हैं । ये रंगमंडप विलासिता का नहीं बल्कि वैभव और समृद्धि का परिचय देते हैं ।

संस्कृत-साहित्य में ही तन्त्र-मन्त्र और इसके कई अंग-उपांग व्यापक रूप से लिखे गये हैं । ऋग्वेद जैसे वेद की हर ऋचा अपने-आप में एक ऊर्जस्वी मन्त्र हैं । तन्त्रशास्त्रों की रचना भी यहीं की देन हैं । तन्त्र-मन्त्र में अपार क्षमता है, यह सर्वविदित और स्वयंसिद्ध है । कुछ तत्त्वों ने इसका दुरुपयोग किया है, यह दूसरी बात है । लेकिन दुरुपयोग के कारण इस साहित्य की समृद्धता से नकारा नहीं जा सकता । तन्त्र और मन्त्र ने मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि से लेकर जीवन के समरस और सुखद पक्ष तक का प्रतिनिधित्व किया है । सम्भवतः यही परम्परा है जिसने हमें तन्त्र और मन्त्र की व्यापकता की ओर आकर्षित किया है ।

तन्त्र शब्द वन् धातु से बना है । अतः तन्त्र का विकास अर्थ में प्रयोग किया जाता है । तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति काशिका-वृत्ति में 'तनु विस्तारे' धातु से बतलाई गई है । 'सार्वधातुभ्यः ष्टन्' सूत्र से ष्टन् प्रत्यय के योग से तन्त्र शब्द का निर्माण हुआ है । 'तन्यते विस्तारयेत् ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्' के अनुसार किसी भी ज्ञान को जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सांगोपांग विवरण देता है, उसे तन्त्र कहते हैं । सरल शब्दों में जिस साधना द्वारा हमारे ज्ञान का विकास हो, वह शास्त्र तन्त्र है ।

जिस शास्त्र में स्वल्प शब्दों में प्रचुर अर्थों की उपलब्धि हो तथा तत्त्व मीमांसा और मन्त्र विज्ञान की सामग्री से परिपूर्ण हो, उसके अनुष्ठान से साधक

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापमय से परिमुक्त हो जाय, उस साधना को तन्त्र कहा जाता है। यह एक साधनापरक धर्मपद्धति है, किन्तु धर्म की अपेक्षा यह विशाल अधिक है।

तन्त्र का दूसरा नाम आगम है। जिस साधना के द्वारा परिच्छिन्न नाम-रूप क्रिया उपाधियों से आवृत शक्तिचेतना को परमेश्वरी पराशक्ति के सत्य-रूप का तादात्म्य रूप से अभेद बोध हो, वह तन्त्र है। शाक्ततन्त्र के अनुसार पराशक्ति ही नाम, रूप और क्रियाओं के द्वारा जीव, जगत् और परमतत्त्व है। भोक्ता, भोग्य और भोगसाधन, द्रष्टा, दृश्य और दृक्ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय अथवा कर्त्ता, क्रिया और कारण है। आगम, तन्त्र और यामल—ये तीनों शब्द पारिभाषिक परस्पर स्वसम्मत अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

आगम

आगम पंचमुख शिव के अघोर मुख से निकलकर माँ पराम्बा जगत्जननी महामाया भगवती के श्रवणपुटों के माध्यम से हृदयकमल में टिक गया है। इसके बाद भैरव और नन्दी गुण, तन्त्र के प्रथम साधक हैं। दस महाविद्याएँ तन्त्र की विकसित प्रकाश शक्ति हैं।

अन्य व्याख्या के अनुसार पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र—इन पाँचों अङ्गों की साधना को तन्त्र कहते हैं। 'वाराही तन्त्र' में तन्त्र शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस शास्त्र में सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधना, पुरश्चरण, षट्कर्म, शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, मारणसाधन और ध्यानयोग सहित सातों अवयव परिपुष्ट हों, उसे तन्त्र कहते हैं। अतः धर्म-साधन में जिन नयी पूजाओं, मन्त्रपद्धतियों, देवीचेतनाओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योगसाधनाओं आदि का प्रवेश हो रहा था, उन्हें पूर्ण रूप से एक ज्ञान या चिन्तन पद्धति के भीतर समन्वित कर एक नियम या अनुशासन में सुनियोजित कर देनेवाली प्रणाली का नाम तन्त्र पड़ गया। तन्त्र शब्द केवल आध्यात्मिक साधना में ही नहीं प्रयुक्त होता है, बल्कि व्यावहारिक जीवन में तन्त्र शब्द का प्रयोग एक सौन्दर्यमय, सरलतम वैज्ञानिक व्यवस्था के लिए होता है। यथा—न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र, गणतन्त्र प्रभृति।

तान्त्रिक परम्परा

भारतीय वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र, रक्षा, सिद्धि और गुह्यसाधनाओं का प्रचुर उल्लेख मिलता है। उस समय भी वेदत्रयी की गणना में अथर्ववेद को इस परम्परा में नहीं गिना जाता था। संभवतः अथर्ववेद की गुह्यसाधना ने बहुत आगे चलकर व्रात्य का स्वरूप ग्रहण किया है।

इस सन्दर्भ में अनेक तथ्यों के परिशीलन-विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि भारत में तन्त्रसाधना का उदय सुदूर अतीत में हुआ था।

इसकी प्रतिष्ठापना अन्धविश्वास की अपेक्षा अध्यात्म-विज्ञान के सुनिश्चित तथ्यों के आधार पर हुई है।

'त्रिपुरारहस्यम्' इसी तान्त्रिक साहित्य का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। यद्यपि 'तन्त्र-साहित्य' का क्षेत्र विशाल है, फिर भी सामान्यतया इसे तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। ये खण्ड हैं—शैव, शाक्त और वैष्णव। गाणपत्य प्रभृति तन्त्रशास्त्र के अन्य रूप इसी में समाहित हैं। अन्य साधनाओं की अपेक्षा इसकी विशिष्टता यह है कि आध्यात्मिक उपलब्धि के साथ यह भौतिक ऐश्वर्य भी प्रदान करती है। तांत्रिक सिद्धान्त के अनुसार कोई भी प्राणी जब तक अष्टपाश से विमुक्त नहीं होता तब तक उसे शिवत्व की प्राप्ति नहीं होती। ये अष्टबन्धन साधक के हैं—नफरत, शर्म या हया, डर, शक, निन्दा या बुराई, अपने खानदान पर घमण्ड, मिजाज और जाति—जब तक ये आठ बातें जीव को घेरे रहेंगी तब तक उन्हें जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति नहीं है। इन आठों से मुक्त होना ही शिवत्व को पाना है—

> "घृणा, लज्जा, भयं, शङ्का जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
> कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः।
> पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः॥"

तान्त्रिक साधनाओं के आम्नाय के अनुसार इनके कई भेद और प्रभेद पाये जाते हैं। स्थूल रूप से ये आचार दो खण्डों में विभक्त हैं। दक्षिण और वाम।

दक्षिणाचार

दक्षिणाचार एक प्रकार की आराधना-साधना का सात्त्विक मार्ग है। प्रातः-सन्ध्या, मध्याह्न जप, साधना-प्रक्रिया में कम्बलासन या ऊन के आसन का प्रयोग करना विहित बतलाया गया है। साधनाकाल में दूध या शर्करा पान विहित है। रुद्राक्ष की माला धारण करना विहित है। साधना-प्रक्रिया में अपनी पत्नी के साथ सहवास विहित बतलाया गया है। इनके अतिरिक्त कई अन्य विहित कर्म बतलाये गये हैं।

वामाचार

दक्षिणाचार से वामाचार बिलकुल प्रतिकूल था। इसमें मरे हुए आदमी के दाँत की माला, नरखोपड़ी का पात्र, कच्ची, छोटी मछलियों का चबाना, मांसभक्षण और सभी जातियों की पर-स्त्री में समान रूप से मैथुन—यह वामाचार था। वामाचार में पाँच मकारों का विधान है। इन पाँच मकारों के आधार पर भैरवीचक्र की नियोजना होती थी। इन चक्रों में स्त्री-साधिकाएँ तथा साधक मिलते थे। मद्यपान के उपरान्त मनोरथ सुखों की परस्पर पूर्ति होती थी। इस प्रकार के चक्रों में वर्ण और जाति का कोई भेद नहीं रहता

था। भैरवीचक्र में सब उच्च वर्ग के हो जाते हैं—"प्राप्ते तु भैरवीचक्रे सर्वे वर्णा द्विजोत्तमा:"।

कुछ लोग तन्त्रशास्त्र की दृष्टि से शक्तिसाधना के तीन भेद मानते हैं। प्रथम दक्षिणी मार्ग, दूसरा मिश्र मार्ग और तीसरा वाममार्ग। इसे ही कौलाचार भी कहा जाता है। इनमें दक्षिण मार्ग की साधना तो सर्वोत्कृष्ट मानी गयी ही है। वाममार्ग को भी उत्तम मार्ग ही कहा गया है। यह साधना शीघ्र फलदायिनी मानी गई है। किन्तु इस साधना में पञ्चमकार-साधना की दुहाई देकर इसे काफी घटिया साधना करार दिया गया, जब कि यह साधना दक्षिण मार्ग से उत्कृट, शीघ्र और स्थायी फल देनेवाली है।

प्राचीन भारतीय वाममार्गीय पद्धति में बहुचर्चित पञ्चमकारों की चर्चा आती है और इन आध्यात्मिक प्रकारों की चर्चा में कहा गया है—मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन—ये पांच प्रकार ही योगियों को मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं।

कुछ समालोचकों की दृष्टि में वामाचार तन्त्रों की भाषा सांकेतिक है। इसके संकेत को बिना समझे, इसके रहस्य को अनदेखी कर भोगलिप्सुओं ने अपने मानसिक स्तर के अनुरूप ही इस साधना को समझा और प्रचार किया। इसी के कारण इसके प्रति जनमानस में उपेक्षा का भाव पैदा हुआ। वास्तव में वामाचार बड़े ही उच्च स्तर की साधना है। ऐसे समीक्षकों की दृष्टि में इन आध्यात्मिक पञ्चमकारों के कुछ और ही सांकेतिक अर्थ हैं।

मद्य (मदिरा)

कुलार्णवतन्त्र में नारियल के पानी और दूध को मद्य कहा गया है। योगिनीतन्त्र में अलग-अलग वर्णों के लिए अलग-अलग मदिरापान का विधान है। जैसे अदरख के रस को गुड़ में मिलाकर जो आपानक तैयार होगा वह ब्राह्मणों के लिए सुरा है। काँसे के बरतन में नारियल का पानी क्षत्रियों के लिए सुरा है तथा काँसे के पात्र में मधुपान वैश्यों के लिए सुरा है। साधना के क्षेत्र में ऐसे ही सांकेतित अर्थ अभीप्सित हैं।

मांस

योगिनीतन्त्र में ही मांस और मत्स्य को लवण और अदरख का रस कहा गया है। यहाँ ही मांस का अनुकल्प माना गया है—लवण, अदरख, लहसुन, कालातिल और गेहूँ कीं बाली। कुलार्णवतन्त्र में भी कहा गया है कि पूजा और साधना में मांस की जगह लवण, अदरख, लहसुन और गेहूँ की बालें लेनी चाहिए। मांसाहार का प्रतीकात्मक स्पष्टीकरण करते हुए शास्त्रों में कहा गया है—'मां' शब्द रसनाप्रिय वस्तुओं का द्योतक है अर्थात् जो जीभ की प्रिय वस्तुओं का परित्याग कर अधिक-से-अधिक मौन साधता है, वही 'मांस' साधक कहलाता है।

मत्स्य

तन्त्र-ग्रन्थों में लाल मूली और बैंगन को मत्स्य कहा गया है। कुलार्णव-तन्त्र में भी जहाँ मत्स्य का विधान है वहाँ बैंगन, मूली, सिंघाड़ा और कसेरु आदि की चर्चा आयी है। मन मार कर, इन्द्रियों को वशवर्त्ती बनाकर आत्म-लीन होनेवाले जीवों को भी 'मीनाशी' ही कहा गया है। मत्स्यसाधक की यहाँ यही परिभाषा होनी चाहिए।

मुद्रा

मुद्रा का दिव्य रूप है—बुराइयों को जीतकर अच्छाइयों की स्थापना। ज्ञान की ज्योति से अपने अन्तःकरण को जगाने वाला साधक ही शब्द के सच्चे अर्थ में मुद्रासाधक है।

मैथुन

भैरव्यामल तन्त्र के अनुसार—परमानन्द को प्राप्त हुई सूक्ष्म रूप वाली जो सुषुम्ना नाड़ी है, वही आलिङ्गन करने योग्य सेवनीय कान्ता है। सुषुम्ना नाड़ी के सहस्रारचक्र में प्रवेश ही मैथुन है और कुछ नहीं। यह कुण्डलिनी-जागरण की प्रथम प्रारम्भिक प्रक्रिया है।

आगमसार में तान्त्रिक साधनाओं को खड्गधार या सूक्ष्म पथ बतलाया गया है। अतः तन्त्रमीमांसा समझने के लिए शक्ति और शक्तिमान् को समझना भी उतना ही आवश्यक है, क्योंकि 'त्रिपुरारहस्य' की पृष्ठभूमि भी यही शक्ति और शक्तिमान् है।

शक्ति और शक्तिमान्

शक्ति और शक्तिमान् में ही परमतत्त्व है। परमतत्त्व निर्गुण, निर्विकल्प, निरवेद्य, ज्योतिर्मय, अद्वय, सच्चिदानन्दस्वरूप, निष्फल, निर्विशेष और निरञ्जन है। नाम, रूप, क्रिया और बुद्धि से अगम्य, संविदास्वरूप है। निर्विकल्प, निष्प्रपंच परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन स्वयं संवेद्यता है, क्योंकि यह स्वयं प्रकाश है। मन और बुद्धि के द्वारा अगोचर होते हुए भी वह बुद्धिगम्य है। उसी परमतत्त्व के दो रूप अभिव्यक्त होकर शक्ति और शक्तिमान् के रूप में प्रकट होते हैं।

श्रुतियों ने कहा है कि 'तदैच्छत् बहु स्यामः प्रजायेयाः' तथा—'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्'। उस परमतत्त्व ने इच्छा की कि मैं बहुत रूपों में अभिव्यक्त हो जाऊँ या पहले की तरह सृष्टि करूँ। जो निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष है, उसमें इच्छा कैसे सम्भव है? इच्छा उसकी क्रिया नहीं है, उसकी शाश्वत शक्ति है। जिस तरह से सूर्य एवं उसकी रश्मियाँ, चन्द्र और चन्द्रिका, आग और उसका प्रकाश, दाहकता अभेद होते हुए भी भिन्न है; उसी तरह शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद है। नैयायिकों ने सिद्ध किया है कि सब द्रव्य

गुणवान् होते हैं। गुण का आश्रय द्रव्य है, किन्तु द्रव्य की तरह गुण की स्वतन्त्र सत्ता भी है।

वेदान्तियों की माया की तरह शक्ति अस्तित्वहीन और अनिर्वचनीय नहीं है, जिस तरह से ब्रह्माण्ड में रहते हुए व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता होती है। ब्रह्माण्ड के आश्रय में रहते हुए व्यक्ति का स्वतन्त्र अस्तित्व है। इसी तरह शक्तिमान् के आश्रय में रहती हुई शक्ति स्वतन्त्र अस्तित्ववाली है।

ग्रन्थ-परिचय

'त्रिपुरारहस्य' के प्रणेता महामुनि महर्षि हारितायन हैं। यह ग्रन्थ संवादात्मक है। परम साधक, ऊर्जस्वित तपस्वी, दयालु एवं ज्ञानी गुरु दत्तात्रेयजी तथा चिन्तन एवं भावबोध के बीच लड़खड़ाते परम पुरुषार्थी शिष्य परशुराम के बीच प्रवाहित ज्ञानगङ्गा का यह एक संवाद है। यह संवाद महर्षि हारितायन ने देवर्षि नारद को सुनाया है।

एक जिज्ञासु के रूप में प्रश्नकर्त्ता परशुराम जब विभ्रम की स्थिति में संशयग्रस्त होकर दयालु गुरु दत्तात्रेय के शरणागत होते हैं; परम्पराओं के बीच अपनी सार्थकता खोजते हैं, तब अनायास इनके मुँह से अनेक प्रश्न अवतरित होने लगते हैं। भगवान् दत्तात्रेय के मन्दस्मित अधरपुट से शब्द स्फोट होता है—परशुराम! जगज्जननी त्रिपुरसुन्दरी के प्रति आत्मसमर्पण ही तो इसका सही निदान है। संशय जहाँ नहीं है, वहीं तो सही समर्पण है। समर्पण का अर्थ शरणागत नहीं होता, कदापि नहीं; ऐसे समर्पण का कोई पक्षधर नहीं होता। समर्पण तो साधक की क्षमता है। अपनी ऊर्जा से तुम ज्ञात-अज्ञात के अनन्त स्रोतों तक पहुँच सकते हो। अपने निजी विवेक की तुला पर भार बनकर तुम स्वयं खड़ा हो सकते हो। यह एक वैज्ञानिक सत्य है। समर्पण तो उस विज्ञान का ही प्रतिनिधि है परशुराम!

पुनः गुरु ने जगदम्बा की अनन्त महिमा का बखान किया। उन्होंने कहा कि परशुराम! परमसिद्धा माता त्रिपुरसुन्दरी साक्षात् महामाया हैं। दयामयी, सर्वन्यायिनी जगदम्बा हैं। वह साधक की सम्पूर्ण साधना को सफल बनाने में समर्थ हैं, फिर उन्होंने उनकी उपासना और साधना का क्रम समझाया। अपने गुरु के मुँह से त्रिपुरसुन्दरी की महिमा सुनकर इनके हृदय में अगाध भक्ति की धारा लहरा उठी। उन्होंने महेन्द्र पर्वत पर जाकर बारह वर्ष तक बड़ी तत्परता और तल्लीनता के साथ देवी त्रिपुरा की आराधना की। उपासना और साधना के बीच उनके हृदय में सृष्टिचक्र और परमार्थतत्त्व के सन्दर्भ में अनेक जिज्ञासाएँ प्रार्दुभूत हुईं। इस क्रम में उन्होंने मुनि संवर्त से भेंट की। उनके सामने इन्होंने अपनी जिज्ञासा प्रकट की। यथासम्भव संवर्त मुनि ने इनके सामने कई समाधान रखें, पर उस समय इनकी समझ में कोई समाधान ठीक से बैठ न सका। फिर इसी विषय में इन्होंने अपने दयालु गुरु दत्तात्रेयजी से प्रश्न किया।

अपने गुरु के मुँह से सभी प्रश्नों का समाधान पाकर सन्देहमुक्त होकर कृतकृत्य हो गये। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि जब तक साधक निष्काम कर्म और उपासना से अपने अन्तःकरण को शुद्ध एवं पवित्र नहीं बना लेता है, तब तक उसे तत्त्वसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त नहीं हो सकती। संवर्त मुनि जैसे तत्त्वज्ञानी तपोनिष्ठ महापुरुष का उपदेश भी कारगर सिद्ध नहीं हो सकता।

त्रिपुरारहस्य तीन खण्डों में विभक्त है--(१) माहात्म्य, (२) चर्चा और (३) ज्ञान। प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानखण्ड है। ज्ञानखण्ड कुल बाईस अध्याय में बँटा है। इसकी कुल श्लोक संख्या २१६३ है। माहात्म्य खण्ड में श्लोकों की संख्या ६६८७ है। बची बात चर्चाखण्ड की तो वह अब ऐतिहासिक चर्चा का विषय है, क्योंकि इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। एक बार चर्चा के क्रम में कामेश्वरसिंह संस्कृत विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त पूर्व कुलपति डॉ० जयमन्त मिश्रजी ने कहा था कि इसकी प्रति आडयार लाइब्रेरी, मद्रास में उपलब्ध है, किन्तु मेरे प्रयास से यह वहाँ भी उपलब्ध नहीं है।

ग्रन्थ की टीका

जहाँ तक ज्ञानखण्ड का प्रश्न है तो इस पर कई तरह की टीकाएँ उपलब्ध हैं। 'तात्पर्यदीपिका' नाम की प्राञ्जल एवं सरल संस्कृत टीका है। इस टीका के रचयिता श्रीनिवास बुध नामक कोई विद्वान् हैं। त्रिपुरारहस्य-ज्ञानखण्ड का पहले मराठी भाषा में अनुवाद किया गया है। इसके बाद लोकमान्य तिलक द्वारा विरचित गीतारहस्य के हिन्दी अनुवादक ख्यातनाम विद्वान् श्रीमाधव राव सप्रे ने इसका हिन्दी अनुवाद किया। इस अनुवाद का नाम 'दत्त-भार्गव-संवाद' रखा गया है। नागपुर-निवासी सेठ नागरमल पोद्दार ने इसका प्रकाशन बीसवीं सदी के पंचम दशक के प्रारम्भ में प्रायः किया है। इसकी प्रति भी अब प्रायः दुष्प्राप्य है, किन्तु ग्रन्थ की लोकप्रियता से प्रभावित होकर दिल्ली-निवासी श्रीनारायणदासजी मुलतानी ने इसका अविकल रूप में त्रिपुरारहस्य नाम से दस साल पहले प्रकाशित किया। इसके बाद काशी संस्कृत ग्रन्थमाला वाराणसी से इसके मूल के साथ हिन्दी टीका का प्रकाशन हुआ। इसके व्याख्याकार स्वामी सनातनदेवजी हैं। ग्रन्थ का नाम त्रिपुरारहस्यम् है।

प्रस्तुत टीका

कहना न होगा कि प्रस्तुत अनुवादकी अपनी एक विशेषता है। हमारी भारतीय भाषाओं में हिन्दी का अपना एक विशिष्ट ढाँचा है। हिन्दी के स्वरूप, इसका व्याकरण, इसकी अभिव्यक्ति की शैली कुछ अलग है। इसकी अपनी परम्परा है। यह एक अलग बात है कि भारतीय संविधान में की गई व्यवस्था के परिणामस्वरूप हिन्दी अर्थात् 'राजभाषा' का विकास भी सरकारी रीति-नीति से

ही हुआ है। विडम्बना तो यह है कि किसी का उससे कोई सरोकार है, ऐसा नहीं लगता। उसके प्रयोग के लिए नियम तो है लेकिन नीयत नहीं है। फिर भी पिछले एक दशक में मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर के कम्युटर-विज्ञान विभाग ने संस्कृत व्याकरण के आधार पर 'जिस्टटेक्नोलॉजी' का विकास कर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं को एक ही कम्प्युटर कुंजीपटल पर स्थापित कर दिया है। भारतीय भाषाओं में आपसी आदान-प्रदान के लिए यह उपलब्धि एक वरदान है।

मशीनी अनुवाद की अनुसारक प्रणाली के इस युग में हिन्दी-अनुवाद कार्य कितना कठिन है, यह अनुमानगम्य है। भाषा सरल, सुबोध और सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने के लिए मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को जैसे के तैसे हिन्दी में 'तत्सम' और 'तद्भव' के नाम पर प्रयुक्त करना मुझे कत्तई रुचिकर नहीं रहा है। ऐसी पोंगापन्थी पण्डिताऊ हिन्दी से बचाव के लिए सर्वत्र मैंने बोलचाल की खड़ी हिन्दी का प्रयोग करने की चेष्टा में मूल तथ्य को स्पष्ट अभिव्यक्ति देने के प्रयास में मुझे यत्र-तत्र बोल-चाल में प्रयुक्त होने वाले उर्दू के प्रचलित शब्दों का सहारा लेना पड़ा। जैसे—सुषुप्ति = गहरी नींद, निःसीम = बेहद, अद्वितीय = बेजोड़, व्यवहार = कामकाज, असंख्य = बेशुमार, आश्रहीन = बेसहारा, निर्बुद्धि = नासमझ इत्यादि। भाषा को सरल, सुबोध और भावगम्य बनाने के मेरे इस प्रयास के लिए सुधी एवं विज्ञजन मुझे अवश्य क्षमा करेंगे, मेरा यह विश्वास है।

उपादेयता

आज की इस भौतिकवादी सभ्यता में तथाकथित बुद्धिवादी मनुष्य अपने सुख और समृद्धि की खोज में शायद अपने-आप को भुला दिया है। आज मनुष्य को क्या हो गया है, पता नहीं चलता। इतनी आत्मविपन्नता, इतनी अर्थहीनता और इतनी घनी ऊब के बीच वह जीने को विवश है। आज जीवन का स्पंदन तो जान पड़ता है, पर किसी व्यक्ति में जीने का भाव नहीं दीख पड़ता है। लगता है हर ओर जीवन तो है, पर लोग उसे बोझ की तरह ढो रहे हैं। कहीं न सौन्दर्य है न सुख, न संतोष है और न शान्ति और जहाँ आनन्द न हो, आलोक न हो वहाँ तो निश्चय ही जीवन नाममात्र का ही होता है। लगता है भौतिक समृद्धि की होड़ में लोग जीना ही भूल गये हैं।

आज आदमी विकृति से विकृति की ओर तेजी से बढ़ रहा है। लगता है जैसे उसके भीतर कोई निश्चित आधार टूट गया है। कोई बहुत अनिवार्य जीवनस्नायु जैसे नष्ट हो गये हो और सारा समाज किसी संस्कृति में नहीं विकृति में जी रहा है। इस विकृति और विघटन के परिणाम व्यक्ति से समष्टि तक

फैल गये हैं। परिवार से लेकर पृथ्वी की समग्र परिधि तक उसकी बेसुरी प्रतिध्वनियाँ सुनाई पड़ रही हैं।

आज का जीवन नागरिक हो गया है और समाज मृत, सड़ा हुआ, दुर्गन्ध देता शरीर हो गया है, क्योंकि लोग चित्त की बहुत-सी विक्षिप्तताओं को पहचानने में बिलकुल असमर्थ हो गये हैं। सत्ता की, संग्रह की, शक्ति की दौड़ में सब पागल हो रहे हैं। आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति सत्ता और पद की खोज में लगा है। आत्मदरिद्रता से ग्रसित व्यक्ति धन, सम्पदा, शक्ति और संग्रह की दौड़ में हाँफ रहा है। कोई कह सकता है कि आज मनुष्य की समृद्धि, क्षमता और शक्ति तो दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है, पर भगवान् बचाये मनुष्य को इस तथाकथित समृद्धि से। यह समृद्धि नहीं विनष्टि का किनारा है। मानवता का पल्ला छूट गया है। मनुष्य पशु से बदतर जीवन जीने को बाध्य है।

अतः यह कहना सम्भव नहीं है कि मनुष्य की समृद्धि बढ़ गई है। वस्तुओं की समृद्धि तो अवश्य बढ़ गई है, पर मानवता की समृद्धि उसी अनुपात में घट गई है। यह सच है कि विज्ञान के आलोक ने मनुष्य की आँखें खोल दी हैं और उसकी नींद तोड़ दी है। उसने ही मनुष्य से बहुत सारे दीर्घपोषित स्वप्न छिन लिये। लगता है आधी रात में इस विज्ञान ने प्रसुप्त लोगों को झक-झोर कर जगा दिया है। इसने मनुष्य का बचपन छीन लिया है और उसे प्रौढ़ता दे दी है। फलतः मनुष्य का मन अन्धविश्वास की कारा से मुक्त होकर विवेक की ओर अग्रसर हुआ है—यह शुभ है।

इस भौतिक विज्ञान ने हमें शक्ति तो दी है, पर हमारी शान्ति कहीं खो गई है। मानवता क्षत-विक्षत हो गई है। अशान्त और अप्रबुद्ध हाथों में आई शक्ति से ही आज यह दुनिया संत्रस्त है। समस्त उपद्रव की जड़ यही है। अशान्त और अप्रबुद्ध का शक्तिहीन होना ही शुभ होता है। शक्ति सदा शुभ नहीं होती, वह तो शुभ हाथों में ही शुभ होती है।

इस युग का मानव केवल शक्ति की खोज में लगा रहा, यही सबसे अधिक भूल हुई है। आज अपनी ही उपलब्धि से मनुष्य को खतरा है। इस तरह की एकाङ्गी अन्धी खोज ने ही मनुष्य को इस खतरे के किनारे लाकर खड़ा कर दिया है। शक्ति नहीं शान्ति की खोज होनी चाहिए। स्वभावतः खोज का लक्ष्य यदि शान्ति होगी तब खोज का केन्द्र प्रकृति नहीं, मनुष्य होगा। जड़पदार्थ की बहुत खोज और शोध हो चुकी है, अब मनुष्य का और उसके मन का अन्वेषण आवश्यक है।

मनुष्य का मनुष्य को ठीक से न जानना ही इस आत्मघाती सम्भावना की जड़ है। पदार्थ की अनन्त शक्ति से आज का मानव परिचित है—परिचित नहीं, उसका विजेता भी है। किन्तु मानवीय हृदय की गहराईयों से सम्पर्क

छूट गया है। आज का मानव पदार्थाणु को तो जानता और पहचानता है, पर आत्माणु से बिलकुल अपरिचित है। यही इस युग की सबसे बड़ी भूल और विडम्बना है। त्रिपुरारहस्य इसी आत्माणु के अनुसंधान की ओर हमें प्रेरित करता है। यह इस ग्रन्थ की सशक्त उपादेयता है।

वर्ण्यवस्तु

ज्ञान कैसे उपलब्ध हो? यह इस ग्रंथ का मूल विचारणीय विषय है। पुरुषार्थी परशुरामजी की मूल जिज्ञासा भी यही है -- मानवीय प्रज्ञा क्या है? गुरु दत्तात्रेय के कथन का सार है -- मानव में जो ज्ञानशक्ति है, वह विषय-मुक्त हो तो प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को जानता है। स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही प्रज्ञा है। इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है और न कोई ज्ञेय, केवल ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है। स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा है। ज्ञान का स्वयं अपने-आप पर लौट आना ही प्रज्ञा है। यही मनुष्य की चेतना की सबसे बड़ी क्रान्ति है। इस क्रान्ति में ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके समक्ष उद्घाटन होता है।

यह क्रान्ति त्रिपुरारहस्य के अनुसार परमतत्त्व केवल शुद्ध चैतन्य है। वह सर्वत्र व्याप्त और हर प्रकार की मर्यादा से रहित है। उसमें बेशुमार ताकत है और वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है। यह शुभशक्ति ही चिति का मूल स्वरूप है। सृष्टि-संरचना से पूर्व अव्यक्त रूप से यह उसी में समाहित रहती है और सर्गकाल उपस्थित होने पर अपनी संकल्पशक्ति से वह शुद्धचिति ही आईने में परछाई की तरह इस दृश्य प्रपंच को अपने-आप में समाहित कर लेती है। यद्यपि स्वरूपात्मक देश और क्रियात्मक काल का आभास भी इस चितिशक्ति में ही निहित है, फिर भी उसका आधार होने के कारण यह किसी भी तरह उससे प्रभावित नहीं होती। दर्पण में झलकने वाली परछाई से दर्पण जैसे निःसंग रहता है, ठीक उसी तरह यह भी रहती है।

सुरासुरवन्दिता देवी त्रिपुरा ही शुद्धचिति है। यह सर्वत्र व्याप्त हैं। इन्हें समझने में लोगों को भूल होती है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर जो एक बोध की शक्ति है, उसमें इसे झाँकना है और उसी के सहारे गति लानी होती है। जैसे-जैसे भीतर गति होती है, वैसे-वैसे बोध के आयाम उद्घाटित होने लगते हैं और व्यक्ति जड़ता और यांत्रिकता से ऊपर उठकर इस आत्मचैतन्य रूपा त्रिपुरा का सामीप्य प्राप्त करता है। जैसे-जैसे वह चैतन्य के प्रगाढ होते स्वरूप से परिचित होता है, वैसे-वैसे उसकी जड़ता समाप्त होने लगती है और उसमें कुछ घना और एकाग्र केन्द्रित होने लगता है। इस प्रक्रिया के परिणाम से वह इस चिति का सामीप्य प्राप्त कर कृतार्थ होता है।

शाक्ततन्त्र में महादेवी त्रिपुरा को ही दुर्गा, ललिता, षोडशी, श्रीविद्या,

कामेश्वरी, भुवनेश्वरी तथा त्रिपुरासुन्दरी के नामों से अभिहित किया गया है। इनकी आकृति बड़ी आकर्षक एवं मनोमुग्धकारिणी है। इनके सिंहासन के चार पाये ब्रह्मा (सृष्टि के संरचयिता), विष्णु (सृष्टि के पालक), शिव (सृष्टि के हर्त्ता) और इन्द्र (नियन्ता) हैं। उस सिंहासन के पदपीठ स्वयं सदाशिव हैं। यद्यपि इनकी गणना दश महाविद्याओं में है, तथापि ये स्वयं एक महाविद्या हैं। शक्तिसंगमतन्त्र के अनुसार—'कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा'। अर्थात् महादेवी ललिता ही कभी 'श्रीकृष्ण' के नाम से पुरुष रूप धारण करती है, किन्तु वैष्णव तन्त्रों के अनुसार देवी ललिता राधारानी की प्रिय सखी है। इतना होते हुए भी असंदिग्ध रूप से यह तो कहा ही जा सकता है कि महाविद्या ललिता देवी और श्रीराधा-कृष्णसहचरी ललिता के स्वरूप, शक्ति और प्रभाव में पूर्ण विषमता है। चिद्रूपिणी होने के कारण तत्त्वतः तो इनका अभेद हो सकता है, किन्तु उपासना होने के कारण लीलाभूमि में इनकी एकरूपता संभव नहीं है।

महादेवी सुरासुरवन्दिता त्रिपुरा का स्वरूप-चिन्तन एक विचारणीय विषय है। अद्वैतसिद्धान्तवादियों का शुद्धचिन्मात्र परब्रह्म और त्रिपुरारहस्य में प्रतिपादित शुद्धचिति यद्यपि आपत दृष्टि से अभिन्न प्रतीत होती है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से दोनों का स्पष्ट अन्तर झलकता है। यद्यपि तत्त्वतः ये दोनों एक ही हैं, फिर भी अनुचिन्तन की दृष्टि से दोनों ही दार्शनिक इसे एकरूप में नहीं देखते। दूसरी बात यह भी है कि उपासना का भेद होने के कारण लीलाभूमि में इनकी एकरूपता सिद्ध नहीं होती है। दोनों ही दार्शनिकों के मत में यह दृश्यप्रपञ्च सर्वथा असत् और माया का विलास मात्र है।

इस एकरूपता के बावजूद ब्रह्मवादी अद्वैत सिद्धान्त और शाक्त दर्शन में एक सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट दीख पड़ता है। अद्वैतवादी सिद्धान्त ब्रह्म को बिलकुल निर्विशेष, निर्विकार, निर्गुण और नित्यकूटस्थ मानते हैं। इस दृश्यप्रपंच को सत् और असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीया माया से अलग, पर उसकी महिमा से मोहान्धकार में पड़ी हुई डोरी में साँप की प्रतीति की तरह एक अनुभूति मात्र मानते हैं। इनकी दृष्टि में संसार कभी उत्पन्न नहीं हुआ, अतः यह सारा प्रपंच उसका विवर्त्तमात्र है। किन्तु त्रिपुरारहस्य उस परमार्थ-तत्त्व में बेशुमार और बेनियाज ताकत स्वीकार करता है। उसके मतानुसार शुद्धचिति अपने पूर्ण स्वातन्त्र्य के कारण अपने अमोघ संकल्प द्वारा भित्ति रूप अपने ही ऊपर इस जगत्-चित्र को आभासित कर देती है। आईने में जैसे सामने के पदार्थों की परछाई पड़ती है, उसी तरह शुद्धचिति में उसके संकल्पवश संसार का चित्र प्रतिभासित हो उठता है। यह उस परम तत्त्व का सहज सामर्थ्य है। अतः यह शाक्तदर्शन यद्यपि शाङ्कर-सिद्धान्त की भाँति अद्वैतवादी ही है; तथापि इसके द्वारा स्थापित अद्वैत तत्त्व अकर्त्ता, अभोक्ता,

निर्गुण और निर्विशेष नहीं है। यह शक्तिसम्पन्न और विमर्श रूप है। विमर्श उसकी क्रियाशक्ति का नाम है। यह क्रियाशक्ति तो उसमें हमेशा मौजूद ही रहती है। सृष्टि-संरचना के समय वह पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती है, अतः उस समय इसे 'ब्रह्माभास' कहते हैं। प्रलय काल में वह लीन रहती है, अतः उन्हें 'अनहंभाव' कहा जाता है। यद्यपि यह अनहंभाव वेदान्त में प्रतिपादित मूल अविद्या की तरह ही है, फिर भी मूला अविद्या ब्रह्म में अभ्यस्त और जड़रूपा है तथा यह अनहंभाव उस शुद्धचिति की इच्छाशक्ति मात्र है। अतः वह उससे बिलकुल अभिन्न है।

प्राचीन भारत में मुमुक्ष सम्प्रदाय में सांख्य एवं योग ये दो सम्प्रदाय प्रचलित थे। सगुण आत्मज्ञान के आविर्भूत होने पर उसके साथ योग भी अवश्य आविष्कृत हुआ था। श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन या समाधि के बिना किसी प्रकार का आत्मज्ञान साध्य नहीं है। निर्गुण तत्त्व का आविष्कार होने से योग का भी उसके अनुरूप संस्कार हुआ था। परमर्षि कपिल से जिस प्रकार निर्गुण आत्मा का ज्ञान प्रवर्तित हुआ, उसी प्रकार निर्गुण पुरुष को प्राप्त करनेवाला योग भी प्रवर्तित हुआ। यह सांख्य एवं योग पेट और पीठ की तरह अन्योन्याश्रित है। ज़ो तत्त्व केवल निदिध्यासन और वैराग्य का अभ्यास कर आत्मसाक्षात्कार कराने की विधि का प्रतिपादन करता था, उसे सांख्यदर्शन कहा जाता था और जो तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान जैसे क्रियायोग की विधि का निष्पादन करता था, वह योग कहलाता था। वस्तुतः सांख्य मोक्षधर्म का तत्त्वकाण्ड है तथा योग साधनकाण्ड है।

वेदान्त-दर्शन ने केवल पुरुष और ईश्वर के सम्बन्ध में अपना भिन्न मत प्रकट किया है। इनके अनुसार पुरुष एवं ईश्वर वस्तुतः एक ही पदार्थ है; पुरुष अनेक नहीं है। हिरण्यगर्भादि के रूप में ईश्वर सृष्टि करते हैं। प्रकृति को ईश्वर की माया या इच्छा कहते हैं। यह अनिर्वचनीय भाव से ईश्वर में रहती हैं। अनिर्वचनीय अविद्या के द्वारा अनादिकाल से ईश्वर ने ही अपने को जीवरूप में प्रकटित किया है। सांख्यदर्शन से वेदान्तदर्शन यहीं आकर भिन्न प्रतीत होता है।

अन्य दार्शनिकों ने प्रायः उपर्युक्त सभी मत ग्रहण किये हैं, पर कुछ तार्किक अपने सोलह या छः पदार्थों के अन्तर्गत ही इन्हें मानना चाहते हैं। वे निर्गुण पुरुष का तत्त्व उतना ही समझते हैं, वे आत्मा को सगुण मानते हैं। तर्कदर्शन भी सांख्य के समान पूर्णतः युक्तिवादी है। बौद्ध, वेदान्तिक आदि मूलतः इस दृष्टि से अन्धविश्वासवादी ही प्रतीत होते हैं।

इस तरह इन तथ्यों पर विचार करने पर साफ तौर पर जाहिर होता है कि अद्वैतवेदान्त जहाँ विवर्त्तवादी है, वहाँ शाक्तदर्शन आभासवादी है। दोनों ही सिद्धान्त के अनुसार सांसारिक व्यवहारों का विस्तार केवल अनुभूतिपरक

धोखा है। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार यह प्रतीति भ्रममूलक है और शाक्तमत के अनुसार यह प्रतीति उस परमचिति की सामर्थ्य से होती है। अद्वैत सिद्धान्त में इसका कारण अनादि और अनिर्वचनीया माया है। किन्तु शाक्त सिद्धान्त में इसका कारण उस परमचिति की बेनियाज ताकत से उत्पन्न संकल्प है। किन्तु दोनों सिद्धान्त के अनुसार दृश्यपदार्थ की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे किसी रस्सी में भूल से दीखनेवाला साँप उस रस्सी से अलग कुछ नहीं होता; उसी तरह आईने में उसकी स्वच्छता के कारण दीखनेवाली परछाई भी आईने से कुछ अलग नहीं होती। अतः दोनों ही सिद्धान्तों के अनुसार एक अखण्ड, अद्वैत, चिन्मात्र सत्ता ही परमार्थ है और वही दोनों का लक्ष्य भी है।

यद्यपि इन दोनों दर्शनों का लक्ष्य एक होने के बावजूद उनके लक्षणों में भेद है; उसी तरह उसकी उपलब्धि के साधनों में भी अन्तर है। शाक्त सिद्धान्त के अनुसार परमचिति ही सर्वव्यापिनी, शाश्वतिक और स्वयंसिद्ध आत्मिक चेतना है। लोकोत्तर बोध और क्रियात्मक स्वातन्त्र्य का समरस भाव ही इसका स्वरूप है। एक साथ सब कुछ होने के कारण उस स्वरूप में किसी भी स्तर पर कोई रूपविपर्यय नहीं, पर रूपविस्तार अवश्य है। स्वरूपतः वह न कम है और न कुछ अधिक। उसके अतिरिक्त कोई भी सत्ता या महासत्ता न तो उससे अधिक है और न उससे भिन्न है। यह समस्त ऐन्द्रिय बोध से ग्राह्य, व्यक्त नामरूपात्मक या अव्यक्त कल्पनात्मक, विश्वमय रूपविस्तार वह परमचिति ही है। उसे ढूंढने के लिए न तो हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर जाने की आवश्यकता है और न तो अपार पारावार की गहराईयों में गोते लगाना है। वह तो ढूंढनेवाले के अन्तरतम में छिपी हुई निजी हार्दिक स्फूर्त्ति मात्र है।

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव अपने को जानने का संघर्ष करता आया है। आज भी इसी उधेड़बुन में विवश है। इसी उधेड़बुन में वह साधु, सिद्ध, वैरागी, दार्शनिक सब कुछ बनने का स्वांग भरता रहा है; किन्तु समस्या जहाँ की तहाँ ही स्थिर रही।

"अद्यापि यन्न विदितं सिद्धानां बोधशालिनाम्" (प० वि० पृ० ४८)

खोई हुई वस्तु ढूंढने पर मिल सकती है, पर जो वस्तु अपने भीतर-बाहर हर जगह मौजूद हो, जो वस्तु कभी खोई ही नहीं उसे खोजने से क्या लाभ ? कण-कण में सदैव स्पन्दित वह चित्शक्ति ही तो है। हृदय की गति की तरह अविराम रूप से चलती रहनेवाली विश्वात्मिका हलचल ही उसका शरीर है—

"आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः" ॥ (शि० हृ० १।२)

यह परमेश्वरी क्रियाशक्ति सर्वस्वतन्त्र हैं। फलतः शाश्वतिक क्रियाशीलता ही महाशक्ति चिति है।

अद्वैतवाद एकमात्र विचार को ही उसकी उपलब्धि का साधन मानता है, क्योंकि उसके अनुसार वह साधक का अपना नित्य सिद्धस्वरूप है। वह तो उसे नित्य प्राप्त है, केवल अविद्या के कारण ही उसे नहीं पाने का भ्रम है। अतः विचार से अविचार या अविद्या की निवृत्ति होने पर उसे स्वयं ही उसकी अनुवृत्ति हो जाती है। इसके लिए उसे गुरुमुख से उच्च ग्रन्थ का अर्थ सुनने की आवश्यकता होती है। क्योंकि जो वस्तु प्रत्यक्ष रहने पर भी अज्ञान के कारण अनजान बनी रहती है, उसकी जानकारी किसी आप्त पुरुष के कथन के सिवा और किसी प्रकार से नहीं हो सकती। अतः जिन शुद्धचित्त जिज्ञासुओं के हृदय में मल-विक्षेप रूप कोई दोष नहीं होता, उन्हें तो गुरु का उपदेश सुनने से ही उस तत्त्व का अप्रतिबद्ध बोध हो जाता है, किन्तु जिसके चित्त में अशुद्धि के कारण संशयविपर्यय रूप प्रतिबन्ध रहता है, उन्हें उसकी निवृत्ति के लिए मनन एवं निदिध्यासन भी करने पड़ते हैं। मनन से संशय और निदिध्यासन से विपर्यय की निवृत्ति होती है। फिर अखण्डाकार वृत्ति होकर उन्हें प्रतिबन्ध-शून्य ज्ञान मिलता है। इस विचार के अनुसार अद्वैतवेदान्तियों के मत से श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीनों ही साधन माने गये हैं।

शाक्तदर्शन के अनुसार विचार उसका प्रधान साधन नहीं है, बल्कि विचार का अभाव होने पर ही उसका बोध होता है—

"गत्वा दूरं न तत् प्राप्यं स्थित्वाप्राप्तं हि सर्वदा।
न तद्विचार्य विज्ञेयमविचाराद्विभासते"॥ (त्रि० र० ९।८२)

विचारों से जो जितना घिरा होता है, वह विचार करने में उतना ही अशक्त और असमर्थ हो जाता है। विचारों की भीड़ चित्त को अन्ततः विक्षिप्त कर देती है। विक्षिप्तता विचारों की अराजक भीड़ ही तो है। अतः विचार-शक्ति के जागरण के लिए विचारों का भार कम-से-कम होना आवश्यक है। विचार बोझ नहीं होना चाहिए। पराये विचारों से मुक्त होते ही विचारशक्ति जागने लगती है। विचारों से मुक्त होते ही स्वयं की अन्तःसत्ता से कोई नई शक्ति जग जाती है। किसी अभिनव और अपरिमित ऊर्जा का आविर्भाव स्वतः होता है। चक्षुहीन को जैसे अनायास चक्षु मिल जाते हैं। अपने भीतर विचार-शक्ति का उद्भव होता है, जीवन में आँखें मिल जाती हैं। फिर जहाँ आलोक है, वहाँ आनन्द है और जहाँ आँखें हैं वहाँ मार्ग निष्कंटक है। पराचिति की उस पर परम कृपा स्वतः होती है। आत्मदर्शन करामलक बन जाता है।

शाक्त सिद्धान्त के अनुसार गुरु के उपदेश या शास्त्रीय ज्ञान से केवल आँख से जो वस्तु ओझल है, उसका ज्ञान संभव है। इससे मुक्ति नहीं मिल सकती है। प्रत्यक्ष ज्ञान तो समाधि साधने से ही मिलता है। इसका एक विशेष कारण है। योगदर्शन के अनुसार एकतानभाव से मन में एक ही ज्ञान को उदित रखकर अन्य ज्ञानों का निरोध आत्मदर्शन का साधन है। किन्तु शाक्त

सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि चिति नित्यसिद्धा और सबकी स्वरूपभूता ही है, फिर भी उसका तिरोधान होता है। अज्ञान या अविचार के कारण नहीं, बल्कि उसकी विमर्शशक्ति से प्रतिभासित दृश्यवर्ग से ही माना गया है। परछाई की पैठ रहते हुए जैसे आईने की चमक साफ-साफ नहीं दीखती उसी तरह यह हृदय जब तक देखनेवाली वस्तु और उसे देखने की पैठ बनी रहेगी तब तक उसे उसकी आधारभूता चिति का परिचय नहीं होता। इसके लिए सर्वप्रथम निष्काम कर्म और उपासना से सूक्ष्म मन एवं चित्त को शुद्ध करना पड़ता है। ऐसे ही पवित्र मन में उस परमतत्त्व का स्फुरण होता है। फिर सांसारिक व्यवहार में भी उसकी अनुभूति हो ही जाती है।

शाक्तमतानुसार ज्ञान की एक शक्ति है, लेकिन वह ज्ञेय से—विषयों से ढकी है। एक विषय हटता है तो दूसरा आ जाता है। एक विचार जाता है तो दूसरे का आगमन हो जाता है। ज्ञान एक विषय से मुक्त होता है तो दूसरे से बँध जाता है, लेकिन यह रिक्त कभी नहीं हो पाता है। ज्ञान यदि विषय-रिक्त हो तो उस अन्तराल में, उस रिक्तता में, उस शून्यता में ज्ञान स्वयं में ही होने के कारण स्वयं की सत्ता का उद्घाटक बन जाता है। ज्ञान जहाँ विषय-रिक्त है, वहीं वह स्वप्रतिष्ठ है। ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वहीं वह शुद्ध है और वह शुद्धता-शून्यता ही आत्मज्ञान है। चेतना जहाँ निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है; वही स्वयं का साक्षात्कार है; उस परमचिति का स्वरूपदर्शन है।

इस आत्मस्वरूप परमचिति को कहीं खोजा भी नहीं जा सकता, क्योंकि वह खोजनेवाले का ही स्वरूप है। इस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। इसलिए इस परमचिति को केवल वे ही खोज पाते हैं, जो सब खोज छोड़ देते हैं और इसे वे ही जान पाते हैं जो सब जानने से शून्य हो जाते हैं।

त्रिपुरारहस्य में इसका उल्लेख मिलता है कि सोने-जगने के बीच की अवस्था दो पदार्थ या दो वृत्तियों के बीच की सन्धियाँ—इनमें किसी भी अवस्था, पदार्थ या वृत्ति की स्थिति न रहने के कारण चित्त निर्विषय बना रहता है। यह निर्विषय चित्त ही वास्तव में शुद्धचिति का स्वरूप है—

'अथान्यथापि वक्ष्यामि समाधेः सम्भवं शृणु।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां मध्ये सन्ति समाधयः' ॥ (त्रि० र० १७।१२)
'देहे देहावभासमयं भावे भावात्मकं तथा।
मध्ये तन्निर्विकल्पाख्यं मनो लक्षय सर्वथा' ॥ (त्रि० र० १७।१४)
'व्यवहारे न कस्यापि ज्ञानमेकं तु भासते'। (त्रि० र० १७।१५)

यह शुद्धचिति ही परमपद है, यही सर्वेश्वर है, दुनियाभर के सभी व्यवहारों का यही सहारा है। दुनिया की हर चीज के रूप में यही दीख रही

है, किन्तु स्वरूप से उनमें किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। इस तरह निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर ही उस परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। किन्तु साक्षात्कार हो जाने के बाद तत्त्ववेत्ता के लिए यह कोई आवश्यक नहीं कि वह सदैव उसी स्थिति में रहे। उसका स्वरूप तो नित्यसिद्ध है ही। किसी भी अवस्था-विशेष में उसे सीमित नहीं किया जा सकता है। हर अवस्था में वह उसी में प्रतिभासित रहती है। वह जिस किसी स्थिति में होगा, स्वरूपस्थ रहेगा ही। जिस प्रकार दीपक सब ओर विषयों को प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं कभी किसी अन्य दीपक का प्रकाश्य नहीं होता। वह किसी अन्य प्रकाशक की अपेक्षा न रखकर स्वयं प्रकाशित होता है—

'यथा हि दीपो विषयान्प्रकाशयति सर्वतः।
स्वयं प्रकाश्यतां नैति क्वचिद् दीपस्य कस्यचित्॥
प्रकाशते स्वयं चैवानपेक्षान्यं प्रकाशकम्'॥

(त्रि० र० १५।८५½)

अतः सर्वोत्कृष्टा चित्शक्ति सबकी आधारभूता त्रिपुरा देवी हैं। यही सबको प्रकाशित करने वाली हैं। अतः यह कब और कहाँ प्रकाशित नहीं होती?

'चिच्छक्तिरेषा परमा त्रिपुरा सर्वसंश्रया।
सर्वावभाषिणी कुत्र कदा वा न प्रकाश्यते'॥ (त्रि० र० १५।९०)

विचार चिन्तन है और दर्शन चिकित्सा। प्रश्न पराचिति का नहीं, उन्हें ठीक से परखने का है। यही तत्त्वचिन्तन, दार्शनिक सिद्धान्त, सम्प्रदाय या योग विभिन्न दिशाओं के यात्री हो जाते हैं। साधनों में भेद रहने के बावजूद विभिन्न मार्गों का अनुसरण करनेवाले साधकों की चरम परिणति तो एक ही है। सभी साधन श्रुतिसम्मत हैं और इन मार्गों पर चलकर एक ही शुद्धचेतन की अनुभूति होती है। भारतीय मनीषियों ने परमतत्त्व की उपलब्धि के लिए जिन साधनों की उद्भावना की है, उनसे अन्त में एक ही परमतत्त्व की उपलब्धि होती है। इन साधनों के सहारे शरीर की मिट्टी के घेरे से ऊपर उठती हुई जीवनज्योति अनुभव में आती है। यहीं से चक्रीय गति से चले सांसारिक मार्ग छूटने लगते हैं और ऊर्ध्वगमन होने लगता है। उसके पूर्व जो प्रकृति प्रतीत होती थी, वही परमात्मा में परिणत हो जाती है।

प्रभु का द्वार सबके लिए सदैव खुला रहता है। आवश्यकता वहाँ तक पहुँचने की है। ये विभिन्न साधन या सिद्धान्त अन्ततः उसी लक्ष्य तक पहुँचते हैं। जैसे विभिन्न दिशाओं से चलकर नदियाँ सागर तक पहुँचती हैं। साधकों की अपनी-अपनी भावना और साधना के अनुसार उस एक ही परमतत्त्व की अनेक रूपों में उपलब्धि होती है। साधकों की भावना और रुचि-भिन्नता के कारण ही सम्प्रदाय-भेद की संसृष्टि हुई है, जो कुछ हद तक उचित भी है।

क्योंकि सभी सम्प्रदायों का गन्तव्य एक ही है। कुछ साधक भूल से प्रस्थान-बिन्दु को ही गन्तव्य मानकर रुक जाते हैं। यहीं से भ्रम उत्पन्न होता है, यही विडम्बना है।

चिन्तन जहाँ पूर्वधारणाओं और पूर्वपक्षपातों से प्रारम्भ होता है, वहाँ अन्ततः सत्य नहीं, सम्प्रदाय ही हाथ में रह जाते हैं। अज्ञान और पूर्वधारणा-ग्रस्त में स्वीकृत कोई भी विचार सार्वलौकिक नहीं हो सकता। सार्वलौकिक तो केवल सत्य ही हो सकता है। यही कारण है कि जहाँ विज्ञान एक है, वहाँ तथाकथित धर्म और सम्प्रदाय अनेक तथा परस्पर विरोधी हैं। धर्म भी जिस दिन विश्वास की कारा से मुक्त होकर विवेक पर आधारित होगा, उस दिन अपरिहार्य रूप से एक हो जायेगा। अन्धविश्वास अनेक हो सकते हैं, पर विवेक एक ही है। असत्य अनेक हो सकते हैं, पर सत्य एक ही है।

विज्ञान में प्रयोगजन्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी मानने की तैयारी नहीं है। वह न तो आस्तिक है और न नास्तिक। उसकी कोई पूर्वमान्यता नहीं है। वह कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहता। सिद्ध करने के लिए उसकी अपनी धारणा नहीं है। वह तो जो सत्य है, उसे ही जानना चाहता है। यही कारण है कि विज्ञान के पंथ और सम्प्रदाय नहीं बने और उसकी निष्पत्तियाँ सार्व-लौकिक हो सकीं। विज्ञान पदार्थों का विज्ञान है, धर्म चेतना का विज्ञान है। वस्तुतः सम्यक् धर्म तो सदा से ही विज्ञान रहा है। सत्त्व या परम चैतन्य तो भिन्न-भिन्न हो ही नहीं सकते। लेकिन ऐसा वैज्ञानिक धर्म कुछ अतिमानवीय चेतनाओं तक ही सीमित रहा है। विज्ञान की आग में अन्धविश्वास का कचड़ा जिस दिन जल जायेगा उसी दिन सत्य और अपने वास्तविक रूप में प्रकट होगा। धर्मरूपी सोना आज विज्ञानरूपी आग में जलकर शुद्ध हो रहा है। धर्म जब अपनी पूरी शुद्धि में प्रकट होगा तब मनुष्य की चेतना-जगत् में एक अभिनव सूर्य का उदय होगा। मनुष्य अपने-आप का अतिक्रमण कर ईश्वर बन जायेगा। त्रिपुरारहस्य इस अतिमानवीय चेतना को प्रबुद्ध करने की प्रक्रिया का विश्लेषण है।

इसकी व्याख्या समाप्त कर मुझे लगता है या ऐसा अनुभव होता है कि मानव चेतना में जो ज्ञान की एक शक्ति है, उसका संधान ही त्रिपुरारहस्य का मूल रहस्य है। सर्वत्र इसका चित्रण लाक्षणिक है। आज धर्मशून्य विज्ञान ने हमें शक्ति दी है, किन्तु हमारी शान्ति कहीं खो गई है। विवेकशून्य धर्म ने हमें शान्ति तो दी है किन्तु हमारा शौर्य कहीं गुम हो गया है। इसी शान्ति और शौर्य के संगम पर धर्म और विज्ञान की मिलन-भूमि पर साधनात्मक ऊर्जा के रूप में देवी त्रिपुरा का लाक्षणिक चित्रण है। देखनेवाले इसे मेरी तरह न देखें, यह तो सम्भव है, परन्तु यह अधिकार तो उन्हें है ही कि आप जो देखें वही लोगों से कहें।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन मनीषियों के ग्रन्थों की सहायता ली गई है, मैं हृदय से उनका आभार स्वीकार करता हूँ। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज तथा श्रीमत् स्वामी हरिहरानन्दजी महाराज एवं प० नानकचन्द शर्मा जैसे विद्वानों का मैं विशेषरूप से आभार प्रकट करता हूँ। बीहट संस्कृत विद्यालय के प्रधानाचार्य प० श्रीशुकदेव पाठकजी का सहयोग भी सराहनीय रहा है। अंग्रेजी प्रतिष्ठा की छात्रा अपनी पौत्री शुभांसुबाला को मैं हृदय से आशीर्वाद देता हूँ, जिसने परिशिष्ट एवं सूची बनाने का भार अपने हाथों में लिया है।

और अन्त में चौखम्बा सुरभारती के प्रकाशक-बन्धुओं को धन्यवाद देना कभी चूक ही नहीं सकता। क्योंकि इन्होंने प्रकाशन के अन्य कार्यातिभार के रहते इस दुर्लभ ग्रन्थ के प्रकाशन के प्रति अपनी कृतसंकल्पता व्यक्त की है।

सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्यावगतं स्फुटम्।
मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धाः सा भवेत् त्रिपुरैव ह्रीम्॥

× × ×

शाके रसेन्दुनिधिचन्द्रे धिषणे कुह्वि बाहुले।
समाप्तिरगमद्व्याख्या विमलेयं मयेरिता॥

—डॉ० जगदीशचन्द्र

श्रीसरस्वती सदन,
प्रोफेसर्स कालोनी
पो० रिफाइनरी टाऊनशिप,
बेगूसराय ८५१११७

अध्यायगत विषयानुक्रम

॥ श्रीः ॥

त्रिपुरारहस्यम्

'विमला'-हिन्दीव्याख्योपेतम्

(ज्ञानखण्डम्)

प्रथमोऽध्यायः

ॐ नमः कारणानन्दरूपिणी परचिन्मयी ।
विराजते जगच्चित्रचित्रदर्पणरूपिणी ॥ १ ॥
श्रुतं कच्चिन्नारदैतत् सावधानेन चेतसा ।
माहात्म्यं त्रिपुराख्याया यच्छ्रुतिः परसाधनम् ॥ २ ॥

---

* विमला *

सर्वाधारान्निराधारान्निराकाराम्परात्पराम् ।
भूमानन्दां चिदानन्दां कारणानन्दरूपिणीम् ॥ १ ॥
स्वप्रकाशैकरूपां ताम्परमाम्परचिन्मयीम् ।
त्रिलोचन-वल्लभां वन्दे विघ्नव्यूहविघातिनीम् ॥ २ ॥
त्रिगुणात्मिकां त्रयातीतामवस्थात्रयसाक्षिणीम् ।
त्रिपुरां तामहं वन्दे सत्त्वरूपां सरस्वतीम् ॥ ३ ॥
त्र्यय्यन्तवेद्यं 'त्रिपुरारहस्यं' तत्त्वार्थगूढं तपसाऽपि दुर्लभम् ।
तदर्थबोद्धुं शिव-शक्तिरूपां सरस्वतीं प्राङ्मनसा च संस्तुवे ॥ ४ ॥
क्वास्य ग्रन्थस्य गाम्भीर्यं क्वायं वा वालिशो जनः ।
दोर्भ्यां तर्तुमिच्छामि दुस्तरं तन्त्रसागरम् ॥ ५ ॥
दुस्तरे च दुराराध्ये कार्येऽस्मिन्तन्त्रचिन्तने ।
आप्लवन्तं निरालम्बं स्वालम्बं भव मे शुभे ॥ ६ ॥
सर्वान्तर्यामिनि श्लाघ्ये सर्वशक्तिसमन्विते ।
त्रिपुरारहस्यव्याख्यातुं सामर्थ्यं देहि मे शिवे ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-संचालन के जो कारण हैं, परमात्मा में लीन होने का जो आत्यन्तिक सुख है—वही सुख है स्वरूप जिनका; सभी प्राणियों की चेतना में जो प्रतिभासित हैं; संसार की प्रतिछवि को प्रतिबिम्बित करनेवाले दर्पण की तरह हर जगह जो मौजूद हैं—ऐसी त्रिपुरादेवी को सर्वप्रथम मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥

अथ ते कथयाम्यद्य ज्ञानखण्डं महाद्भुतम् ।
यच्छ्रुत्वा न पुनः क्वापि मनुष्यः शोकमृच्छति ॥ ३ ॥
वैदिकं वैष्णवं शैवं शाक्तं पाशुपतं तथा ।
विज्ञानं सम्यगालोच्य यदेतत्प्रविनिश्चितम् ॥ ४ ॥
नैतद्विज्ञानसदृशमन्यन्मानसमारुहेत् ।
यथा श्रीदत्तगुरुणा भार्गवाय निरूपितम् ॥ ५ ॥
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां समेतं बहु चित्रितम् ।
अत्रोक्तेनापि नो वेद यदि कश्चिद्विमूढधीः ॥ ६ ॥
स केवलं दैवहतः स्थाणुरेव न संशयः ।
न तस्य स्यादपि ज्ञानं साक्षाच्छिवनिरूपितम् ॥ ७ ॥
तत्ते श्रृणु समाख्यास्ये ज्ञानखण्डात्मना स्थितम् ।
अहो सतामद्भुतं हि वृत्तं सर्वगुणोत्तरम् ॥ ८ ॥

नारदजी ! क्या आपने कभी सावधान होकर देवी त्रिपुरा की महिमा सुनी है ? इनकी महिमा का सुनना ही परममुक्ति का साधन है ॥ २ ॥

विमर्श — इस खण्ड से पूर्व 'माहात्म्य' खण्ड है। माहात्म्य खण्ड में देवी त्रिपुरसुन्दरी की महिमा का वर्णन है। उस महिमा को सुनने से मनुष्य के हृदय में उन्हें जानने की जिज्ञासा जगती है। यह जिज्ञासा उसे ज्ञान-प्राप्ति का अधिकार देती है। ऐसे अधिकारी 'मुमुक्षु' व्यक्ति के लिए ही इस ज्ञानखण्ड की उपयोगिता है। इसीलिए यहाँ यह ज्ञानखण्ड प्रारम्भ किया जाता है। यह कथा मुनि श्रीहारिलायन ने नारदजी को सुनायी है।

अब मैं तुम्हें अतिविस्मयजनक यह 'ज्ञानखण्ड' सुनाता हूँ। इसे सुनकर मनुष्य फिर कभी 'जन्म-मरण' के दुःख से दुःखी नहीं होता है ॥ ३ ॥

वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, पाशुपत और चौदहों विद्याओं के दार्शनिक तथ्यों का सम्यक् विवेचन करने के बाद इस सिद्धान्त का निष्पादन किया गया है ॥ ४ ॥

मन को जँचनेवाला ऐसा कोई दूसरा विवेचन नहीं है। भृगुपुत्र परशुराम को समझाने के क्रम में सद्गुरु दत्तात्रेय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है ॥ ५ ॥

युक्तिपूर्ण प्रतिपादन एवं प्रत्यक्ष बोध के बावजूद यदि कोई मन्दमति इसे न समझ पाये ॥ ६ ॥

तो फिर ऐसी वस्तु जिसका सरल ढंग से चित्र खींचकर सामने रख दिया गया हो वह भी समझ से परे हो जाय तो उसे निःसन्देह भाग्यहीन और कोरा ठूँठ ही समझना चाहिए। क्योंकि ऐसे मन्दमति को साक्षात् शिव भी परमार्थ का ज्ञान नहीं दे सकते ॥ ७ ॥

अच्छा तो सुनो, अब मैं तुम्हें इस ज्ञानखण्ड के रूप में वर्णित उस ज्ञान का बोध कराता हूँ। अहो, सज्जनों का चरित्र बड़ा ही अनोखा और सबसे बढ़कर होता है।

यन्मत्तोऽप्येष देवर्षिः शुश्रूषत्यपि किञ्चन ।
अनुग्राहकता चैषा सतां सहजसम्भवा ॥ ९ ॥
यथा घ्राणोल्लासकता मृगनाभेः स्वतः स्थिता ।
एवं दत्तात्रेयमुखाच्छ्रुत्वा माहात्म्यवैभवम् ॥ १० ॥
रामः सर्वजनारामो जामदग्न्यः शुभाशयः ।
भक्त्यापहृतसच्चित्तस्तूष्णीं किञ्चिद् बभूव ह ॥ ११ ॥
अथासाद्य बहिर्वृत्तिं भरितानन्दलोचनः ।
रोमाञ्चपीवरवपुः स्वान्तरानन्दनिर्भरः ॥ १२ ॥
हर्षोऽमायन् रोमकूपविभेदान्निर्गमन्निव ।
प्रणनाम दत्तगुरुं दण्डवच्चरणान्तिके ॥ १३ ॥
उत्थाय हर्षभरितः प्राह गद्गदसुस्वरः ।
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं श्रीगुरो त्वत्प्रसादतः ॥ १४ ॥
यस्य मे करुणासिन्धुस्तुष्टः साक्षाद्गुरुः शिवः ।
यस्मिंस्तुष्टे ब्रह्मपदमपि स्यात् तृणसम्मितम् ॥ १५ ॥
मृत्युरप्यात्मतां याति यस्मात्तुष्टाद् गुरोर्ननु ।
ममाकाण्डादेव गुरुः सोऽद्य तुष्टो महेश्वरः ॥ १६ ॥

तभी तो मेरे जैसे सामान्यजन को भी देवर्षि स्वयं थोड़ी-बहुत यह ज्ञान-कथा सुनाना चाहते हैं। ऐसी कृपा सज्जनों का सहज स्वभाव ही तो होता है; ठीक उसी तरह जैसे कस्तूरी में सुगन्ध फैलाने की शक्ति अपने आप होती है। इस तरह दत्तात्रेय के मुख से त्रिपुरा की महिमा का वैभव सुनकर ॥ ८–१० ॥

सबके लिए आनन्दप्रद, सबके शरणस्थल जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने उस पराशक्ति की भक्ति में खिंचे हृदय कुछ क्षण के लिए मौन साध लिये ॥ ११ ॥

फिर बाहरी अवस्था में लौट आने पर उनकी आँखों से आँसू छलकने लगे, देह रोमांचित हो गयी तथा हृदय आनन्द के सागर में गोते लगाने लगा ॥ १२ ॥

हर्षजन्य रोमाञ्च के बहाने उनका आन्तरिक प्रेम मानो बाहर छलक पड़ा हो। उन्होंने अपने गुरु दत्तात्रेयजी के चरणों में डंडे की तरह धरती पर गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ १३ ॥

फिर उठकर प्रेमातिरेक के कारण भरे गले से उन्होंने कहा—हे गुरुदेव ! आपकी दया से आज मैं निहाल हो गया, भाग्यशाली बन गया ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षतः भगवान् शिव के स्वरूप मेरे परमदयालु गुरु मुझ पर परम प्रसन्न हुए है, अतः उनकी प्रसन्नता के सामने मुझे मुक्ति भी तिनके की तरह तुच्छ प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

जिस परम गुरु की कृपा से मौत भी मीत बन जाती है, आज साक्षात् शिवस्वरूप परम दयालु गुरु अकारण मुझ पर प्रसन्न हुए हैं ॥ १६ ॥

मन्ये सर्वं मया प्राप्तमित्येव कृपया गुरोः ।
नाथ माहात्म्यमखिलं श्रुतं त्वत्कृपयाधुना ॥ १७ ॥
तामुपासितुमिच्छामि त्रिपुरां परमेश्वरीम् ।
तदुपास्तिक्रमं ब्रूहि मह्यं सुकृपया गुरो ॥ १८ ॥
इति सम्प्रार्थितो दत्तगुरुरालक्ष्य भार्गवे ।
योग्यतां त्रिपुरोपास्तौ सच्छ्रद्धाभक्तिबृंहिताम् ॥ १९ ॥
क्रमेण दीक्षयामास त्रिपुरोपास्तिहेतवे ।
जामदग्न्योऽपि सम्प्राप्य त्रैपुरं दीक्षणं शुभे ॥ २० ॥
सर्वदीक्षासमधिकं पूर्णतत्त्वप्रबोधनम् ।
मन्त्रयन्त्रवासनाभिरन्वितमखिलं क्रमम् ॥ २१ ॥
प्राप्य श्रीगुरुवक्त्राब्जाद्रसं मधुकरो यथा ।
तृप्तान्तरङ्ग आनन्दमादितो भार्गवस्तदा ॥ २२ ॥
श्रीनाथेनाभ्यनुज्ञातस्त्रिपुरासाधनोद्यतः ।
परिक्रम्य गुरुं नत्वा महेन्द्राद्रिमुपाययौ ॥ २३ ॥
तत्र निर्माय वसतिं शुभामतिसुखावहाम् ।
अभूदुपासनपरो वर्षद्वादशकं तदा ॥ २४ ॥

हे नाथ ! कृपापूर्वक आपने मुझे त्रिपुरा देवी की सारी महिमा सुना दी । मैं मानता हूँ आपकी दया से आज मुझे सब कुछ मिल गया ।। १७ ॥

हे गुरुदेव ! मैं भगवती त्रिपुरा की आराधना करना चाहता हूँ । अतः उनकी उपासना कैसे करूँ ? कृपया उसका ढंग भी बतला दें ॥ १८ ॥

परशुरामजी की ऐसी प्रार्थना सुनकर दयालु गुरु दत्तात्रेय ने समझ लिया कि त्रिपुरा देवी के प्रति इनकी श्रद्धा और भक्ति हार्दिक है । अतः अब ये उनकी उपासना के अधिकारी हैं । फिर उन्होंने इन्हें क्रमशः त्रिपुरोपासना की दीक्षा दी ॥ १९३ ॥

फिर शुभमुहूर्त्त में सर्वश्रेष्ठ एवं परमतत्त्व का बोध करानेवाली दीक्षा परशुराम ने ग्रहण की । भौंरा जैसे पद्मपराग पीकर मस्त हो जाता है, उसी तरह परशुराम ने गुरुमुख से उपासना के सभी क्रम मन्त्र एवं यंत्र के साथ सीखकर आनन्दातिरेक में आत्मतुष्ट हो गये ।। २०–२२ ॥

फिर बतलायी गयी विधि के अनुसार देवी त्रिपुरा की उपासना में दत्तचित्त भृगुपुत्र परशुराम ने पहले परिक्रमापूर्वक गुरु को प्रणाम कर, उनकी आज्ञा लेकर महेन्द्र पर्वत पर उपासना के लिए प्रस्थान किया ।। २३ ॥

वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम एक सुन्दर एवं सुखद कुटिया बनायी । फिर बारह वर्षों के लिए देवी त्रिपुरा की उपासना में तल्लीन हो गये ।। २४ ॥

नित्यनैमित्तिकपरः पूजाजपपरायणः ।
सदा श्रीत्रिपुरेशान्या मूर्त्तिध्यानैकतत्परः ॥ २५ ॥
एवं तस्यात्यगात्कालो द्वादशाब्दो निमेषवत् ।
अथैकदा सुखासीनो जामदग्न्योऽनुचिन्तयत् ॥ २६ ॥
पुरा यत्प्राह संवर्तो मया स्वभ्यर्थितः पथि ।
तन्मया नैव विदितमंशेनापि तदा ननु ॥ २७ ॥
विस्मृतश्च मया यस्मात्प्राङ् न पृष्टं गुरुं प्रति ।
माहात्म्यं त्रिपुराशक्तेः श्रुतं श्रीगुरुवक्त्रतः ॥ २८ ॥
परन्तु तन्न विदितं यत्संवर्त्तः पुराऽब्रवीत् ।
मया सृष्टिप्रसङ्गेन पृष्टं किञ्चिद् गुरुं प्रति ॥ २९ ॥
तदा कटकृदाख्यानं वर्णयित्वा च मे गुरुः ।
नाब्रवीदप्रकृततस्तन्मे तत्तादृशं स्थितम् ॥ ३० ॥

यहाँ परशुराम ने विधिवत् नित्यकर्म अर्थात् संध्या, पंचयज्ञ, स्नानादि प्रतिदिन किया जानेवाला विहित कर्म तथा नैमित्तिक अर्थात् किसी विशेष उद्देश्य से किये जानेवाले अनुष्ठान करते हुए, देवी की पूजा और इष्ट मंत्र का जप करते हुए निरन्तर भगवती त्रिपुरसुन्दरी के ध्यान में मग्न हो गये ॥ २५ ॥

इस तरह पलक मारते उनकी बारह साल की लम्बी अवधि बीत गयी। फिर एक दिन भगवती के ध्यान में मस्त सुखपूर्वक बैठे हुए जमदग्निपुत्र परशुराम ने सोचा ॥ २६ ॥

पहले कभी राह चलते मैंने महर्षि संवर्त्त से कुछ सवाल किया था। उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा था, उस समय वह मेरी समझ में कुछ नहीं आया ॥ २७ ॥

फिर उसे मैं बिलकुल ही भूल गया। इसीलिए गुरुदेव से भी नहीं पूछ सका। हाँ, गुरुमुख से मैंने भगवती त्रिपुरा की महिमा अवश्य सुनी है ॥ २८ ॥

पहले महर्षि संवर्त्त ने मुझसे इस संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ कहा था। उस समय यह बात मेरी समझ में बिलकुल नहीं आयी थी। मैंने गुरुदेव से भी इसके बारे में कभी कुछ पूछा था।

उस समय उन्होंने इसे 'चटाई बुनकर की कहानी' कहकर मुझे टरका दिया था। यह बात उस समय अप्रासंगिक होने के कारण वहीं दब गयी थी ॥ ३० ॥

विशेष—'कटकृत्-आख्यान' का तात्पर्य है—कटकृत् अर्थात् चटाई बुननेवाला और आख्यान का अर्थ है—कहानी। अर्थात् चटाई बुननेवाला चटाई बुनता रहता है और साथ बैठे लोगों को अप्रासंगिक रूप से कुछ कहानियाँ सुनाता रहता है। उसे ही 'कटकृत्-आख्यान' कहते हैं। उस समय उन्होंने विषयवस्तु की गम्भीरता और मेरी अयोग्यता को ध्यान में रखकर ही इसे टाल दिया था।

लोकस्य गतिमेतान्तु न जानाम्यपि लेशतः ।
कस्मादिदं समुदितं जगदाडम्बरं महत् ।। ३१ ।।
कुत्र वा गच्छति पुनः कुत्र संस्थानमृच्छति ।
अस्थिरन्तु प्रपश्यामि सर्वं सर्वत्र किञ्चन ।। ३२ ।।
व्यवहारः स्थिरप्रायः कस्मादेतदपीदृशम् ।
चित्रां जगद्व्यवहृतिं प्रपश्याम्यविमर्शिनीम् ।। ३३ ।।
अहो यथान्धानुगतो ह्यन्धश्चेष्टति तादृशः ।
लोकस्य व्यवहारो वै सर्वस्याप्यभिलक्षितः ।। ३४ ।।

किन्तु मुझे संसार की गतिविधि का थोड़ा भी ज्ञान नहीं है। अचानक यह इतना बड़ा विश्वप्रपंच कहाँ से खड़ा हो गया ।। ३१ ।।

इस भागदौड़ की दुनिया में सभी भागते नजर आ रहे हैं। ये अपना ठहराव कहाँ चाहते हैं। जहाँ भी जो कुछ है, सब-के-सब भागते ही नजर आते हैं ।। ३२ ।।

फिर इस नश्वर जगत् में अपने-पराये का व्यवहार कैसा? स्थायित्व-विहीन संसार का यह व्यवहार मुझे बड़ा ही विचित्र लगता है। ये विचार ही विचारहीन प्रतीत होते हैं ।। ३३ ।।

विशेष—यहाँ वीराग्रणी परशुराम का अनुचिन्तन जगत् और जीवन से सम्बद्ध है। नश्वर संसार में जीवन से सम्बन्धित होने लिए जीवन मिल जाने को ही ये पर्याप्त नहीं मानते हैं। इनकी दृष्टि में यह जीवन की भूमिका तो है, लेकिन यही सब कुछ नहीं है। यहाँ से यात्रा शुरू हो सकती है, लेकिन उस पर ही ठहरा नहीं जा सकता है। परन्तु कितने ही ऐसे लोग भी हैं जो प्रस्थान-बिन्दु को ही गन्तव्य मानकर रुक जाते हैं। प्रायः संसार का अधिकांशतः व्यवहार अपने-पराये की पृष्ठभूमि पर यही होता है। कुछ लोग शायद भेद कर लेते हैं, पर उस भेद को जीते नहीं। बहुत कम लोग हैं जो प्रस्थान-बिन्दु और मंजिल में भेद समझकर जीते हैं।

इस चंचल संसार की वास्तविकता की समझ जीवन के अस्तित्व के अनुभव से ही किसी को सच्चे व्यवहार का ज्ञान हो सकता है। हृदय की गहराई से और अनुभव की तीव्रता से ही व्यक्ति संसार को पहचान सकता है। सांसारिक व्यवहार की संवेदना बहुत ही सतही है। जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्थायित्व होता है और न कोई दृढ़ता ही होती है। उनका बनना-मिटना चलता ही रहता है। सागर का अन्तःस्थल न तो उससे प्रभावित होता है और न ही परिवर्तित होता है। ऐसी ही स्थिति इस संसार की है।

उसकी कीमत ही क्या जो आज तो है पर कल नहीं होगा। जिसमें पल-पल पर परिवर्तन है उसका मूल्य हो भी क्या सकता है? परिस्थितियों का प्रवाह तो नदी की धारा की तरह है। प्रतिदिन ही कोई-न-कोई मौत के मुँह में गिरता है और दूसरे ऐसे

निदर्शनं ह्यात्मकृतिरत्र मे सर्वथा भवेत् ।
नूनं मम शैशवे किं जातं तन्मे न भावितम् ॥ ३५ ॥
कौमारे चान्यथा वृत्तं तारुण्येऽपि ततोऽन्यथा ।
इदानीमन्यथैवास्ति व्यापारो मम सर्वथा ॥ ३६ ॥
किमभूत्फलमेतेषां तन्न वेद्मि कथञ्चन ।
यद्यत्काले यच्च यच्च क्रियते येन येन वै ॥ ३७ ॥
सम्यगेवेति तद्बुद्ध्वा फलावष्टम्भपूर्वकम् ।
फलं किं तत्र सम्प्राप्तं केन वा सुखमात्मनः ॥ ३८ ॥

खड़े रहते हैं जैसे यह दुर्भाग्य उस पर ही गिरने को था। आप दर्शक बने रहते हैं। यदि व्यक्ति में सत्य को पहचानने की आँखें हो तो दूसरे की मौत में अपनी मृत्यु भी दिखाई देने लगती है। यही सबके साथ होने को है; वस्तुतः हो ही रहा है। हम सब धीरे-धीरे मरते रहते हैं। मरण की यह प्रक्रिया इतनी धीमी है कि जब तक वह अपनी पूर्णता नहीं पा लेती, तब तक प्रकट ही नहीं होती। उसे देखने के लिए विचार की सूक्ष्म दृष्टि चाहिए। इसी दृष्टि की खोज परशुराम को व्यथित कर रही है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जैसे एक अन्धे के पीछे दूसरा अन्धा चलता है ठीक उसी तरह सारी दुनिया का लोकव्यवहार केवल अन्धानुकरण ही प्रतीत होता है ॥ ३४ ॥

विशेष—संसार के व्यवहार को जान लेना ही सत्य को जान लेना है। इस पहचान के साथ ही व्यक्ति का दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख संसार के व्यवहार की सही परख के अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संसार को सही रूप में जानते ही हम आनन्द के अधिकारी हो जाते हैं। वह जो व्यक्ति के भीतर छिपा है—सच्चिदानन्द है। जीवन और जगत् की सही अनुभूति ही आनन्द है। संसार के स्वरूप को जानना ही सत्य को जानना है। सत्य को जानना आनन्द को पा लेना है।

औरों की बात तो कुछ और मेरा अपना ही व्यवहार इसका पूरा उदाहरण है। भले ही बचपन में मेरा व्यवहार क्या था ? मैं भूल गया हूँ ॥ ३५ ॥

कुमारावस्था में मेरा व्यवहार कुछ और था और जवानी का कुछ और, फिर आज का मेरा व्यवहार तो उन दोनों से बिलकुल अलग-थलग है ॥ ३६ ॥

किन्तु, मेरे उन व्यवहारों का परिणाम क्या हुआ ? यह मैं बिलकुल नहीं जानता। जिस किसी व्यक्ति के द्वारा किसी भी समय जो कुछ भी कर्म उचित समझ कर, परिणाम को सामने रखकर किया जाता है; उनमें से किसी को कोई फल मिला ? उससे क्या कोई सुखी हुआ ? ॥ ३७–३८ ॥

यच्चापि लोके फलवदविमृश्यफलं हि तत् ।
न फलं तदहं मन्ये पुनर्यस्मात्करोति सः ॥ ३९ ॥
प्राप्ते फले फलेच्छावान् पुनर्भूयात्कथं वद ।
यस्मान्नित्यं करोत्येव जनः सर्वः फलेहया ॥ ४० ॥
फलं तदेव सम्प्रोक्तं दुःखहानिः सुखञ्च वा ।
कर्त्तव्यशेषे नो दुःखनाशो वा सुखमेव वा ॥ ४१ ॥
कर्त्तव्यतैव दुःखानां परमं दुःखमुच्यते ।
तत्सत्त्वे तु कथन्ते स्तो दुःखाभावः सुखञ्च वा ॥ ४२ ॥

संसार में 'फल' की तरह जो जान पड़ता है वह फल नहीं है । वह विचारविहीन होने के कारण ही फल जैसा लगता है । मैं उसे फल नहीं मानता, क्योंकि फल के लिए अनवरत उसका प्रयास तो चलता ही रहता है ॥ ३९ ॥

विशेष – परशुरामजी की दृष्टि में यह आश्चर्यजनक है कि व्यक्ति जितना भी कर्म का फल पा ले, फिर भी फल पाने पर जो प्रतीत होता है, वह उतना ही रहता है जितना फल पाने के पूर्व था । इसलिए सम्राटों और भिखारियों का अभाव समान ही होता है । उस तल पर उनमें कोई भेद नहीं है, क्योंकि तृष्णा दुष्पूर है ।

स्वरूपसंपदा का फल जो नहीं खोजता है वह विपदाओं को ही सम्पदा का फल समझता रहता है । यही सांसारिक व्यवहार की भूल है । परशुराम की दृष्टि में निश्चित रूप से बाहर की कोई भी उपलब्धि अभावों का अभाव नहीं ला सकती है, क्योंकि बाहर का कोई भी फल भीतर के अभाव को कैसे भर सकेगा ? समस्या आन्तरिक है तो बाहरी परिणाम से उसका भराव सम्भव नहीं है । इसीलिए बाहर सब कुछ पाकर भी कुछ भी पाया जैसा प्रतीत नहीं होता है और बाहर सब होकर भी भीतर से व्यक्ति रिक्त रह जाता है । इसी शाश्वत सत्य की ओर परशुरामजी का यहाँ सन्देह एवं आश्चर्य है, जिसे उन्होंने 'फल' शब्द में संकेत किया है ॥ ३९ ॥

किसी कर्म का फल पा लेने के बाद फिर फल पाने की इच्छा क्यों होती है ? सब-के-सब दिन-रात फल पाने की इच्छा से ही किसी-न-किसी कर्म में लगे रहते हैं ॥ ४० ॥

दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति ही तो फल है । जब तक कुछ-न-कुछ करने के लिए शेष बचा ही है तब तक न तो उसे सुख की प्राप्ति कह सकते हैं और न वह दुःख की निवृत्ति ही कही जा सकती है ॥ ४१ ॥

दुःखसमूहों में कत्तत्व सबसे बड़ा दुःख है । व्यक्ति में जब तक कर्त्तृत्व बुद्धि बनी रहती है तब तक दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

विशेष – परशुरामजी की दृष्टि में यहाँ सांसारिक तथा कथित सुख मादक द्रव्यों का काम करता है । वह दुःख से मुक्ति नहीं लाता, केवल दुःखों के प्रति मूर्च्छा भर ला

यथा दग्धाखिलाङ्गस्य पादे पाटीरलेपनम् ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४३ ॥
यथा शराविद्धहृदः परिष्वङ्गोऽप्सरोगणैः ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४४ ॥
यथा क्षयामयाविष्टनरस्य गीतसंस्तुतिः ।
तथा कर्त्तव्यशेषस्य सुखलाभ इहोच्यते ॥ ४५ ॥
सुखिनस्ते हि लोकेषु ये कर्त्तव्यतया स्थिताः ।
पूर्णाशया महात्मानः सर्वदेहसुशीतलाः ॥ ४६ ॥
यदि कर्त्तव्यशेषेऽपि सुखं स्यात्केनचित्क्वचित् ।
शूलप्रोतेऽपि च नरे स्यात्सुखं गन्धमाल्यजम् ॥ ४७ ॥

देता है। इसे परशुरामजी संसार का सम्बन्ध रूप मात्र ही मानते हैं। साधारण रूप से सांसारिक सुख के नाम से जाने जानेवाले सुख का आभास है। निश्चय ही यह सुख क्षणिक है। यह सुख तो दुःख-विस्मरण की एक चित्तस्थिति है। यह तो दुःख से उत्पन्न होता है और दुःख को भुलाने के उपाय से ज्यादा कुछ नहीं है। परशुराम का सुख व्यक्ति के आन्तरिक आनन्द का परिणाम है। उससे दुःख विस्मृत नहीं होता प्रत्युत् उसकी अभिव्यक्ति ही दुःख की मुक्ति पर होती है। यह मादकता नहीं अपितु परिपूर्ण जागरण है। जो चेतना दुःख-विस्मरण नहीं, दुःख-विसर्जन की दिशा में चलती है, वही असली सुखसम्पदा की मालिक बनती है जिसे सुख कहा जाता है।

भीतरी आनन्द ही बाहरी सुख का प्रतिफलन है। वस्तुतः जो भीतर आनन्द है, वही बाहर सुख है। वे दोनों दो नहीं हैं, बल्कि एक ही अनुभूति की दो प्रतीति हैं। आनन्द केन्द्र है और सुख परिधि है। ऐसा सुख कोई सम्बन्ध नहीं, स्वभाव होता है। सुख के इस स्वरूप में संसार का कोई आकर्षण नहीं, आन्तरिक प्रवाह है। संसार से इसका न कोई लगाव है और न कुछ अपेक्षा। यह संसार से मुक्त एवं स्वतंत्र है। इस सुख को ही परशुराम सुख मानते हैं।

इस संसार में कर्त्तव्यशेष व्यक्ति को सुख का लाभ बतलाना ठीक उसी प्रकार है जैसे किसी की सारी देह आग में झुलस जाय और उसके पैर पर चन्दन का लेप चढ़ा कर शीतलता की अनुभूति समझाई जाय ॥ ४३ ॥

बाणों की मार से जिसकी छाती छलनी हो गई हो, उसे अप्सरा के आलिङ्गन-सुख का बोध कराने जैसा कर्त्तव्यशेष व्यक्ति के लिए सुखबोध कराना है ॥ ४४ ॥

कर्त्तव्यशेष व्यक्ति को संसार में सुख-प्राप्ति बतलाना ठीक वैसा ही प्रयास है जैसे क्षयरोग-ग्रसित व्यक्ति को संगीत द्वारा स्तुति की महिमा बतलाई जाय ॥ ४५ ॥

संसार में वे ही सुखी हैं जो कर्त्तव्य-भार से मुक्त हैं। वे पूर्णकाम महात्मा हैं। उनके भीतर-बाहर सभी अंग सुशीतल हैं ॥ ४६ ॥

कर्त्तव्य का बोझ सिर पर लादे व्यक्ति को यदि सुख की अनुभूति सम्भव हो

अहो महच्चित्रमेतत् कर्त्तव्यशतसङ्कुले ।
सुखमस्तीह यस्यार्थे करोत्येव सदा जनः ॥ ४८ ॥
अहोऽविचारमाहात्म्यं किं वदामि नृणामहम् ।
अनन्तकर्त्तव्यशैलाक्रान्ताः सौख्यं लभन्ति च ॥ ४९ ॥
तथा सौख्याय यतते सार्वभौमस्तु सर्वदा ।
तथैव यतते नित्यमपि भिक्षाटने रतः ॥ ५० ॥
पृथक् तौ प्राप्नुतः सौख्यं मन्येते कृतकृत्यताम् ।
तद्येन यान्ति सर्वेऽपि याम्यहंताननुक्रमात् ॥ ५१ ॥

तो फिर शूली से बिंधे लोगों को चन्दन और माला की सुखानुभूति भी तो हो सकती है ॥ ४७ ॥

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सैकड़ों काम के भार से लदे होने पर भी लोग समझते हैं कि यही सुख है और वे इसी सुख के लिए सदैव प्रयत्नशील भी बने रहते हैं ॥ ४८ ॥

आश्चर्य है ! लोगों के इस विचार की महिमा का कहाँ तक बखान करूँ ? अनगिनत कर्त्तव्य रूपी पहाड़ों के नीचे दबे रहकर भी मनुष्य अपने को सुखी मानता है ॥ ४९ ॥

जैसे एक सार्वभौम सम्राट् निरन्तर सुख की खोज में लगा रहता है, ठीक उसी प्रकार एक भिखारी भी सुख की खोज में ही लगा रहता है ॥ ५० ॥

और दोनों को अलग-अलग अपने ढंग से सुख भी मिलते हैं, जिन्हें पाकर वे अपने को धन्य मानते हैं । तो फिर जैसे सभी चल रहे हैं, उन्हीं का अनुक्रमण मैं भी करूँ ॥ ५१ ॥

विशेष—यहाँ परशुरामजी आश्चर्यचकित हैं कि सब कुछ पाकर भी संसार में कुछ नहीं पाने की तरह है । इसीलिए उनकी दृष्टि में सम्राटों और भिखारियों का कुछ पाना या खोना समान ही प्रतीत होता है ।

फिर सांसारिक सुख की दिशा में जो मिला हुआ भी मालूम देता है, उसकी भी कोई सुरक्षा नहीं है, क्योंकि किसी क्षण वह छिन सकता या नष्ट हो सकता है । अन्ततः मृत्यु तो उसे छीन ही लेती है । जो सुख छीना जा सकता है, उसे हमारा अन्तर्हृदय कभी भी अपना न मान पाता हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? इसीलिए सांसारिक सुख सुरक्षा या अन्तःशान्ति नहीं दे पाता है । उल्टे हमें ही उसकी सुरक्षा करनी पड़ती है ।

सांसारिक सुख और उससे सम्बन्धित सुविधाओं और शक्तियों से न दुःख मिटता है, न असुरक्षा मिटती है, न भय मिटता है । इसीलिए उनके मिथ्या आश्वासन में ज्यादा-से-ज्यादा किसी व्यक्ति का कुछ क्षण के लिए दुःख भुला भर रह सकता है ।

अनालोच्य फलञ्चापि यथान्धोऽन्धानुगस्तथा ।
तदलं मेधयानेन भूयो गत्वा दयानिधिम् ॥ ५२ ॥
विजिज्ञासितजिज्ञास्यो विचिकित्साम्बुधेः परम् ।
पारं प्रपत्स्ये सुशुभं गुरुवाक्प्लवमाश्रितः ॥ ५३ ॥
इति व्यवस्य सहसा जामदग्न्यः शुभाशयः ।
प्रतस्थे तद्गिरिवराद् गुरुदर्शनकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥
गन्धमादनशैलेन्द्रं प्राप्य शीघ्रमपश्यत ।
गुरुं पद्मासनासीनं भूभास्वन्तमिव स्थितम् ॥ ५५ ॥
प्रणनाम पादपीठं पुरतो भुवि दण्डवत् ।
शिरसाऽपीडयत्पादपद्मं निजकराश्रितम् ॥ ५६ ॥

इसीलिए सांसारिक सुख को मद कहा जाता है । इसी की मादकता में जीवन के वास्तविक सुख के दर्शन नहीं हो पाते हैं और दुःख का इस तरह विस्मरण दुःख से भी बदतर है; क्योंकि इसी के कारण दुःख को मिटाने की वास्तविक दिशा में दृष्टि नहीं उठ पाती है ।

जीवन में जो दुःख है वह किसी वस्तु, शक्ति या सम्पदा के न होने के कारण नहीं है; क्योंकि उन सबों के मिल जाने पर भी दुःख मिटते नहीं देखा जा सकता है । सुख में और सुख होने के भ्रम में बहुत ही अन्तर है । संसार की सम्पत्ति, सुख और सुरक्षा—सभी उस वास्तविक सुख की छाया भर हैं, जो भीतर हैं और भीतर परखने की शक्ति तब तक जागरूक नहीं होगी जब तक व्यक्ति को सांसारिक कर्त्तव्यभार से मुक्ति न मिल जाय । ऊपर के श्लोकों में परशुरामजी का यही दार्शनिक अनुचिन्तन है ।। ५२ ।।

तो फिर क्या परिणाम पर विचार किये बिना अन्धे के पीछे चलनेवाले अन्धे की तरह मैं भी उसी का अनुसरण करूँ ? अथवा अपनी बुद्धि के अनुसार उस अविचार को छोड़ कर फिर अपने दयासागर गुरुदेव के पास ही चलूँ ।। ५२ ।।

और ज्ञानप्राप्ति के लिए जानने योग्य वस्तु की पूछ-ताछ कर, उनके वचनरूपी नौका का सहारा लेकर मैं इस अनिश्चयरूपी सागर के उस पार पहुँच जाऊँगा जो सब तरह से मंगलमय है ।। ५३ ।।

ऐसा निश्चय कर मांगलिक अभिप्रायवाले परशुराम ने गुरुदर्शन की लालसा से महेन्द्र पर्वत पर से प्रस्थान किया ।। ५४ ।।

महेन्द्र पर्वत से शीघ्र ही पर्वतराज गन्धमादन पर पहुँचकर परशुराम ने धरती पर सूर्य की तरह प्रदीप्त पद्मासन में बैठे अपने गुरुदेव को देखा ।। ५५ ।।

वहाँ उन्होंने सर्वप्रथम गुरुदेव के ऊँचे आसन के पास पैर रखने की छोटी चौकी अथवा खड़ाऊँ के सामने धरती पर लेटकर साष्टांग प्रणाम किया और फिर अपने हाथों में उनके पैरों को रखकर उन पर अपना माथा टेक दिया ।। ५६ ।।

अथैवं प्रणतं रामं दत्तात्रेयः प्रसन्नधीः ।
आशीर्भिर्योजयामास समुत्थापयदादरात् ।। ५७ ।।
वत्सोत्तिष्ठ चिरादद्य त्वां पश्यामि समागतम् ।
ब्रूहि स्वात्मभवं वृत्तं निरामयतया स्थितम् ।। ५८ ।।
अथोत्थाय गुरूक्त्या स गुर्वादिष्टाग्रचविष्टरः ।
उपविश्य प्रसन्नात्मा बद्धाञ्जलिपुटोऽब्रवीत् ।। ५९ ।।
श्रीगुरो ! करुणासिन्धो ! त्वत्कृपामृत आप्लुतः ।
कथं स परिभूयेत विधिसृष्टैरथामयैः ।। ६० ।।
त्वत्कृपात्मामृतकरमण्डलान्तःस्थितन्तु माम् ।
सन्तापयेत्कथं व्याधिश्चण्डांशुरतिभीषणः ।। ६१ ।।
आन्तरं बाह्यमपि ते कृपयानन्दितं मम ।
सदा स्थितं किन्तु भवत्पादाब्जवियुतिं विना ।। ६२ ।।
नान्यद्रुजावहं किञ्चिदासीन्मे लेशतः क्वचित् ।
तद्भवच्चरणाम्भोजदर्शनादद्य वै पुनः ।। ६३ ।।
सम्पूर्णता सदापन्ना सर्वथा श्रीगुरो ननु ।
तत् किञ्चिच्चिरसंवृत्तं हृदि मे परिवर्त्तते ।। ६४ ।।

इस प्रकार प्रणाम करते परशुराम को देखकर गुरु दत्तात्रेय ने उन्हें आदरपूर्वक उठा लिया । हृदय से प्रसन्न होते हुए इन्हें अनेक आशीर्वाद दिये ।। ५७ ।।

उठो बेटे, बहुत दिनों के बाद आज तुमसे भेंट हुई है। अपनी बातें बतलाओ; स्वस्थ तो हो न ? ।। ५८ ।।

गुरु के ऐसा कहने पर परशुरामजी उठे तथा उनके बताये गये आसन पर बैठकर हाथ जोड़ कर बोले ।। ५९ ।।

हे कृपासिन्धु ! आपकी दया के सागर में जिसने एक बार गोता लगा लिया, भला विधि-निर्मित रोग उसे क्या सता सकते हैं ? ।। ६० ।।

मैं तो आपके कृपारूपी चन्द्रमण्डल के बीच में बैठा हूँ । फिर प्रखर किरण वाले प्रचण्ड सूर्य रूपी रोग मुझे कैसे संतप्त कर सकता है ।। ६१ ।।

आपके चरणों से अलग रहने के सिवा और दुःख ही मुझे क्या है ? आपके परम कृपारूपी आनन्दसागर में मैं भीतर-बाहर पूर्णतः सराबोर हूँ ।। ६२ ।।

और कोई दूसरा रोग मेरी देह में कहीं कुछ भी नहीं है। सो आज आपके चरणारविन्दों के दर्शन से फिर मैं निहाल हो गया ।। ६३ ।।

श्रीगुरुदर्शन से आज वह कमी भी सर्वतोभावेन पूरी हो गयी। फिर भी बहुत दिनों से एक बात मेरे मन में खटकती रही है ।। ६४ ।।

तत्प्रष्टुं त्वाभिवाञ्छामि चिरसंशयितान्तरः ।
आज्ञप्तो भवताद्याहं पृच्छामि विचिकित्सितम् ॥ ६५ ॥
संश्रुत्यैवं भार्गवोक्तिं दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
सम्प्रहृष्टमना राममूचे प्रीत्याथ भार्गवम् ॥ ६६ ॥
पृच्छ भार्गव यत्तेऽद्य प्रष्टव्यं चिरसम्भृतम् ।
तव भक्त्या प्रसन्नोऽस्मि प्रब्रवीमि तवेप्सितम् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमदितिहासोत्तमे त्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे
भार्गवप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ।

विशेष — परशुरामजी भीतर-बाहर से अपने को आनन्दमय बतलाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा यही आनन्द चाहती है — पूर्ण आनन्द, क्योंकि तभी सभी चाहों का विश्राम आ सकता है। जहाँ चाह है वहीं दुःख है, क्योंकि वहाँ अभाव है। आत्मा सब अभावों का अभाव चाहती है। अभाव का पूर्ण अभाव ही आनन्द है। वहीं स्वतन्त्रता भी है और मुक्ति भी। क्योंकि जहाँ कोई भी अभाव है वहीं बन्धन है, सीमा है, परतंत्रता है। अभाव जहाँ नहीं है, वहीं परममुक्ति में प्रवेश है। आनन्द ही मोक्ष है और मुक्ति ही आनन्द है। हमारी जो परम आकांक्षा है, वही हमारा आत्यन्तिक स्वरूप है। वही असली आनन्द है।

यही कारण है कि मेरा मन बहुत दिनों से संदेह से घिरा रहता है। यदि आपकी आज्ञा हो तो इस सम्बन्ध में मैं आपके सामने कुछ प्रश्न रखूँ ॥ ६५ ॥

परशुराम की बातों से गुरुदत्तात्रेय ने अत्यन्त सन्तुष्ट होकर भृगुनन्दन परशुराम से कहा ॥ ६६ ॥

हे परशुराम ! तुम्हारे मन में जो बहुतों दिनों से संचित संदेह है, वह पूछ लो। मैं तुम्हारी भक्ति से अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहते हो पूछो, मैं तुम्हें बतलाऊँगा ॥ ६७ ॥

प्रथम अध्याय समाप्त ।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रश्रयावनतो भूत्वा सम्प्रष्टुमुपचक्रमे ।
इत्याज्ञप्तो जामदग्न्यः प्रणम्याऽत्रिसुतं मुनिम् ॥ १ ॥
भगवन् गुरुनाथार्य सर्वज्ञ करुणानिधे ।
पुरा मे नृपवंशेषु क्रोधः कारणतो ह्यभूत् ॥ २ ॥
तद्भूयो निहतं क्षात्रं सगर्भं सस्तनन्धयम् ।
मया त्रिःसप्तकृत्वो वै क्षत्रासृग्भरिते ह्रदे ॥ ३ ॥
सन्तर्पिताः पितृगणास्तुष्टा मद्भक्तिगौरवात् ।
मत्क्रोधं शामयामासुः शान्तः पित्राज्ञयाप्यहम् ॥ ४ ॥
सम्प्रत्ययोध्यामध्यास्ते यः श्रीरामो हरिः स्वयम् ।
क्रोधान्धस्तेन भूयोऽहं सङ्गतो बलदर्पितः ॥ ५ ॥
तेन दर्पाद्भगवता च्यावितश्च पराजितः ।
जीवन्कथञ्चिन्निर्यातो ब्रह्मण्येनानुकम्पिना ॥ ६ ॥
अथ मामुपसम्प्राप्तो निर्वेदः परिभावितम् ।
ततोऽत्यन्तं पथि मया बहुधा परिदेवितम् ॥ ७ ॥

(परशुराम का प्रश्न एवं गुरुदेव का आश्वासन)

इस तरह आदेश मिलने पर परशुरामजी ने महर्षि अत्रि के पुत्र दत्तात्रेय को प्रणाम किया और फिर अति विनम्र होकर उनसे पूछना प्रारम्भ किया ॥ १ ॥

भगवन् ! आप मेरे गुरुदेव है, अधीश्वर और आचार्य हैं; आप दया के सागर हैं, आप सब कुछ जानते हैं । बहुत पहले की बात है—एक खास कारण से मुझे क्षत्रिय जाति के प्रति अत्यधिक क्रोध हुआ था ॥ २ ॥

मैंने इक्कीस बार धरती को क्षत्रिय रहित कर दी थी । पेट में पलते बच्चे से लेकर दूधमुँहे बच्चे तक की मैंने हत्या कर दी थी । उनके खून से ताल-तलैये भर डाले थे ॥ ३ ॥

मैंने क्षत्रियों के खून से अपने पितरों का तर्पण किया । मेरी भक्ति से वे मुझ पर काफी प्रसन्न हुए । उनकी आज्ञा से क्षत्रियों के प्रति मेरा क्रोध शान्त हो गया ॥ ४ ॥

फिर मुझे पता चला कि स्वयं भगवान् विष्णु राम के रूप में अयोध्या में मौजूद हैं । अपने बल के घमण्ड में चूर क्रोध से पागल बना मैं उनसे जा टकराया ॥ ५ ॥

उन्होंने मुझे पराजित कर मेरा घमण्ड चूर-चूर कर दिया । वे परम दयालु थे, ब्राह्मणों के भक्त थे । इसीलिए किसी तरह उन्होंने मुझे जिन्दा छोड़ दिया ॥ ६ ॥

इस तरह पराजित होने पर मुझे बड़ी निराशा हुई । लौटते समय सारी राह मैं पछताता रहा ॥ ७ ॥

संवर्त्तमवधूतेन्द्रं मार्गेऽकस्मात्समासदम् ।
भस्मच्छन्नाग्निवद् गूढं कथञ्चिदविदन्तदा ॥ ८ ॥
सन्तप्त इव नीहारं तं सर्वाङ्गसुशीतलम् ।
सङ्गम्यैवातिशिशिरभावमासादयन्तदा ॥ ९ ॥
मया स्वस्थितिमापृष्टः प्राहामृतसुपेशलम् ।
सुसारपिण्डवत्सर्वं निष्कृष्य प्रत्यपादयत् ॥ १० ॥
नाहं तदशकं स्प्रष्टुं रङ्को राज्ञीं यथा तथा ।
भूयः सम्प्रार्थितः सोऽथ भवन्तं मे विनिर्दिशत् ॥ ११ ॥
तद्भवच्चरणद्वन्द्वं तत आसादितं मया ।
अन्धो जनसमायोगमिवात्यन्तसुखावहम् ॥ १२ ॥
तन्मे न विदितं किञ्चित्संवर्त्तमुनिराह यत् ।
श्रुतं माहात्म्यमखिलं त्रिपुराभक्तिकारकम् ॥ १३ ॥
सा भवद्रूपिणी देवी हृदि नित्यं समाहिता ।
एवं मे वर्त्तमानस्य किं फलं समवाप्यते ॥ १४ ॥
भगवन् कृपया ब्रूहि यत्संवर्त्तः पुरावदत् ।
अविदित्वा च तन्नास्ति क्वचिच्च कृतकृत्यता ॥ १५ ॥

अचानक रास्ते में मेरी मुलाकात महान् अवधूत संवर्त्तजी से हुई। राख से ढकी दहकते अंगारे की तरह वे अपना तेज अपने भीतर छिपाये थे। बड़ी मुश्किल से मैंने उन्हें पहचाना ॥ ८ ॥

चिलचिलाती धूप में झुलसे व्यक्ति को जैसे सहसा शीतल कुहासे के आ जाने से शान्ति मिलती है, उन्हें पाकर मुझे कुछ वैसे ही सुखशान्ति की अनुभूति हुई ॥ १० ॥

मैंने जब उनसे उनकी स्थिति के बारे में पूछा तो उन्होंने अमृत की तरह मीठे वचनों में मुझे समग्र शास्त्रों का तत्त्व बतला दिया ॥ १० ॥

किन्तु जैसे एक भिखारी राजलक्ष्मी को ग्रहण नहीं कर पाता, ठीक उसी तरह उनकी एक भी बात मेरी समझ में नहीं आयी। फिर जब मैंने उनसे दुबारा समझाने की विनती की तो सीधे उन्होंने मुझे आपके पास भेज दिया ॥ ११ ॥

अतः मैं आपके चरणों में उसी तरह शरणागत हूँ जैसे कोई अकेला भटकता अन्धा जनसमूह में सुखद अनुभूति पाता है ॥ १२ ॥

मुनि संवर्त्त ने जो कुछ कहा वह तो मेरे पल्ले कुछ न पड़ा। भगवती त्रिपुरा में भक्ति जगानेवाली उनकी महिमा आपके मुखारविन्द से पहले अवश्य सुनी थी ॥१३॥

मैं भगवती त्रिपुरा को आपके रूप में ही अपने हृदय में सदैव विद्यमान पाता हूँ। इस स्थिति में रहते हुए मुझे किस फल की प्राप्ति होगी ? ॥ १४ ॥

तदुक्तमविदित्वा तु यद्यच्च क्रियते मया ।
तद्बालक्रीडनमिव प्रतिभाति समन्ततः ॥ १६ ॥
पुरा मया हि बहुशः क्रतुभिर्दक्षिणोच्छ्रयैः ।
प्रभूतान्नगणैरिष्टा देवाः शक्रमुखा ननु ॥ १७ ॥
तदल्पफलमेवेति श्रुतं संवर्त्तवक्त्रतः ।
मन्ये तदहमल्पं यद् दुःखमेवेति सर्वथा ॥ १८ ॥
असुखं नहि दुःखं स्याद् दुःखमल्पं सुखं स्मृतम् ।
यतः सुखात्यये दुःखं भवेद् गुरुतरं किल ॥ १९ ॥
नैतावदेव चैतस्मादधिकं चास्ति वैभवम् ।
मृत्यूपयोगो यद्भूयो न तन्न स्यात्कदाचन ॥ २० ॥
एवमेव भवेद्यन्मे क्रियते त्रिपुराविधौ ।
बालक्रीडेव मे भाति सर्वं तन्मानसं यतः ॥ २१ ॥
एतद् यदुक्तं भवता कर्त्तुं तस्यादितोऽन्यथा ।
नियतं चाप्यन्यथा तद्वचोभेदसमाश्रयात् ॥ २२ ॥

इसके सिवा मुनि संवर्त्त ने जो कुछ मुझसे कहा था, उसका आशय भी श्रीमान् मुझे समझाने का कष्ट करें। अन्यथा उसे समझे बिना मैं सफलमनोरथ कैसे हो सकता हूँ ? ॥ १५ ॥

उनको बतलायी बातों को समझे बिना इस सन्दर्भ में मैं जो कुछ करता हूँ, वे सारे के सारे मुझे बच्चों का खेल जैसा ही तो लगता है ॥ १६ ॥

पहले मैंने अनेक यज्ञों से देवताओं की पूजा की थी। उन यज्ञों में बड़ी-बड़ी दक्षिणाएँ दी थीं। काफी अन्नदान भी किया था ॥ १७ ॥

मुनि संवर्त्त के मुख से ही मैंने सुना था कि ये सब तुच्छ फल देने वाले हैं और जो तुच्छ हैं उन्हें तो मैं दुःखद ही मानता हूँ ॥ १८ ॥

वस्तुतः सुख का अभाव ही दुःख नहीं होता, क्योंकि थोड़ा सुख भी तो दुःख ही होता है। सुख का अन्त होनेपर तो भारी दुःख का ही सामना करना पड़ता है ॥१९॥

इतना ही नहीं, इस कार्य में इससे भी बड़ा डर यह है कि इसमें मौत होती है और ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे मौत न हो ॥ २० ॥

देवी त्रिपुरा की उपासना में जो कुछ भी मैं करता हूँ; वे सभी मानसिक व्यापार होने के कारण वैसे ही तो है। अतः ये सभी मुझे बच्चों के खेल जैसा ही तो प्रतीत होता है ॥ २१ ॥

आपने कर्मानुष्ठान की तरह जिस विधि से त्रिपुरा की उपासना बतलायी थी उससे भिन्न विधि अर्थात् भाव की प्रधानता से भी और इन विधियों को छोड़कर भी की जा सकती है। क्योंकि इस सन्दर्भ में शास्त्र में मतैक्य नहीं है ॥ २२ ॥

आलम्बभेदतश्चापि विविधं प्रतिपद्यते ।
कथमेतत्क्रतुसममसत्यफलसम्मितम् ॥ २३ ॥
अप्यसत्यात्मकं यस्मात् कथं सत्यसमं भवेत् ।
अथापि नित्यकर्त्तव्यमेतन्नास्यावधिः क्वचित् ॥ २४ ॥
लक्षितो मे स भगवन् संवर्त्तः सर्वशीतलः ।
कर्त्तव्यलेशविषमविषज्वालाविनिर्गतः ॥ २५ ॥
हसन्निव लोकतन्त्रमभयं मार्गमाश्रितः ।
वने दावाग्निसङ्कीर्णे हिमाम्बुस्थगजोपमः ॥ २६ ॥
सर्वकर्त्तव्यवैकल्यामृतसंस्वादनन्दितः ।
कथमेतां दशां प्राप्तो यच्च मामाह तत्पुरा ॥ २७ ॥
सर्वमेतत् सुकृपया गुरो मे वक्तुमर्हसि ।
कर्त्तव्यकालभुजगनिगीर्णं मां विमोचय ॥ २८ ॥

विशेष—'परा भगवती संवित् प्रसरन्ती स्वरूपतः ।
परेच्छाशक्तिक्तिरित्युक्ता भैरवस्याविभेदिनी ॥ (श्रीपराविद्या १०४)

अनुभवी सिद्धों की बहिर्मुखीन प्रसार की विभिन्न भूमिकाओं पर विभिन्न क्रियाशीलता को निभानेवाली शक्ति के इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति इत्यादि नामकरण किये गये हैं। वास्तव में ये समस्त नाम एवं उपासना-विधियाँ मात्र औपचारिक हैं, क्योंकि इससे शक्ति के भौतिक रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता । अतः परशुराम ने गुरु से कहा है।

परशुरामजी की दृष्टि में गुरुओं के कथनानुसार योगक्रम में भी जब योगी प्रमेय जगत् के क्षोभ से रहित शून्य अवस्था में प्रवेश करता है और निश्चलता की स्थिति में प्रवेश करना चाहता है, तब उसे किस स्थिति में जाना होगा यज्ञ ज्ञेय है।

इनके सिवा इष्टजन्य आधारभेद के कारण आराधना की भिन्नता स्पष्ट है। इस प्रकार मिथ्याफलदायक यज्ञ की ही तरह यह भी तो है ॥ २३ ॥

अतः कर्मसाध्य होने के कारण मिथ्यात्मक होने पर भी उपासना सत्य की तरह कैसे हो सकती है। यदि वेद के इस वचन के अनुसार—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिम्बीविषेच्छतं समा' इसे नित्यकर्म की तरह करते रहना चाहिए तो फिर इसका अन्त नहीं है ॥ २४ ॥

किन्तु संवर्त्त मुनि तो मुझे हर दृष्टि से सन्तुष्ट प्रतीत होते थे। वे तो कर्त्तव्य की थोड़ी भी जटिल जहर की ज्वाला से निर्मुक्त प्रतीत होते थे ॥ २५ ॥

संसार के इस मिथ्या व्यवहार पर उन्हें हँसी आती थी और वे अभय मार्ग पर अवस्थित थे। ठीक उसी तरह जैसे दावानल से घिरे जलते जंगल के बीच शीतल जल से भरे सरोवर में कोई गजराज खड़ा हो ॥ २६ ॥

वे हर कर्त्तव्यविमुक्ति रूप अमृत पीकर आनन्दित ज्ञान पड़ते थे। यह अवस्था उन्हें कैसे प्राप्त हुई ? इसका वर्णन उस समय उन्होंने मेरे सामने किया था ॥ २७ ॥

हे गुरुदेव ! कृपापूर्वक आप मुझे इन रहस्यों के बारे में समझा दें। मुझे कर्त्तव्य-रूपी काले नाग ने डँस लिया है। इनसे मुझे बचा लीजिए ॥ २८ ॥

विशेष—यहाँ परशुराम ने कर्त्तव्यरूपी नाग से अपने को डँसा हुआ मानकर मुक्ति का उपाय खोजा है। कर्त्तव्य का यह चक्र जब तक चलता रहेगा, जन्ममरण की श्रृंखला भी तब तक चलती ही रहेगी। यहाँ परशुराम की आत्मा आनन्द चाहती है; पूर्ण आनन्द, क्योंकि सभी तरह के कर्त्तव्यों का विश्राम आ सकता है। जहाँ कर्त्तव्य है, वहीं दुःख है, क्योंकि वहाँ अभाव है। आत्मा आनन्द है, वह सभी कर्त्तव्यों का अभाव चाहती है। कर्त्तव्य का पूर्ण अभाव ही आनन्द है और वही आत्मा की स्वतन्त्रता भी है एवं मुक्ति भी। क्योंकि जहाँ कोई कर्त्तव्य है, वहीं बन्धन है, सीमा है, परतन्त्रता है। कर्त्तव्य जहाँ नहीं है, वहीं परममुक्ति में प्रवेश का द्वार है।

आनन्द मोक्ष है और मुक्ति आनन्द है। निश्चय ही जो परम आकांक्षा है, वह बीज रूप में प्रत्येक व्यक्ति में प्रसुप्त है। क्योंकि जिस बीज में वृक्ष न छिपा हो, उसमें अंकुर भी नहीं आ सकता है। यहाँ पर परशुरामजी की जो चरम कामना है; वहीं उनका आत्यन्तिक स्वरूप भी छिपा है। इसीलिए कर्त्तव्यबन्धन से मुक्ति के लिए उनकी यह तड़प है।

कर्त्तव्य स्वरूपतः आत्मा के निषेध के लिए आबद्ध है। क्योंकि उसका जन्म और ग्रहण इन्द्रियों से होता है और जो इन्द्रियों के अतीत हैं, वह उसकी सीमा नहीं। इसीलिए आत्मोपलब्धि के लिए कर्त्तव्यबन्धन असंगत एवं तर्कशून्य है। आत्मा अतर्क्य है। क्योंकि इन्द्रिय ज्ञान से उसकी कोई संगति सम्भव नहीं है और वह इन्द्रियों से नहीं वरन् किसी बहुत ही अन्य और भिन्न मार्ग से उपलब्ध होता है। आत्मा किसी विचार की अनुभूति नहीं, निर्बिचार चैतन्य में हुआ बोध है। विचार इन्द्रिय-जन्य हैं। निर्विचार चैतन्य अतीन्द्रिय है। विचार की चरम निष्पत्ति पदार्थ है। निर्विचार चैतन्य का चरम साक्षात् आत्मा है। वह साधना सार्थक है जो इस आत्मो-पलब्धि की ओर है। कर्त्तव्य में व्यस्त एवं ग्रस्त व्यक्ति उसे पा नहीं सकता। कर्त्तव्य धुएँ की भाँति उस अग्नि को ढँके रहता है। उनमें होकर सारा जीवन ही धुँआ बन जाता है। व्यक्ति उस ज्ञानाग्नि से अपरिचित ही रह जाता है, जो उसका वास्तविक होना है।

उस असीम को, अनन्त को इस धुएँ से ऊपर उठकर जाना जाता है। इन्द्रियों के पीछे कर्त्तव्यशून्य चित्त की स्थिति में जिसका साक्षात् होता है, वही अनन्त, असीम, अनादि आत्मा है। इसे जानने की आँख शून्य है। उसे ही समाधि कहा जाता है। यही योग है। चित्त की वृत्तियों के विसर्जन से बन्द आँखें खुलती हैं और सारा जीवन उस अमृताग्नि के प्रकाश से आलोकित और रूपान्तरित हो जाता है। शून्य से पूर्ण के दर्शन होते हैं और शून्य आता है—विचार-प्रक्रिया के तटस्थ चुनाव रहित साक्षीभाव से। किसी को रोक रखना और किसी को परि-

इत्युक्त्वा चरणौ मूर्ध्ना गृहीत्वा दण्डवन्नतः ।
अथ दृष्ट्वा तथाभूतं भार्गवं मुक्तिभाजनम् ॥ २९ ॥
दयमानस्वभावोऽथ दत्तो वक्तुमुपाक्रमत् ।
वत्स भार्गव धन्योऽसि यस्य ते बुद्धिरीदृशी ॥ ३० ॥
अब्धौ निमज्जतो नौकासम्प्राप्तिरिव सङ्गता ।
एतावदेव सुकृतिः क्रियाभिरुपसङ्गतः ॥ ३१ ॥
स्वात्मानमारोहयति पदे परमपावने ।
सा देवी त्रिपुरा सर्वहृदयाकाशरूपिणी ॥ ३२ ॥
अनन्यशरणं भक्तं प्रत्येवं रूपिणी द्रुतम् ।
हृदयान्तःपरिणता मोचयेन्मृत्युजालतः ॥ ३३ ॥
यावत् कर्त्तव्यवेतालान्न बिभेति दृढं नरः ।
न तावत् सुखमाप्नोति वेतालाविष्टवत् सदा ॥ ३४ ॥

त्याग करने का भाव कर्त्तव्य-प्रक्रिया में ही पैदा होता है। यही भाव कर्त्तव्य-बन्धन है।

विचार के तटस्थ साक्षी का अर्थ है—निर्भाव। कर्त्तव्य या विचार को निर्भाव से देखना ही ध्यान है। बस देखना है और चुनाव नहीं करना है। यह देखना ही बहुत श्रमसाध्य है। यद्यपि यहाँ कर्त्तव्य शेष है; कुछ भी करना नहीं है, पर कुछ न कुछ करते रहने की हमारी इतनी आदत बनी है कि कुछ न करने जैसा सरल और सहज कार्य भी लोगों को कठिन जान पड़ता है। बस देखने मात्र से बिन्दु पर स्थिर होने से हमारे सारे कर्त्तव्यभाव या विचार विलीन होने लगते हैं। वैसे ही जैसे प्रभात में सूर्य के उत्ताप में दूब पर जमे ओसकण वाष्पीभूत हो जाते हैं। इसी उपाय के लिए परशुराम अपने गुरु के शरणागत हुए हैं।

ऐसा कहते हुए परशुराम ने अपने गुरु के दोनों चरणों को सिर पर लेकर धरती पर लेट कर प्रणाम किया। परशुराम की ऐसी स्थिति देखकर सहज दयालु भगवान् दत्तात्रेय ने उन्हें मुक्ति का सच्चा अधिकारी मानकर उन्हें कहना प्रारम्भ किया। पुत्र परशुराम ! तुम्हें ऐसी बुद्धि का बोध हुआ है, अतः तुम धन्य हो। यह विचार तो ऐसा है जैसे किसी समुद्र में डूबनेवाले को नौका मिल जाय ॥ २९–३०½ ॥

उपासना या देवी की आराधना तो पुण्य-पुरुष उस परम पवित्र पद पर आसीन होने का एक माध्यम मात्र है ॥ ३१½ ॥

भगवती त्रिपुरा का न कोई रूप है और न आकृति ही। वह तो सबके हृदय में शुद्ध चैतन्य ब्रह्म के रूप में विद्यमान है। फिर भी अपने एकनिष्ठ शरणागत भक्त के लिए तुरन्त मूर्त्त रूप में उसके अन्तःकरण में आविर्भूत होकर उसका मृत्यु-बन्धन काट देती है ॥ ३२–३३ ॥

जब तक कोई व्यक्ति इस कर्त्तव्य रूपी पिशाच के डर से पूरी तरह डर नहीं

नृणां कर्त्तव्यकालाहिसन्दष्टानां कथं शुभम् ।
करालगरलज्वालाक्रान्ताङ्गानामिव क्वचित् ॥ ३५ ॥
कर्त्तव्यविषसंसर्गमूर्च्छितं पश्य वै जगत् ।
अन्धीभूतं न जानाति क्रियां स्वस्य हितात्मिकाम् ॥ ३६ ॥
अन्यथा चेष्टते भूयो मोहमापद्यते पुनः ।
एवंविधो हि लोकोऽयं कर्त्तव्यविषमूर्च्छितः ॥ ३७ ॥
अनादिकालतो भीमे पच्यते विषसागरे ।
यथा हि केचित्पथिकाः प्राप्ता विन्ध्यं महानगम् ॥ ३८ ॥
क्षुधाभरसमाक्रान्ताः फलानि ददृशुर्वने ।
विषमुष्टिफलान्याशु तिन्दुकस्य फलेहया ॥ ३९ ॥
भक्षयामासुरत्यन्तक्षुधानष्टरसेन्द्रियाः ।
अथ ते तद्विषज्वालाज्वलिताङ्गाः सुपीडिताः ॥ ४० ॥
अन्धीभूता विचिन्वन्तस्तद्विषोष्णप्रशान्तये ।
अविदित्वा मुष्टिफलं तिन्दुफलनिषेवणात् ॥ ४१ ॥
मत्वा ज्वालां निजे देहे धत्तूरफलमासदुः ।
भ्रान्त्या जम्बीरबुद्धया तत् सर्वैरासीत् सुभक्षितम् ॥ ४२ ॥

जाता तब तक उसे सुख नसीब नहीं होता। वह सदैव प्रेताविष्ट व्यक्ति की तरह पागल बना रहता है ॥ ३४ ॥

जिसे कर्त्तव्यरूपी काले नाग ने डँसा हो, जिसकी सारी देह में उसका जानलेवा जहर छहर गया हो; उस जहर की ज्वाला में जिस व्यक्ति का अंग-प्रत्यंग जलता हो, भला उसका कल्याण कैसे हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

देखो, यह सारी दुनिया कर्त्तव्य-जहर के प्रभाव में बेहोश होकर अन्धी हो गई है। उसे अपने हित की बात भी नहीं सूझती ॥ ३६ ॥

वह बार-बार उलटे काम करता है और मोहजनित भ्रमजाल में फँसता रहता है। कर्त्तव्य रूपी जहर पीकर बेहोश बना व्यक्ति अनादिकाल से इस विषसागर में गोता लगा रहा है ॥ ३७½ ॥

एक बार कुछ घुमक्कड़ों की एक टोली घूमते-फिरते विन्ध्याचल की घाटी में जा पहुँची। भख के मारे उनके पेट में चूहे कूदने लगे। उनकी जीभ का स्वाद बिगड़ गया। पेट की आग बुझाने के लिए फल की खोज में वे आगे बढ़े। सामने कुचला का एक पेड़ फल से लदा था। उन्होंने उन्हें काजू का फल समझकर भरपेट खा लिया ॥ ३८–३९½ ॥

कुछ ही देर में कुचले के जहर का नशा उन पर छा गया। इससे उन्हें बड़ी बेचैनी महसूस होने लगी। उन्हें यह तो पता था ही नहीं कि उन पर कुचले का नशा

उन्मत्ताश्च ततोऽभूवन् मार्गाद् भ्रष्टाश्च ते तदा ।
अन्धीभूयातिगहने पतन्तो निम्नभूमिषु ।। ४३ ।।
कण्टकैश्चितसर्वाङ्गा भग्नबाहूरुपादकाः ।
अधिक्षिपन्तश्चान्योऽन्यं कलहश्चक्रुरुच्चकैः ।। ४४ ।।
मुष्टिभिश्च शिलाभिश्च काष्ठैर्जघ्नुः परस्परम् ।
अथ ते दीर्णसर्वाङ्गाः पुरं क्वचित् समासदुः ।। ४५ ।।
निशीथे दैववशतः पुरद्वारमुपाययुः ।
पुरद्वाराधिपालैस्ते प्रतिरुद्धाः प्रवेशने ।। ४६ ।।
देशकालानभिज्ञानात् कलहश्चक्रुरुच्चकैः ।
अथ ते प्रहृता द्वारपालैरतितरां यदा ।। ४७ ।।
तदा पलायनपरा बभूवुः परितस्तु ते ।
पतिताः परिखे केचिद् भक्षिता मकरादिभिः ।। ४८ ।।
केचित् खातेषु कूपेषु पतिताः प्राणमुत्सृजुः ।
अपरे तैर्विनिहताः केचिज्जीवग्रहं गता ।। ४९ ।।

सवार है। उन्होंने इसे काजू खाने का ही दुष्परिणाम समझा। नशा उतारने के लिए उपचार की खोज में अन्धे की तरह वे घाटी में भटकने लगे। सामने उन्हें धतूरे के फल दिखलाई पड़े। नशे की झोंक में उन सभी ने उन्हें नींबू समझ कर खा लिया ।। ४०–४२ ।।

इससे वे और अधिक उन्मत्त हो गये। घाटी में राह भूलकर भटक गये। कहीं जंगली काँटों में उलझते तो कहीं गड्ढों में गिरते ।। ४३ ।।

काँटों से उनकी देह छलनी हो गयी। हाथ, पैर और घुटने घायल हो गये। वे आपस में एक-दूसरे को बुरा-भला कहना शुरू किया। झगड़ा गहरा गया ।। ४४ ।।

फिर मुक्के, घूँसे, पत्थर और लाठियाँ चलने लगीं। सभी घायल और लहू-लुहान देह लिए किसी तरह एक नगर के पास जा निकले ।। ४५ ।।

आधी रात में इस स्थिति में इन्हें नगरद्वार पर उपस्थित देखकर द्वारपाल ने इन्हें नगर में घुसने से रोक दिया।। ४६ ।।

फिर क्या था ? एक तो कड़वी दूजे चढ़ा नीम पर, नशे में धुत्त इन्हें न तो स्थान का बोध था और न समय का ज्ञान; उलझ गये द्वारपालों से। द्वारपालों ने इन्हें जब कसकर पीट दिया ।। ४७ ।।

तब सिर पर पैर रखकर इधर-उधर भागने लगे। उनमें से कुछ तो नगर की खाई में जा गिरे, जिन्हें मगर आदि जल-जन्तुओं ने खा लिया ।। ४८ ।।

और कुछ गड्ढों और कुँओं में गिरकर जान गँवा दिये। शेष मार खाकर किसी तरह वहाँ से भाग निकलने में सफल हो गये ।। ४९ ।।

एवं जना हितेच्छाभिः कर्त्तव्यविषमूर्च्छिताः ।
अहो विनाशं यान्त्युच्चैर्मोहेनान्धीकृताः खलु ।। ५० ।।
धन्योऽसि भार्गव त्वन्तु यस्मादभ्युदयं गतः ।
विचारः सर्वमूलं हि सोपानं प्रथमं भवेत् ।। ५१ ।।
परश्रेयोमहासौधप्राप्तौ जानीहि सर्वथा ।
सुविचारमृते क्षेमप्राप्तिः कस्य कथम्भवेत् ।। ५२ ।।
अविचारः परो मृत्युरविचारहता जनाः ।
विमृश्यकारी जयति सर्वत्राभीष्टसङ्गमात् ।। ५३ ।।

इसी तरह संसारी जीव अपने कल्याण की कामना से कर्त्तव्य रूपी जहर पीकर नशे में मदहोश बने हैं। मोहान्ध होकर अपने विनाश की ओर ही भाग रहे हैं ।। ५० ।।

विशेष—कर्त्तव्य क्या है ? जिसे परशुरामजी ने जहरीला काला नाग कहा है और उनके गुरु ने कुचला और धतूरे के नशा से तुलना की है । साधारणतः संसार में जो कर्त्तव्य के नाम से जाना जाता है; वह सांसारिक आसक्ति या राग है और अपने आपको भुलाने का उपाय है । मनुष्य दुःख में है और अपने आपको भूलना चाहता है । तथाकथित कर्त्तव्य के माध्यम से वह अपने आपसे बहुत दूर चला जाता है । कर्त्तव्य के बहाने वह अपने आप को किसी और में भुला देता है । तथाकथित सांसारिक कर्त्तव्य मादक द्रव्यों का काम कर देता है । वह दुःख से मुक्ति नहीं लाता, केवल दुःखों के प्रति मूर्च्छा ला देता है । यह केवल कर्त्तव्य का सम्बन्ध रूप ही कहा जा सकता है । यह वस्तुतः कर्त्तव्य नहीं कर्त्तव्य का आभास मात्र है, केवल भ्रम है । कर्त्तव्य का यह भ्रमरूप दुःख से उत्पन्न होता है । दुःख की अनुभूति व्यक्ति की चेतना को दो दिशाओं में विभक्त कर देती है । एक दिशा है उसे भूलने की और एक दिशा है उसे विसर्जित करने की । जो दुःख विस्मृति की दिशा पकड़ता है, वह जाने-अनजाने किसी-न-किसी प्रकार की कुचले या धतूरे के तरह की मूर्च्छा या मादकता की खोज करता है । दुःख-विस्मरण में आनन्द का आभास ही हो सकता है, क्योंकि जो है उसे बहुत देर तक भूलना असम्भव है । यह आभास ही सुख है । निश्चय ही यह सुख बहुत क्षणिक है । साधारणतः कर्त्तव्य नाम से जाने जाने वाले कर्त्तव्य ऐसे ही मूर्च्छा, विस्मरण या नशा में चित्त की स्थिति है । इसीलिए यह चेतावनी है ।

हे भृगुनन्दन ! आज तुम्हारे मनोरथ की सिद्धि हुई, क्योंकि तुम्हारे मन में विचार का उदय हुआ है । तुम धन्य हो । विचार ही सब शुभकर्मों की जड़ है । परम कल्याणरूपी इस विशाल भवन में प्रवेश की पहली सीढ़ी इस विचार को ही जानो । सुन्दर विचार के बिना भला कोई प्राप्त वस्तु की रक्षा कैसे कर सकता है ? ।। ५१-५२ ।।

अविवेक या विचारहीनता सबसे बड़ी मौत है; क्योंकि विचारहीनता के कारण

अविचारहता दैत्या यातुधानाश्च सर्वशः ।
विचारपरमा देवाः सर्वतः सुखभागिनः ॥ ५४ ॥
विचाराद्विष्णुमाश्रित्य जयन्ति प्रत्यरीन् सदा ।
विचारः सुखवृक्षस्य बीजमङ्कुरशक्तिकम् ॥ ५५ ॥
विराजते विचारेण पुरुषः सर्वतोऽधिकः ।
विचाराद्विधिरुत्कृष्टो विचारात्पूज्यते हरिः ॥ ५६ ॥
सर्वज्ञस्तु विचारेण शिव आसीन्महेश्वरः ।
अविचारान्मृगासक्तो रामो बुद्धिमतां वरः ॥ ५७ ॥
परमामापदं प्राप्तो विचारादथ वारिधिम् ।
बद्ध्वा लङ्कापुरीं रक्षोगणाकीर्णां समाक्रमत् ॥ ५८ ॥
अविचाराद्विधिरपि मूढो भूत्वाभिमानतः ।
शिरश्छेदं समगमदिति संस्तुतमेव ते ॥ ५९ ॥

सब के सब विनष्ट होते हैं। विवेकी व्यक्ति ही हर जगह अभीप्सित वस्तु पाकर अन्तिम सफलता हासिल कर लेता है ॥ ५३ ॥

विचारहीनता के कारण ही शक्तिसम्पन्न दैत्यों और राक्षसों का विनाश संभव हुआ है तथा सुविचार के कारण ही देवगण हर सुख के अधिकारी बने हैं ॥ ५४ ॥

अपने सुविचार के कारण ही सुरगण भगवान् विष्णु का सहारा लेकर सदैव अपने शत्रुओं पर विजयी रहे हैं। सुविचार ही सुखरूपी वृक्ष का बीज है, सुख के अंकुर फूटने की ताकत तो इसी में निहित है ॥ ५५ ॥

विचार के कारण ही मनुष्य प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ है। इसी विचार के कारण विधि सर्वाधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं और भगवान् विष्णु की पूजा हर जगह इसी विचार के कारण होती है ॥ ५६ ॥

इसी विचार के कारण भगवान् शिव महान् देवता तथा सब कुछ जाननेवाले हैं। और अपने अविवेक के कारण ही बुद्धिमानों में सर्वाधिक श्रेष्ठ होने के बावजूद श्रीराम ने सोने के हिरण के पीछे दौड़कर बड़ी विपत्ति मोल ली। फिर विचार का सहारा लेकर ही उन्होंने सागर पर पुल बनवाया और शक्तिशाली राक्षसों से भरी लंका पर चढ़ाई कर विजय हासिल की ॥ ५७–५८ ॥

विचार का पल्ला छूट जाने के कारण ही अपने घमण्ड में चूर बेवकूफ ब्रह्मा ने अपना एक सिर कटवा लिया था—यह बात तो तुमसे पहले ही कही जा चुकी है ॥ ५९ ॥

विशेष—एक पौराणिक गाथा के अनुसार विधि के पहले पांच मुख थे। एक बार महाश्वेता लावण्यमयी सरस्वती को सभाभवन में देखकर ब्रह्माजी कामातुर हो गये। विवेक का पल्ला छूट गया। बुद्धिहीनता शरीर पर सवार हुई। घमण्ड ने उन्हें

महादेवोऽविचारेण वरं दत्त्वा सुराय वै।
भस्मीभावात् स्वस्य भीतः पलायनपरोऽभवत् ॥ ६० ॥
अविचाराद्धरिः पूर्वं भृगुपत्नीं निहत्य तु।
शापेन परमं दुःखमाप्तमत्यन्तदुःसहम् ॥ ६१ ॥

अपने आगोश में समेट लिया। उन्होंने आगे देखा न पीछे, बढ़ गये सर्वशुक्ला सरस्वती की ओर। उन्हें इनकी मनःस्थिति समझते देर न लगी। वह सभाभवन छोड़कर भयातुर हो भाग चली। भगवान् शिव से यह स्थिति देखी न गई। मर्यादा-भङ्ग की स्थिति देखकर उनकी भृकुटी तन गयी। पहले शिव ने इनकी काफी भर्त्सना की। फिर त्रिशूल उठाकर विधि का एक सिर काट डाला। उसी दिन से ब्रह्मा चतुरानन हो गये।

एक बार भगवान् शिव ने बिना विचारे भस्मासुर को वर दे डाला और फिर उसी वर के प्रभाव से स्वयं के भस्म होने की सम्भावना से डरकर भागते फिरे ॥ ६० ॥

विशेष – पुराण में वर्णित एक कथा के अनुसार वृकासुर नाम का एक प्रसिद्ध दैत्य था। उसने घोर तप किया। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर औघड़दानी शिव ने परिणाम सोचे बिना ही वृकासुर को वरदान दे डाला। वह वरदान यह था कि वह जिसके सिर पर हाथ रखेगा वह जलकर भस्म हो जायेगा। वह अब वृकासुर से भस्मासुर बन गया। एक बार शिव की अर्द्धाङ्गिनी जगज्जननी, विश्वमोहिनी, त्रिलोक सुन्दरी भवानी पर उसकी आँखें टिक गयीं। वह उन पर मोहित होकर भगवान् शिव को ही जला डालने की ठान ली। भयातुर शिव भाग चले। स्थिति की गम्भीरता भाँप कर श्रीकृष्ण ने युक्ति से उसका हाथ उसी के सिर पर रखवाकर उसे भस्म कर डाला।

बहुत दिन पहले भृगु ऋषि की पत्नी को विचारहीनता के कारण ही भगवान् विष्णु ने मार डाला। फिर, उनके श्राप से अत्यन्त असहनीय आपत्ति में जा फँसे ॥ ६१ ॥

विशेष – भृगुवंश के पूर्व पुरुष एक महान् ऋषि के रूप में विख्यात भृगु हैं। इस वंश का परिचय मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के पैंतीसवें श्लोक में मिलता है। मनु से उत्पन्न दस मूल पुरुषों में से ये एक हैं। एक बार जब ऋषियों का इस बात पर मतैक्य न हो सका कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव में से कौन-सा देवता ब्राह्मणों की पूजा का श्रेष्ठ अधिकारी है। भृगु को इन तीनों देवों के चरित्र का परीक्षण करने के लिए भेजा गया। सर्वप्रथम वे ब्रह्मलोक पहुँचे। ब्रह्माजी को उन्होंने प्रणाम नहीं किया। उनकी इस अशिष्टता के कारण ब्रह्मा ने उन्हें काफी फटकारा। फिर क्षमा माँगने पर शान्त हो गये। इसके बाद उन्होंने कैलाश पर्वत पर पहुँचकर शिव-दर्शन किया। यहाँ भी ब्रह्मलोक की तरह उन्होंने शिष्टाचार का पालन नहीं किया। भगवान् शिव को प्रणाम किये बिना ही एक ओर बैठ गये। प्रतिहिंसा परायण क्रुद्ध

एवमन्ये सुरा देवा यातुधाना नरा मृगाः ।
अविचारवशादेव विपदं प्राप्नुवन्ति हि ॥ ६२ ॥
महाभागास्ते हि धीरा यान् कुत्रापि च भार्गव ।
विजहाति विचारो नो नमस्तेभ्यो निरन्तरम् ॥ ६३ ॥
कर्त्तव्यमविचारेण प्राप्यमुह्यन्ति सर्वतः ।
विचार्य कृत्वा सर्वेभ्यो मुच्यतेऽपारसङ्कटैः ॥ ६४ ॥

शिव उन्हें भस्म करना ही चाह रहे थे कि उन्होंने अपने मृदु शब्दों से उन्हें शान्त कर दिया ।

एक अन्य वृत्तान्त के अनुसार ब्रह्मा ने भृगु का आदर-सत्कार नहीं किया । अतः क्रुद्ध भृगु ने उन्हें श्राप दिया कि संसार में उसकी आराधना या पूजा नहीं होगी । शिव को भी लिङ्ग बन जाने का श्राप दिया । क्योंकि भृगु जब उनसे मिलने गये तो वे इनसे मिल न सके, क्योंकि उस समय शिव भवानी के साथ विराजमान थे । अन्त में भृगु विष्णु के पास पहुँचे । उस समय भगवान् विष्णु सोये थे । भृगु ने विष्णु की छाती पर पैर से ठोकर मारी । उनकी आँखें खुल गईं । कुछ होने के बजाय विष्णु ने बड़ी विनम्रता से उन्हें पूछा कि कहीं उनके पैर में चोट तो नहीं लग गई । यह कहकर उन्होंने भृगु का पैर धीरे-धीरे सहलाना शुरू किया । तब भृगु ने घोषणा की कि यह विष्णु ही सर्वाधिक बलशाली देवता हैं । क्योंकि उन्होंने अपने सर्वशक्तिशाली शस्त्र कृपालुता और उदारता से अपना स्थान सर्वप्रमुख बना लिया । अतः भगवान् विष्णु ही सब की पूजा के सर्वोत्तम अधिकारी समझे गये ।

जमदग्नि ऋषि का नाम भी भृगु है । परशुराम के रूप में विष्णु उनके पुत्र के रूप में अवतरित हो चुके थे । इसने अपनी बाल्यावस्था में ही अपने पिता की आज्ञा से जबकि उसके भाइयों में से कोई भी तय्यार न हुआ, अपनी माता रेणुका का सिर काट डाला था । विष्णु के ये छठे अवतार माने जाते हैं ।

क्षत्रियरुधिरमये जगदपगतपापं स्नपयसि पयसि शमितभवतापम् ।
केशव धृतभृगुपतिरूप जय जगदीश हरे ॥ गी० गो० ॥

इसी कथा की ओर इस श्लोक का संकेत है ।

इसी तरह देव, दानव, मानव एवं मृग आदि अपनी विचारहीनता के कारण ही विपत्ति के जाल में जा फँसते हैं ॥ ६२ ॥

हे भार्गव ! ऐसे पुरुष भाग्यवान् हैं जिन्हें किसी भी परिस्थिति में विवेक साथ नहीं छोड़ता । इन्हें बार-बार प्रणाम है ॥ ६३ ॥

अविवेक के कारण ही कोई अकर्त्तव्य को कर्त्तव्य मानकर मोह जाल में फँस जाते हैं । जो कोई विवेक-सम्मत काम करता है, वह अपार संकट से भी छुटकारा पा लेता है ॥ ६४ ॥

एवं लोकांश्चिरादेषोऽविचारः सङ्गतोऽभवत् ।
यस्याविचारो यावत् स्यात् कुतस्तावद्विमर्शनम् ॥ ६५ ॥
ग्रीष्मभीष्मकरातप्ते मरौ क्व शिशिरं जलम् ।
एवं चिराविचाराग्निज्वालामालापरीवृते ॥ ६६ ॥
विचारशीतलस्पर्शः कथं स्यात् साधनं विना ।
साधनन्त्वेकमेवात्र परमं सर्वतोऽधिकम् ॥ ६७ ॥
सर्वहृत्पद्मनिलयदेवतायाः परा कृपा ।
तां विना स्यात् कथं कस्य महाश्रेयः सुसाधनः ॥ ६८ ॥
विचारार्कोऽविचारान्धमहाध्वान्तनिबर्हणः ।
तत्र मूलं भवेद्भक्त्या देवतापरिराधनम् ॥ ६९ ॥
राधिता परमा देवी सम्यक् तुष्टा सती तदा ।
विचाररूपतां याति चित्ताकाशे रविर्यथा ॥ ७० ॥
तस्मान्निजात्मरूपां तां त्रिपुरां परमेश्वरीम् ।
सर्वान्तरनिकेतां श्रीमहेशीं चिन्मयीं शिवाम् ॥ ७१ ॥
आराधयेदकापट्यात् सद्गुरुद्वारतः क्रमात् ।
आराधनेऽपि मूलं स्याद्भक्तिः श्रद्धा च निर्मला ॥ ७२ ॥

इस तरह बहुत दिनों से अविवेक ने ही लोगों को अपने प्रभाव में उलझा रखा है। और जब तक किसी पर अविवेक का अधिकार है तब तक वह सही विचार कर ही नहीं सकता है ॥ ६५ ॥

जेठ की तपती दुपहरिया में एक बूंद ठंडे पानी के लिए मरुभूमि में तड़पते प्राणी की तरह, जिनका दिल अविवेक की आग में झुलस गया हो, उन्हें साधना के बिना विवेक का शीतल स्पर्श कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके लिए तो सर्वाधिक श्रेष्ठ साधन एक ही है ॥ ६६–६७ ॥

और वह है—सबके हृदय-कमल में निवास करनेवाली त्रिपुरसुन्दरी की परम कृपा। इसके बिना किसी को परम कल्याण की प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥ ६८ ॥

अविवेक के कारण अन्धे बने लोगों के अज्ञान रूपी घोर अन्धकार को विवेक का सूर्य ही तो विनष्ट कर सकता है। और विवेक के सूर्योदय का मूल कारण तो भक्ति-भाव से त्रिपुरसुन्दरी की आराधना मात्र है ॥ ६९ ॥

साधक की आराधना से प्रसन्न होकर महादेवी त्रिपुरा उसके हृदयाकाश में विचाररूप में परिणत हो सूर्य की तरह चमक उठती है ॥ ७० ॥

अपनी ही आत्मा के रूप में सबके हृदय में निवास करनेवाली, परम ऐश्वर्य-शालिनी, परमात्मरूपा, मंगलमयी त्रिपुरसुन्दरी भवानी हैं। सद्गुरु से दीक्षा ग्रहण कर निश्छल भाव से उनकी आराधना करनी चाहिए। उनकी आराधना में भी निर्मलता, श्रद्धा और भक्ति ही प्रधान कारण है ॥ ७१–७२ ॥

तत्रापि मूलं माहात्म्यश्रवणं परिकीर्त्तितम् ।
अतस्ते प्रथमं राम माहात्म्यं सम्प्रवर्त्तितम् ॥ ७३ ॥
तेन श्रुतेनाधुना त्वं प्राप्तवानसि मङ्गलम् ।
विचारं श्रेयसो मूलं यस्मात्ते न हि भीरितः ॥ ७४ ॥
विचारोदयपर्यन्तं भयमस्ति महत्तरम् ।
अविचारात्मदोषेण ग्रस्तस्य प्रतिवासरम् ॥ ७५ ॥
यथा हि सन्निपातेन ग्रस्तस्यौषधसेवनात् ।
अपि तावद्भवेद् भीतिर्यावद्धातोरशुद्धता ॥ ७६ ॥
प्राप्ते विचारे परमे फलितं जीवितं नृणाम् ।
यावत् सुजन्म सुनृणां विचारो न भवेत् परः ॥ ७७ ॥
तावन्तो जन्मतरवो वन्ध्या विफलहेतुतः ।
स एव सफलो जन्मवृक्षो यत्र विमर्शनम् ॥ ७८ ॥
कूपमण्डूकसदृशा ये नरा निर्विमर्शनाः ।
यथा कूपे समुत्पन्नो भेको नो वेद किञ्चन ॥ ७९ ॥
शुभं वाप्यशुभं वापि कूपे एव विनश्यति ।
तथा जना अपि वृथोत्पन्ना ब्रह्माण्डकूपके ॥ ८० ॥

हे परशुराम ! पहले भी मैंने तुम्हारे सामने देवी त्रिपुरा की महिमा का बखान किया था । यह माहात्म्य श्रवण ही इनकी उपासना की जड़ है ॥ ७३ ॥

उनकी महिमा सुनने के कारण ही तुम में माङ्गलिक विचार का उदय हुआ है । अतः अब तुम्हें संसार में किसी तरह का भय नहीं है ॥ ७४ ॥

जब तक मन में सुविचार का उदय नहीं हो जाता तब तक अविवेकी पुरुष में हर पल, हर दिन यह भय तो बना ही रहता है ॥ ७५ ॥

सन्निपात रोग से पीड़ित व्यक्ति औषधि-सेवन के बावजूद तब तक डरता रहता है जब तक उसमें धातुओं की अशुद्धि शेष रहती है ॥ ७६ ॥

विशेष – सन्निपात—आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में जब किसी व्यक्ति के शरीर में कफ, पित्त और वात तीनों एक साथ कुपित होकर आक्रमण करते हैं तब इस अवस्था को सन्निपात कहते हैं ।

धातु—जो शरीर का धारण करता है, उसे धातु कहते हैं । आयुर्वेद के अनुसार शरीरस्थ सात धातुएँ मानी गयी हैं – रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ।

विचारवान् व्यक्ति का ही मानव-जीवन सफल माना जाता है । उत्तम मनुष्य-योनि मिलने पर भी जिस व्यक्ति में विचार का उदय नहीं हुआ हो, उसका जन्मवृक्ष ठूंठ या बाँझ है । जीवन-वृक्ष का फल तो विवेक ही होता है ॥ ७७–७८ ॥

विचारहीन व्यक्ति कुएँ में रहनेवाले मेंढक की तरह होते हैं । जैसे कुएँ में जन्म

शुभं वाप्यशुभं वापि न विदुः स्वात्मनः क्वचित् ।
उत्पद्योत्पद्य नश्यन्ति न जानन्ति स्वकं हितम् ॥ ८१ ॥
सुखबुद्धिश्च दुःखेषु सुखे दुःखविनिश्चयम् ।
प्राप्याविचारमाहात्म्यात् पच्यन्ते सृतिपावके ॥ ८२ ॥
दुःखेन क्लिश्यमानाश्च न कथञ्चित् त्यजन्ति तत् ।
यथा पादशताघातैस्ताडितोऽपि महाखरः ॥ ८३ ॥
रासभीमनुयात्येव तथा संसरणं जनः ।
त्वन्तु राम विचारात्मा पारं दुःखस्य सङ्गतः ॥ ८४ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विचारमाहात्म्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

लेनेवाला मेंढक कुएँ से बाहर की अच्छी या बुरी कोई बात नहीं जानता और कुएँ में ही समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार विचारहीन व्यक्ति का इस ब्रह्माण्डकूप में जन्म निरर्थक ही होता है ॥ ७९-८० ॥

ऐसे लोगों को अपने हित या अहित का कुछ भी ज्ञान नहीं होता है। ये बार-बार जन्म लेते और मरते हैं। अपना हित नहीं समझते ॥ ८१ ॥

अपने अविवेक के कारण ही पुत्र-कलत्र जो दुःख के साधन हैं उन्हें ये सुख समझते हैं और सुख के साधनभूत वैराग्य को दुःख मानकर संसार की भट्ठी में जलते रहते हैं ॥ ८२ ॥

दुःख के कारणभूत स्त्री-पुत्रादि से बार-बार कष्ट पाकर भी अविवेकी उन्हें नहीं छोड़ते, ठीक उसी प्रकार जैसे गदही की सैकड़ों लात खाने के बावजूद गदहा उसका पीछा नहीं छोड़ता। किन्तु हे परशुराम ! तुम अब इस सांसारिक दुःख को पार कर चुके हो ॥ ८३-८४ ॥

विशेष — द्वितीय अध्याय के अन्तिम सन्दर्भ में दत्तात्रेयजी ने मनुष्य की विचार शक्ति का विवेचन प्रस्तुत किया है। निश्चय ही मानव-जीवन में विचार से बड़ी कोई शक्ति नहीं है। विचार ही व्यक्तित्व का प्राण है। उसके केन्द्र पर ही जीवन का प्रवाह घूमता है। मनुष्य में वही सब प्रकट होता है, जिसके बीज वह विचार की भूमि में बोता है। विचार की सजगता ही मनुष्य को अविचार की पशुता से भिन्न करती है।

इसके पूर्व हम कुछ कर सकें, हमारी वैचारिक सत्ता का जागरण, हमारी आत्मा, हमारे व्यक्ति का होश में आना आवश्यक है। अविचार की अराजक भीड़ की जगह विचार हो, बहुचित्तता की जगह चैतन्य हो, तो हममें अवैचारिक प्रतिकर्म की जगह कर्म का जन्म हो सकता है। व्यक्ति केन्द्र उपलब्धि तो विचार से ही सम्भव है।

जन्म और मृत्यु के चक्र से मुक्ति का साधन एकमात्र सद्विचार ही है। मनुष्य जीवन और मृत्यु का मिलन है। मनुष्य चेतना और जड़ता का संगम है। जिस दिन जन्म होता है उसी दिन से मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। मृत्यु आकस्मिक नहीं होती,

वह तो जन्म का ही विकास है। जो वास्तविक जीवन की प्राप्ति के लिए विचार नहीं करते, वे केवल मृत्यु की ओर ही अग्रसर हैं। विचार का सहारा लेकर या तो हम और बृहत्तर तथा विराट् जीवन में पहुँच सकते हैं या संसार चक्र में ही भटकते रह सकते हैं। जिन्होंने विचारपूर्वक सत्य जीवन की ओर अपने को गतिमान् नहीं किया है, मृत्यु के अतिरिक्त उनका भविष्य क्या हो सकता है ?

मनुष्य में विचार करने की जो शक्ति है, वह उसकी सबसे बड़ी सम्भावना है। यह उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। विचार से बहुमूल्य मानव-जीवन में और कुछ नहीं है। विचार के आधार पर चलकर वह स्वयं तक और सत्ता तक पहुँच सकता है। वह जीवन बृहत्तर जीवन और ब्रह्म की दिशा है।

विचारशक्ति अविचार से मुक्त होते ही जागने लगती है। जब तक अविचार के जाल में मनुष्य फँसा सांसारिक वस्तु में लिपटे रहने की वृत्ति रखेगा तब तक विचार की स्वशक्ति के जागरण का कोई हेतु नहीं हो सकता। अविचार की वैशाखियाँ छोड़ते ही स्वयं के पैरों से चलते रहने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न होने से मृत पड़े पैरों में अनायास विचार का रक्त-संचार होने लगता है। फिर चलने से ही चलना आता है।

अविचार से मुक्त होते ही आप देखेंगे कि स्वयं की अन्तःसत्ता से कोई नई ही शक्ति जाग रही है। किसी अभिनव और अपरिचित ऊर्जा का आविर्भाव हो रहा है। जैसे अन्धे को अचानक आँखें मिल गयीं हों या अँधेरे घर में अचानक दीया जल गया हो। विचार की शक्ति जब जागती है तो अन्तर्हृदय आलोक से भर जाता है। विचार-शक्ति का उद्भव होते ही जीवन को आँखें मिल जाती हैं। और जहाँ आलोक है वहाँ आनन्द है और जहाँ आँख हैं वहाँ मार्ग निष्कण्टक है। जो जीवन अविचार के कारण दुःखमय हो जाता है, वही जीवन विचार के आलोक में संगीतमय बन जाता है। गुरु दत्तात्रेय ने परशुराम को इसी वैचारिक शक्ति का परिचय कराया है।

दूसरा अध्याय समाप्त।

———

तृतीयोऽध्यायः

दत्तात्रेयप्रोक्तवचः श्रुत्वात्यन्तसुकौतुकी ।
जामदग्न्यः पुनरपि पप्रच्छ विनयान्वितः ॥ १ ॥
भगवन् गुरुणाऽथोक्तं भवता यत्तथैव तत् ।
अविचारात्परो नाशः सम्प्राप्तः सर्वथा जनैः ॥ २ ॥
विचारेण भवेच्छ्रेयस्तन्निदानमपि श्रुतम् ।
माहात्म्यश्रुतिरित्येव तत्र मे संशयो महान् ॥ ३ ॥
कथं वा तदपि प्राप्यं साधनं तत्र किं भवेत् ।
स्वाभाविकं तद्यदि स्यात्तत् सर्वैर्न कुतः श्रुतम् ॥ ४ ॥
अहं वाद्यावधि कुतः प्रवृत्तिं नाप्तवानिह ।
दुःखं मत्तोऽधिकं प्राप्ता विहताश्च पदे पदे ॥ ५ ॥
न कुतः साधनं प्राप्ता एतन्मे कृपया वद ।
इत्यापृष्टः प्राह भूयो हृष्टो दत्तो दयानिधिः ॥ ६ ॥
शृणु राम प्रवक्ष्यामि निदानं श्रेयसः परम् ।
सद्भिः सङ्गः परं मूलं सर्वदुःखनिबर्हणम् ॥ ७ ॥

गुरु दत्तात्रेय की बातें सुनकर परशुरामजी विस्मयविमूढ़ हो गये । उन्होंने बड़े ही विनत भाव से उनसे पुनः पूछा ॥ १ ॥

भगवन् ! आपने जो कुछ जैसे कहा, बातें ठीक वैसी ही हैं । अविचार के कारण ही लोगों को बड़ी-से-बड़ी हानि आज तक उठानी पड़ी है ॥ २ ॥

अतः विचार से ही कल्याण की सम्भावनाएँ हैं और उनका निदान भगवती की महिमा का श्रवण भी मैंने सुना है । किन्तु इस सन्दर्भ में मुझे एक बड़ी शङ्का है ॥३॥

महिमा सुनने का अवसर भी कैसे मिले ? इस पाने का उपाय क्या है ? यदि आप कहें कि यह तो सबके लिए सभी जगह सामान्य रूप से उपलब्ध है तो सवाल उठता है कि फिर सबों ने इसे सुना क्यों नहीं ? ॥ ४ ॥

अथवा आजतक मुझे ही यह सुनने की इच्छा क्यों न हुई ? संसार में ऐसे बहुत सारे लोग हैं, जिन्हें मुझसे भी ज्यादा कष्ट है और जो हर पग पर ठोकर खा रहे हैं; उन्हें भला इस साधन की उपलब्धि क्यों नहीं हुई ? कृपया इसका कारण बताने का कष्ट करें । विनत भाव से पूछने पर प्रसन्न दयालु दत्तात्रेयजी ने पुनः कहना प्रारम्भ किया ॥ ५-६ ॥

सुनो परशुराम ! इस परम कल्याण का मूल कारण मैं तुम्हें बतलाता हूं। सभी

परमार्थफलप्राप्तौ बीजं सत्सङ्ग उच्यते ।
त्वं चापि तेन हि सता संवर्त्तेन महात्मना ॥ ८ ॥
सङ्गतः सन्निमां प्राप्तो दशां श्रेयःफलोदयाम् ।
सन्त एव हि संयाता दिशन्ति परमं सुखम् ॥ ९ ॥
विना सत्सङ्गतः केन प्राप्तं श्रेयः परं कदा ।
लोकेऽपि यादृशं सङ्गं यो यः प्राप्नोति मानवः ॥ १० ॥
तत्फलं स समाप्नोति सर्वथा न हि संशयः ।
अत्रेति कीर्त्तयिष्यामि शृणु राम कथामिमाम् ॥ ११ ॥
पुरा दशार्णाधिपतिर्मुक्ताचूड इतीरितः ।
तस्य पुत्रो हेमचूडमणिचूडौ बभूवतुः ॥ १२ ॥
सुरूपौ सुगुणौ चोभौ सर्वविद्याविशारदौ ।
कदाचिन्मृगयोत्साहात् सेनाभिः परिवारितौ ॥ १३ ॥
सह्याचलवनं भीमं सिंहव्याघ्रादिसङ्कुलम् ।
महाबलौ विविशतुर्धनुर्बाणधरौ किल ॥ १४ ॥
अथ तत्र मृगान् सिंहान् वराहान् महिषान् वृकान् ।
जघ्नतुर्निशितैर्बाणैर्लाघवात् कार्मुकच्युतैः ॥ १५ ॥

प्रकार के दुःखों का निवारक, सर्वाधिक प्रधान कारण इसका साधु पुरुषों की सत्संगति ही है ॥ ७ ॥

सत्संग परमार्थ रूपी फल का बीज है। तुम्हें भी सन्तशिरोमणि महात्मा संवर्त्त की संगति से ही परमश्रेय रूपी फल पाने का अवसर मिला है। कोई सन्त ही मिलने पर ऐसा परमसुख प्रदान कर सकते हैं ॥ ८–९ ॥

परमकल्याण की प्राप्ति सत्संग के बिना भला किसे हुई है ? इसमें संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। क्योंकि लोक में भी संगति का फल देखने को मिलता ही है। जैसी संगति वैसा फल। हे परशुराम ! इस प्रसंग में से तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ ॥ १०–११ ॥

बहुत पहले दशार्ण (विन्ध्याचल के पूर्व दक्षिण में स्थित प्रदेश का प्राचीन नाम जहाँ से धसान नदी बहती है) देश का एक प्रसिद्ध राजा था। उसका नाम मुक्तापीड था। उन्हें दो बेटे थे—देवचूड और मणिचूड ॥ १२ ॥

दोनों भाई बड़े खूबसूरत, गुणवन्त और सकल विद्याविशारद थे। एक बार शिकार खेलने की इच्छा से धनुष-बाण लिये वे दोनों महाबली राजकुमार सशक्त सेना के साथ आधुनिक बम्बई प्रान्त का एक प्रसिद्ध सह्य नामक पर्वत की घाटी में अवस्थित बाघ-सिंह से भरे भयंकर जंगल में घुस गये ॥ १३–१४ ॥

वहाँ उन्होंने बड़ी फुर्त्ती से अपने तीखे तीरों से अनेक हरिणों, सिंहों, सूअरों, भैंसों और भेड़ियों को मार गिराया ॥ १५ ॥

एवं विनिघ्नतोर्वन्यान् मृगान् राजकुमारयोः ।
चण्डवायुः प्रादुरासीच्छर्कराश्मप्रवर्षणः ॥ १६ ॥
पांशुभिर्नभ आक्रान्तमभूद्दर्शनिशोपमम् ।
न दृश्यते तत्र शिला वृक्षः पुरुष एव वा ॥ १७ ॥
कुतो नीचोच्चतां पश्येदेवं ध्वान्तावृतो गिरिः ।
निहता शर्करावर्षैः सेनात्यतं पलायिता ॥ १८ ॥
वृक्षान् केचिच्छिलाः केचिद् गुहाः केचिदुपासदुः ।
अश्वारूढौ राजपुत्रावपि दूरं पलायितौ ॥ १९ ॥
हेमचूडः क्वचित्तत्र प्रपेदे तापसाश्रमम् ।
कदलीखर्ज्जूरवनैराक्रान्तमतिसुन्दरम् ॥ २० ॥
तत्रापश्यच्छुभां काञ्चित् कन्यामग्निशिखामिव ।
प्रद्योतमानां वपुषा तप्तहेमसुवर्चसाम् ॥ २१ ॥
तां दृष्ट्वा राजपुत्रोऽपि पद्मामिव सुरूपिणीम् ।
स्मयमान इवाऽपृच्छत् का त्वं पद्मानने वने ॥ २२ ॥
निर्जने भीतिजनने निर्भये वशमास्थिता ।
कस्य त्वमपि केनात्र निवसस्येकला कथम् ॥ २३ ॥

जिस समय वे दोनों राजकुमार जंगली जानवरों का शिकार कर रहे थे, अचानक प्रचण्ड वेगवाली आँधी आई। कंकर, पत्थर और रेतों की वर्षा होने लगी ॥ १६ ॥

धूलिकणों से आकाशमण्डल भर गया। अमावस की काली निशा की तरह घोर अन्धेरा छा गया। फिर वहाँ पत्थर, पेड़-पौधे या मनुष्य कुछ भी नहीं दीखने लगे ॥ १७ ॥

उस पहाड़ पर कुछ ऐसा अन्धेरा छा गया कि ऊँचा-नीचा भी कहीं नहीं दिखाई देता था। बालू की वर्षा से घबड़ाकर सेना भी तितर-बितर हो गई ॥ १८ ॥

भागते सैनिकों में से कुछ ने पेड़ का सहारा लिया तो कुछ शिलाखण्डों के नीचे जा दुबके और कुछ कन्दराओं में जा छुपे। घोड़ों पर सवार दोनों राजकुमार भी दूर निकल भागे ॥ १९ ॥

भागते हुए उनमें से हेमचूड एक ऋषि के आश्रम में जा घुसा। वह आश्रम बड़ा ही रमणीय था। उसके चारों ओर केले और खजूर के पेड़ लगे थे ॥ २० ॥

वहाँ उन्होंने आग की लपट की तरह अत्यन्त कान्तिमयी किसी कन्या को देखा। उसका शरीर तपाये गये सोने की तरह तेजोदीप्त था ॥ २१ ॥

साक्षात् लक्ष्मी की तरह अत्यन्त रूपवती उस कन्या को देखकर मुस्कराते हुए राजकुमार ने पूछा—अरी ओ कमलमुखी ! तुम कौन हो ? अरी ओ निडर ! इस डरावने जनशून्य जंगल में लाचार होकर क्यों रह रही हो ? तुम किसकी बेटी हो ? यहाँ किसके साथ रहती हो ? इस समय अकेली क्यों हो ? ॥ २२–२३ ॥

पृष्टैव प्राह सा कन्या राजपुत्रमनिन्दिता ।
स्वागतन्ते राजपुत्रं विष्टरं प्रतिपद्यताम् ।। २४ ।।
तपस्विनामयं धर्मः पूजनं ह्यतिथेस्तु यत् ।
श्रान्तं त्वामभिपश्यामि व्यथितं चण्डवायुना ।। २५ ।।
बद्ध्वा खर्ज्जूरवृक्षेऽश्वमत्रासीनो गतश्रमः ।
मद्वृत्तमर्हसि श्रोतुमित्युक्तः स तथाकरोत् ।। २६ ।।
फलानि भोजयामास पाययामास सद्रसम् ।
एवं तं विश्रमं प्राप्तं राजपुत्रमनिन्दिता ।। २७ ।।
प्राह सा मधुसंस्रावपेशलाकारया गिरा ।
राजपुत्र व्याघ्रपादो मुनिः शिवपदाश्रयः ।। २८ ।।
येन लोकाः पुण्यतमा जिताः स्वतपसो बलात् ।
परावरज्ञो ह्यनिशं पूजितो मुनिनायकैः ।। २९ ।।
तस्याहं धर्मतः पुत्री हेमलेखेति विश्रुता ।
विद्युत्प्रभाख्या विद्याध्री सा सर्वाङ्गमनोहरा ।। ३० ।।
इमां वेणामनुनदीं स्नातुमभ्याययौ क्वचित् ।
तदा तत्राजगामार्थात् सुषेणो वङ्गभूपतिः ।। ३१ ।।

इस तरह पूछे जाने पर उस निष्कलंक कन्या ने राजकुमार से कहा — राजपुत्र ! आपका सादर अभिनन्दन करती हूँ । आइये, इस आसन पर विराजिये ।। २४ ।।

अतिथि-सत्कार तो तपस्वियों का धर्म है । आप तो मुझे काफी थके-से लगते हैं । इस तूफान ने आपको काफी परेशान कर दिया है ।। २५ ।।

पहले अपने घोड़े को इस खजूर के पेड़ में बाँध दीजिए । इस आसन पर बैठकर कुछ देर विश्राम कर लीजिए । इस बीच मैं आपको अपनी कहानी भी सुना दूँगी । हेमचूड ने उस बाला के कथनानुसार ही किया ।। २६ ।।

ऐसा करने पर उस कन्या ने राजकुमार को कुछ मीठे फल खिलाये । सुस्वादु शीतल जल पीने के लिए दिया । थकान दूर करने के बाद जब कुमार कुछ सुस्थिर हुए तब मीठी आवाज में उस कलकंठी ने कहना शुरू किया—राजकुमार ! परम शिवभक्त व्याघ्रपाद नामक एक मुनि थे ।। २७–२८ ।।

अपने तपोबल से उन्होंने बैकुण्ठ को भी वशवर्त्ती बना लिया था । वे बड़े ब्रह्मज्ञानी थे । बड़े-बड़े मुनिगण दिन-रात उनकी सेवा में लगे रहते थे ।। २९ ।।

मैं उनकी पालिता पुत्री हूँ । लोग मुझे हेमलता के नाम से जानते हैं । विद्युत्प्रभा नाम की एक विद्याधरी थी । उसका अंग-प्रत्यङ्ग आकर्षक था । सारा वदन मन-मोहक था । यहाँ इस वेणा नामक नदी में नहाने आयी । उसी समय वहाँ कहीं से घूमते-फिरते बंगाल के राजा सुषेण भी पहुँच गये ।। ३०–३१ ।।

स ददर्श विगाहन्तीं नदीं तां लोकसुन्दरीम् ।
क्लिन्नांशुकान्तरात्यन्तव्यक्तपीनकुचद्वयीम् ॥ ३२ ॥
कामबाणहतस्तत्र तां प्रार्थयदथापि सा ।
सौन्दर्यमोहिता तस्य तदुक्तिं सममंसत ॥ ३३ ॥
सङ्गम्याथ तया राजा ययौ स्वनगरं प्रति ।
दधार सापि विद्याध्री गर्भं राजर्षिवीर्यतः ॥ ३४ ॥
भीतापचारात् पत्युः सा गर्भं त्यक्त्वात्र संययौ ।
अमोघवीर्याद्राजर्षेर्जाताहं कन्यका ततः ॥ ३५ ॥
मां ददर्श व्याघ्रपादः सन्ध्योपास्त्यर्थमागतः ।
दयया मामुपादायापालयज्जननी यथा ॥ ३६ ॥
धर्मेण यः पालयिता प्रोच्यते हि पितैव सः ।
अहन्तस्य धर्मपुत्री पितृसेवापरायणा ॥ ३७ ॥
तस्य माहात्म्यतो मेऽत्र भयं नास्त्येव कुत्रचित् ।
नायं सुरासुरैर्वापि कदाचिद् दुष्टबुद्धिभिः ॥ ३८ ॥
प्रवेष्टुमाश्रमोऽर्हः स्यात् प्रविशन्नाशमाप्नुयात् ।
एतन्मेऽभिहितं वृत्तं तिष्ठ किञ्चिन्नृपात्मज ॥ ३९ ॥

उस अद्भुत सुन्दरी को उन्होंने नदी में नहाते देखा । पानी में भीगे झीने कपड़ों में लिपटे उसके दोनों पीनपयोधर कहर ढहा रहे थे ॥ ३२ ॥

इसे देखते ही राजा सुषेण कामासक्त हो गये । उन्होंने उस दिव्य सुन्दरी से समागम की प्रार्थना की । राजा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसने भी उनकी बात मान ली ॥ ३३ ॥

रतिक्रिया के बाद राजा अपनी राजधानी लौट गया । परन्तु वह विद्याधरी राजा का शुक्र पेट में धारण कर गर्भवती हो गई ॥ ३४ ॥

पति के भय से डरकर इस व्यभिचार के चिह्न को वहीं छोड़कर वह भी चलती बनी । किन्तु राजा का वीर्य तो अमोघ था । उससे मेरी उत्पत्ति हुई ॥ ३५ ॥

सन्ध्योपासना के लिए जब मुनि व्याघ्रपाद उस नदी के किनारे वहाँ पहुँचे, तो मुझे उस स्थिति में देखकर उनका दिल दया से भर आया । वहाँ से उठाकर मुझे उन्होंने आश्रम पहुँचाया । फिर एक दयालु माँ की तरह आज तक उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया है ॥ ३६ ॥

ये मेरे धर्मपिता हैं और मैं उनकी धर्मपुत्री । अपने पिता की सेवा में मैं यहाँ दिन-रात तत्पर रहती हूँ ॥ ३७ ॥

उनकी महिमा के कारण यहाँ किसी से किसी प्रकार का मुझे डर नहीं । अपने कलुषित विचार के साथ इस आश्रम में न कोई देवता ही प्रवेश कर सकता है और न कोई दानव ही । यदि ऐसा-वैसा कुछ करने का दुःसाहस कोई करेगा तो उसका

आयास्यति स भगवान् पिता मे तं निशामय ।
प्रणम्य तं प्राप्य चेष्टं ततः कल्ये प्रयास्यसि ॥ ४० ॥
हेमलेखावचः श्रुत्वा तत्सौन्दर्येण मोहितः ।
भीतः किञ्चित् प्रवक्तुं तां विमना इव चाभवत् ॥ ४१ ॥
अथालक्ष्य राजपुत्रं कामस्य वशमागतम् ।
प्राह सा विदुषी भूयो राजपुत्र धृतिं भज ॥ ४२ ॥
आगच्छति पिता सद्यस्ततोऽभिलषितं भज ।
एवं वदन्त्यां तस्यां स व्याघ्रपादो महामुनिः ॥ ४३ ॥
आजगाम वनाद्यत्र पुष्पादेः कृतसञ्चयः ।
मुनिं समागतं दृष्ट्वा राजपुत्रः समुत्थितः ॥ ४४ ॥
प्रणम्य नाम संश्राव्योपविष्टस्तेन देशितः ।
अथ दृष्ट्वा राजपुत्रं कामेन विकृताकृतिम् ॥ ४५ ॥
ज्ञात्वा योगदृशा सर्वं मत्वा युक्तञ्च तत्तदा ।
दारक्रियार्थं तस्मै तां हेमलेखां ददौ मुनिः ॥ ४६ ॥
तुष्टो राजकुमारोऽपि तामादाय पुरं ययौ ।
मुक्ताचूडोऽतिसन्तुष्टो महोत्सवविधानतः ॥ ४७ ॥

विनाश निश्चित है। यह रही मेरी कहानी। राजकुमार अब आप यहाँ कुछ देर विश्राम करें ॥ ३८–३९ ॥

मेरे पूज्य पिता भगवान् व्याघ्रपाद अब आते ही होंगे। आप उनके दर्शन करें, उन्हें प्रणाम कर अपना अभीष्ट प्राप्त करें। फिर, कल सबेरे यथास्थान लौट जायें ॥ ४० ॥

हेमलता की सुन्दरता से राजकुमार मुग्ध था। उसकी बातें सुनकर उससे कुछ कहना चाहता था, पर कुछ कहने की हिम्मत न जुटा पाने के कारण उदास होकर चुप लगा गया ॥ ४१ ॥

काम के वशीभूत उसे जानकर बुद्धिमती हेमलता ने उससे फिर कहा—राजकुमार ! धीरज रखो ॥ ४२ ॥

'मेरे पिताश्री आते ही होंगे। तब आप अपने मन की मुराद पूरी कर लेंगे।' वह इतना कह ही रही थी कि मुनि व्याघ्रपाद फल-फूल लिये जंगल से लौट आये। उन्हें आते देख राजकुमार उठकर खड़ा हो गया ॥ ४३–४४ ॥

अपना नाम बतलाते हुए उसने महामुनि को प्रणाम किया। फिर उनका आदेश पाकर बैठ गया। मुनि ने देखा कि कामोन्माद से उसकी आकृति विकृत हो गई थी। योगबल से ध्यानस्थ होकर उन्होंने राजकुमार की सारी स्थिति जान ली तथा इसे उचित ही समझा। उन्होंने पत्नी के रूप में हेमलेखा को उसे समर्पित कर दिया ॥ ४५–४६ ॥

विवाहमकरोत्तस्य विधानेन क्षितीश्वरः ।
अथ राजकुमारोऽपि तया क्रीडापरः सदा ॥ ४८ ॥
सौधेषु वनराजिषु पुलिनादिषु सम्बभौ ।
हेमलेखां राजपुत्रो भोगेष्वनतिकामिनीम् ॥ ४९ ॥
उदासीनां सदा दृष्ट्वा पप्रच्छ रहसि क्वचित् ।
किं प्रिये नानुरक्तासि प्रिये मय्यनुरागिणि ॥ ५० ॥
कुतो भोगेषु नात्यन्तमासक्तासि शुचिस्मिते ।
किं भोगास्ते मनोयोग्या न सन्त्यत्र कुतस्त्विदम् ॥ ५१ ॥
अत्युत्तमेषु भोगेषु नासक्तेव विभासि मे ।
त्वय्यासक्तिविहीनायां कथं मे सुखदा रतिः ॥ ५२ ॥
आसक्ते मयि चापि त्वं भास्यन्यगतमानसा ।
भाषितापि मया भूयो न शृणोष्येव किञ्चन ॥ ५३ ॥
आगतं कण्ठसंलग्नं चिरादपि विभाव्य च ।
कदा नाथागतं चेति पृच्छस्यविदिता यथा ॥ ५४ ॥

इससे राजकुमार को काफी प्रसन्नता हुई । हेमलेखा को साथ लेकर वह अपनी राजधानी लौट गया । इसे देख-सुनकर राजा मुक्ताचूड भी पूर्ण सन्तुष्ट हुआ तथा उन दोनों का विधिवत् विवाह करा दिया ॥ ४७½ ॥

इसके बाद राजकुमार अपनी नवविवाहिता पत्नी के साथ महलों में, उद्यानों और नदी-पुलिनों पर लगातार विहार करने लगा ॥ ४८½ ॥

परन्तु राजकुमार ने देखा कि हेमलेखा को विषयोपभोग की थोड़ी भी इच्छा नहीं है । बल्कि, वह हमेशा उदास रहती है । एक दिन उसने एकान्त में उससे पूछा — प्रिये ! मैं तुम्हें प्यार करता हूँ । तुम पर फिदा हूँ । पर, तुम मुझसे प्यार क्यों नहीं करतीं ॥ ४९–५० ॥

प्रिये ! तुम्हारी मुसकान तो बड़ी मनमोहक है । फिर इस भोग से तुम्हें अरुचि क्यों है ? क्या तुम्हारे मन के लायक यहाँ के भोग नहीं है ? अगर हाँ, तो फिर ऐसी विरक्ति क्यों ? ॥ ५१ ॥

अत्यन्त उत्कृष्ट उपभोग में भी तुम अनासक्त की तरह मुझे लगती हो । यदि इस तरह तुम्हारा झुकाव इस ओर नहीं हुआ तो फिर तुम्हारे साथ विहार करने में मुझे ही भला क्या सुख मिलेगा ? ॥ ५२ ॥

मैं तुम पर फिदा हूँ और तुम्हारा मन कहीं और लगा है । मैं बार-बार बोलता हूँ पर लगता है जैसे तुम कुछ सुनती ही नहीं हो ॥ ५३ ॥

पता नहीं कब से मैं तुम्हें गले लगाकर बैठा हूँ और तुम अब पूछ रही हो कि आप कब आये ? लगता है मेरे आने-जाने का तुम्हें कुछ पता ही नहीं चलता ॥ ५४ ॥

पेशलेषूपभोगेषु दुर्लभेषु क्वचिन्न ते।
मन आसज्जते कस्मान्न किञ्चिदनुमोदसि ॥ ५५ ॥
मया विरहितां त्वां वै निमील्य नयने स्थिताम्।
यदा यदोपगच्छामि पश्यामि च तदा तदा ॥ ५६ ॥
विमुख्यां त्वयि भोगेषु विषयेषु सुखं मम।
कथं भवेद् दारुयोषासङ्गतस्येव तद्वद ॥ ५७ ॥
न तवाभिमतं त्यक्त्वा किञ्चिन्मम समीहितम्।
सर्वथा त्वामनुगतो ज्योत्स्नां कुमुदवत् किल ॥ ५८ ॥
तदेवं ते कुतश्चित्तं ब्रूहि प्राणाधिकप्रिये।
येन शुद्ध्येत् तु मच्चित्तं शापितासि मया प्रिये ॥ ५९ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विचारमाहात्म्ये तृतीयोऽध्यायः ॥

तुम्हारे सामने एक से एक बढ़कर उपभोग की वस्तुएँ रखी जाती हैं। पर इनमें तुम्हारा मन तो रमता ही नहीं है। पता नहीं तुम्हारा मन इनमें क्यों नहीं लगता ॥ ५५ ॥

जब-जब मैं तुम्हारे पास आता हूँ आँखे बन्द किये तुम्हें किसी के ध्यान में लीन पाता हूँ। मेरी अनुपस्थिति में तुम ध्यानस्थ ही रहती हो ॥ ५६ ॥

इस तरह यदि तुम भोगों से विमुख रही तो फिर कठपुतली के साथ रहनेवाले पुरुष की तरह मुझे भी विषयोपभोग में क्या आनन्द आयेगा ? ॥ ५७ ॥

जो तुम्हें रुचती है उसके सिवा मेरी और रुची ही भला क्या होगी ? कुमुद जैसे चाँदनी का अनुसरण करता है, उसी तरह मैं तुम्हारा पूर्ण अनुगत हूँ ॥ ५८ ॥

तुम मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय हो। बताओ तुम्हारा मन ऐसा विषय-विमुख क्यों हो गया है ? हे प्रिये तुम्हें मेरी कसम है। कुछ बोलो ताकि मेरा मन हलका हो सके ॥ ५९ ॥

विशेष—प्रस्तुत गाथा के माध्यम से जीवन-दर्शन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। हेमलेखा के अनुसार यथार्थ चिन्तन ही जीवन है, भोगवृत्ति नहीं। भोग और योग ये दो जीवन की दिशाएँ हैं। यही भोग और योग विभिन्न दिशाओं के यात्री हैं। भोग अन्धों द्वारा प्रकाश का विचार और विवेचना है; जबकि योग जीवन को सही ढंग से पहचानने की आँखें देता है। जीवन को पहचानने की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है।

योग जीवन का विज्ञान है। चित्त की शून्य और पूर्ण जाग्रत् अवस्था ही जीवन का यथार्थ है। विषयवासनाओं की दृष्टि से जब चित्त शून्य हो जाता है और विषयी

की दृष्टि से पूर्ण जाग्रत्, तब जीवन का यथार्थ पथ स्वतः उपलब्ध हो जाता है। भोग से विरक्ति ही सत्य और यथार्थ जीवन की सही आँखें हैं।

मनुष्य का चित्त सामान्यतः भोगों, सांसारिक विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं से आच्छन्न रहता है। इन्न अशान्त लहरों की एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दीवार व्यक्ति को भीतर से बाहर रखती है। मानव-चेतना क्षणिक भोग के संसर्ग में विचार प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न कर लेती है और फिर उन्हीं में भटक जाती है। अपने ही हाथों से अपनी सत्ता तक पहुँचने के द्वार बन्द करने के लिए मनुष्य स्वतन्त्र है। इस कथा का मूल इसी दिशा की ओर एक सबल संकेत है।

तीसरा अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

प्रियस्य कण्ठासक्तस्य निशम्यैवं वचो हि सा ।
ईषत्स्मितानना प्राह राजपुत्रमनिन्दिता ।। १ ।।
बुबोधयिपती राजपुत्रं युक्त्याऽब्रवीदिदम् ।
राजपुत्र श्रृणु वचो नाहं त्वयि विरागिणी ।। २ ।।
किं स्यात् प्रियतमं लोके किंनु स्यादप्रियन्त्विति ।
विचारपरमा नित्यं नान्तमेत्यत्र मे मतिः ।। ३ ।।
ध्यायाम्येतच्चिरान्नित्यं स्त्रीस्वभाववशादहम् ।
नैतज्जानामि तत्त्वं मे वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ।। ३ ।।
एवं प्रोक्तो हेमचूडः प्रहस्य प्राह तां प्रियाम् ।
नूनं स्त्रियो मूढधिय इति सत्यं न संशयः ।। ५ ।।
प्रियाप्रिये हि जानन्ति पशुपक्षिसरीसृपाः ।
यतस्तेषां दृश्यते हि प्रियेष्वप्रियकेषु च ।। ६ ।।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च किमत्र बहु चिन्तनम् ।
सुखं यस्मात् तत्प्रियं स्याद् दुःखं यस्मात्तदप्रियम् ।। ७ ।।

अपने प्रिय की बाँहों में सिमटी-सिकुड़ी उस सुन्दर बाला ने उनकी बातें सुनने के बाद मुस्कराती हुई उनसे कुछ कहना शुरू किया ।। १ ।।

दरअसल वह अपने पति को जीवन का यथार्थ रहस्य समझाना चाह रही थी । इसीलिए उसने बड़े तर्कसंगत ढंग से बात करते हुए कहना शुरू किया—नहीं, ऐसी बात नहीं है । राजकुमार न तो मुझे आपसे प्रेम कम है और न आपसे विरक्ति ही है ।। २ ।।

पर मैं हर समय इस उधेड़बुन में रहती हूँ कि संसार में सर्वाधिक प्रिय वस्तु क्या है ? और अप्रिय वस्तु क्या है ? मेरी बुद्धि इसका कुछ जवाब नहीं दे पाती है ।। ३ ।।

बहुत दिनों से लगातार मैं यही सोच रही हूँ । परन्तु नारीबुद्धि के कारण किसी निर्णय तक पहुँच नहीं पाती हूँ । कृपया आप इसका ठीक-ठीक विवेचन कीजिये ।। ४ ।।

अपनी प्रियतमा की बात सुनकर हेमचूड ने हँसते हुए कहा—इसमें कोई सन्देह नहीं, औरतों की बुद्धि सचमुच मोटी होती है ।। ५ ।।

भला इसमें अधिक सोचने-विचारने की बात ही क्या है ? प्रिय और अप्रिय की पहचान तो पशु-पक्षी और रेंगनेवाले कीड़े-मकोड़ों को भी होती है । क्योंकि इनमें भी मनचाही वस्तु के प्रति झुकाव और अनचाही वस्तु के प्रति अलगाव देखे जाते हैं । जिससे सुख मिले, वह प्रिय है और जिससे दुःख हो वह अप्रिय है ।। ६–७ ।।

किमत्र मुग्धभावेन नित्यं चिन्तयसि प्रिये।
श्रुत्वा प्रियवचः प्राह हेमलेखा पुनः प्रियम् ॥ ८ ॥
सत्यं स्त्रियो मुग्धभावा नास्त्यासां सद्विमर्शनम्।
तथाप्यहं बोधनीया त्वया सम्यग्विमर्शिना ॥ ९ ॥
सुबोधिता त्वया चाहं चिन्तामेतां विसृज्य तु।
त्वया भोगेषु सततं भवाम्यनुदिनं ततः ॥ १० ॥
राजन् सुखञ्च दुःखञ्च याभ्यां भवति ते ननु।
प्रियाप्रिये विनिर्दिष्टे त्वया सूक्ष्मविमर्शिना ॥ ११ ॥
एकमेव सुखं दुःखं कालदेशाकृतेर्भिदा।
जनयेदत्र तत् कस्मात् प्रतिष्ठाध्यवसायिनी ॥ १२ ॥
यतो वह्निः कालभेदात् पृथगेव फलप्रदः।
तथा देशविभेदेनाप्याकारस्य विभेदतः ॥ १३ ॥
शीतकाले प्रियो वह्निरुष्णे त्वप्रिय एव हि।
हिमोष्णदेशभेदेन प्रियश्चाप्रिय एव च ॥ १४ ॥
शीतप्रकृतिजीवानां प्रियोऽन्येषां तथेतरः।
अथाप्यधिकभावेनाल्पभावेनैवमीरितः ॥ १५ ॥

तुम बड़ी भोली हो। इस छोटी-सी बात पर दिन-रात सोचते रहने की क्या जरूरत है? पति की बात सुनने के बाद हेमलेखा ने फिर कहना शुरू किया ॥ ८ ॥

औरतों की अक्ल तो मोटी होती ही है—यह तो आपने ठीक ही कहा; इनमें वस्तु-विवेचन की क्षमता ही कहाँ होती है? परन्तु आप तो सुयोग्य समीक्षक हैं; मुझे समझा दीजिए? ॥ ९ ॥

आपके समझा देने पर मुझे इस चिन्ता से छुटकारा मिल जायेगा। फिर दिन-रात मैं आपके साथ भोग में लीन हो जाऊँगी ॥ १० ॥

राजन्! आपमें तो बड़ी-से-बड़ी बारीक बातों को भी समझने और समझाने की क्षमता है। आपने ही तो कहा था कि जिससे सुख हो वह प्रिय और जिससे दुःख हो वह अप्रिय है ॥ ११ ॥

किन्तु जब एक ही वस्तु समय, स्थान और स्वरूप के भेद होने पर सुख और दुःख दोनों ही देती हो तो उनकी एकरूपता का निश्चय कैसे हो? ॥ १२ ॥

जैसे आग अलग-अलग समय पर अलग-अलग फल देने वाली है, उसी तरह स्थान और रूप भेद से भी उसके अलग-अलग परिणाम देख जाते हैं ॥ १३ ॥

जाड़े में आग प्रिय होती है और गर्मी में अप्रिय। इसी तरह ठंडे मुल्क में वह प्रिय होती है और गर्म देश में अप्रिय होती है ॥ १४ ॥

इसी तरह ठंडे प्रकृति के जीवों के लिए आग प्रिय होती है तथा गर्म मिजाज

एवं शीतं धनं दाराः पुत्रा राज्यं तथेतरत् ।
अथाप्येवं महाराजो दारपुत्रधनैर्वृतः ॥ १६ ॥
शोचत्यनुदिनं कस्मान्न शोचन्तीतरे कुतः ।
योऽयं भोगः सुखार्थोऽस्ति सोऽप्यनन्तो भवेन्न तु ॥ १७ ॥
न केनचित्तदखिलं प्राप्तं यस्मात् सुखं भवेत् ।
यत्किञ्चिल्लाभतो यस्मात् सुखं तत्रापि संश्रृणु ॥ १८ ॥
न तत् सुखं भवेन्नाथ यतो दुःखविमिश्रितम् ।
दुःखन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमान्तरमित्यपि ॥ १९ ॥
बाह्यं शरीरसम्भूतं धातुदोषादिसम्भवम् ।
आन्तरं मानसं प्रोक्तं तच्च वाञ्छासमुद्भवम् ॥ २० ॥
महत्तरं मानसं स्याद् येन ग्रस्तमिदं जगत् ।
वाञ्छैव दुःखविटपिबीजं सुदृढशक्तिकम् ॥ २१ ॥
यया किङ्करतां प्राप्ताः कुर्वन्त्येव दिवानिशम् ।
इन्द्रादयोऽपि विबुधाः स्वर्निवासाः सदोदिताः ॥ २२ ॥

वाले जीवों को यह बिलकुल अच्छी नहीं लगती है । इसी तरह ज्यादा या कम मात्रा में होने पर भी ऐसा ही कहा जाता है ॥ १५ ॥

यही बात जाड़ा, वित्त, पत्नी, पुत्र, राज्य तथा अन्य विषयों के बारे में भी है । आप महाराज मुक्ताचूड को ही लीजिए । उन्हें किस बात की कमी है । पत्नी, पुत्र, धन सबसे सम्पन्न हैं ॥ १६ ॥

फिर वे भला दिन-रात सोंच में क्यों डूबे रहते हैं । दूसरे लोग जिनके पास इतनी भोग-सामग्री का अभाव है, वे भी चिन्तामुक्त क्यों हैं ? और, फिर ये जो तथा-कथित सुखदायक भोग हैं वे भी तो किसी के पास अन्तहीन नहीं हो सकते ॥ १७ ॥

पूरे-के-पूरे सुख तो किसी को नसीब नहीं होते, थोड़े से सुख को भी यदि आप सुख ही कहें तो सुनिए ॥ १८ ॥

हे स्वामी ! दुःख मिला सुख तो सुख है ही नहीं । दुःख भी तो दो तरह के भीतरी और बाहरी नाम से कहे गये हैं ॥ १९ ॥

वात, कफ, पित्त तथा रस, रक्त प्रभृति दोष से जो दुःख शरीर में होता है वह बाहरी दुःख है । चाह पूरी नहीं होने पर जो मानसिक पीड़ा होती है, वह आन्तरिक दुःख है ॥ २० ॥

इनमें मानसिक पीड़ा तो सबसे बड़ी है । इस दुःख ने सारी दुनिया को जकड़ लिया है । इस दुःख रूपी पेड़ का शक्तिशाली बीज चाह ही तो है ॥ २१ ॥

इसी चाह की गुलामी कबूल करने के कारण अमरावती के निवासी इन्द्रादि देवगण भी दिन-रात किसी-न-किसी कर्म के अनुष्ठान में संलग्न रहते हैं ॥ २२ ॥

सुखं वाञ्छावशेषेऽपि यदस्ति नृपसम्भव ।
तद्दुःखमेव जानीहि यत् क्रमिष्वपि सम्भवेत् ॥ २३ ॥
वरं तिर्यक्कीटक्रमिप्रभृतीनां सुखन्तु यत् ।
स्वल्पवाञ्छासम्मिलितं नृणां किं स्यात् सुखं वद ॥ २४ ॥
वाञ्छाशतसमाविष्टो यदि किञ्चिदुपेत्य तु ।
सुखी भवेदिह तदा को हि न स्यात् सुखी वद ॥ २५ ॥
अखिलाङ्गे वह्निदग्धे सूक्ष्मपाटीरबिन्दुना ।
यदि शीतलदेहः स्यात् तदा सोऽपि सुखी भवेत् ॥ २६ ॥

राजकुमार, मन में किसी-न-किसी वस्तु की चाह रहते हुए जो सुख मिलता है, उसे आप सुख न माने । ऐसा सुख तो कीड़े-मकोड़ो में भी संभव है ॥ २३ ॥

कीड़े-मकोड़े और पशु-पक्षियों का सुख तो थोड़ी चाह वाला होता है, इसलिए तो वह अच्छा है । परन्तु आप ही बतलायें कि मनुष्य को भला क्या सुख हो सकता है ? क्योंकि उसके सुख के साथ तो सैकड़ों चाहें जुड़ी हैं । यदि उनमें मात्र कुछ इच्छाओं की सम्पूर्त्ति से ही वह सुखी है, तो फिर ऐसा कौन है, जिसे सुखी न कहा जाय ॥ २४–२५ ॥

विशेष—विरक्ति की प्रतिमूर्त्ति हेमलेखा भोग में आकण्ठ लिप्त सांसारिक पति को जीवन-दर्शन का बोध कराना चाहती है । जीवन के यथार्थ सुख एवं दुःख का बड़े ही कलात्मक ढंग से विवेचन करती हुई कहती है—मैं दुःख में हूँ या सुख में; इसका विवेचन तो मनुष्य को स्वयं करना है । इसी उत्तर पर व्यक्ति का यथार्थ जीवन निर्भर करता है । तथाकथित सांसारिक भोगजन्य सुख के पीछे झांकना है; भुलावों और आत्मवंचनाओं के आवरण को उघार कर देखना है । उसे जो वस्तुतः यथार्थ है, जानने को स्वयं के समक्ष नग्न होना जरूरी है । सुख के झूठे आवरणों के हटते ही दुःख की अतल गहराइयाँ अनुभव में आने लगती हैं । घने अंधेरे और संताप का दुःख अनुभूत होता है । भय होता है । पुनः अपने उन्हीं आवरणों को ओढ़ लेने का जी करता है । इस तरह डर कर संसार में सुख बुद्धि से दुःख को ढांक लेते हैं, उन्हें कभी सही सुख उपलब्ध नहीं होता । दुःख को ढांकना नहीं मिटाना है और उसे मिटाने के लिए उसे सही रूप में जानना आवश्यक है ।

साधारणतः जिसे हम सुखी जीवन कहते हैं, वह भ्रम के अतिरिक्त और है ही क्या ? और जिसे हम संसार में सफल जीवन कहते है; वह सांसारिक सफलता प्राप्त करने के सिवाय और है ही क्या ? जीवन में सन्निहित दुःख को जो धन की या यश की या काम की मादकता में भूलने में सफल मालूम होते हैं, उन्हें संसार के लोग सफल मानते हैं । परन्तु सत्य तो इससे कुछ भिन्न है । ऐसे लोग जीवन पाने में नहीं, गँवाने में सफल हो गये हैं । इसके पीछे छिपे दुःख को भूल कर सुख के भ्रम में यह आत्मघात के सिवाय और है ही क्या ? सांसारिक दुःख के प्रति जागरण सुख की सही दिशा निर्दिष्ट कर देता है ।

प्रियायाः सम्परिष्वङ्गात् सुखं प्राप्नोति वै नरः ।
तत्रैवाङ्गस्य विषमबन्धाद् दुःखं भवेन्ननु ॥ २७ ॥
रत्यावेशात् परिश्रान्तिः सर्वेषां जायते किल ।
अनन्तरं भारवाहपशोरिव परिश्रमः ॥ २८ ॥
कथं पश्यसि तत् सौख्यं नाथैतन्मे समुच्यताम् ।
यावत् सुखं प्रियासङ्गे नाडीसङ्घट्टसम्भवम् ॥ २९ ॥
तदास्ति तावन्न किमु शुनामस्तीह तद्वद ।
यत् ततो ह्यतिरिक्तं ते दृष्टसौन्दर्यसम्भवम् ॥ ३० ॥

ऐसे ही चिन्तन से व्यक्ति की निद्रा टूटती है। सही सुख का बोध होता है। जो व्यक्ति दुःख या संताप से घबड़ाकर पलायन नहीं करता है; वही रुककर उन्हें सही रूप में पहचानने की चेष्टा करता है; वह अपने भीतर एक अभूतपूर्व चैतन्यजन्य सुख को प्राप्त कर लेता है। यह अनुभूति उसमें अभिनव क्रान्ति का साक्षी बन जाती है। सुख की सही पहचान उसे आमूल परिवर्तित कर देती है। वह अँधेरे को टूटते देखता है। दुःख को भागते परखता है। वह देखता है कि उसकी चेतना के रन्ध्र-रन्ध्र में सुख का सही प्रकाश परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकाश में पहली बार वह जानता है कि संसार क्या है ? सुख क्या है ? दुःख किसे कहना चाहिए ?

दुःख के सच्चे स्वरूप को जान लेना ही सुख को जान लेना है। इस बोध के साथ ही उसका दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख अपने अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संसार को पहचानते ही व्यक्ति चिरन्तन सुख का अधिकारी हो जाता है। वह जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है; सच्चिदानन्द है। उसकी अनुभूति ही असली सुख है। इस सच्चाई को जानना सुख को पा लेना है।

जिसकी सारी देह आग की ज्वाला में झुलस रही हो, उसे बादल या चन्दन का एक छोटा-सा कतरा कैसे ठंडक पहुँचा सकता है ? अगर यह संभव है तो सांसारिक चाहवाला पुरुष भी सुखी हो सकता है ॥ २६ ॥

कहते हैं कि प्रियतमा के आलिङ्गन में सुख मिलता है। पर देखिए, पुरुष के द्वारा देह जकड़ लिए जाने पर दुःख तो वहाँ भी होता है ॥ २७ ॥

रतिक्रिया में भी जोश ठंडा होने पर तो सबको थकान महसूस होती ही है। रतिक्रिया के अन्त में तो बोझा ढोनेवाले जानवरों की तरह व्यक्ति हाँफता तो है ही ॥ २८ ॥

प्रियतम, आप मुझे इतना भर बतला दीजिए कि इसमें आपको सुख कैसे मिलता है ? नाड़ियों की रगड़ से जितना सुख किसी को अपनी प्रियतमा के सम्भोग से मिलता है, सोचिये, क्या उतना ही सुख एक कुत्ते को कुतिया के सहवास में नहीं मिलता ॥ २९½ ॥

यदि आप यह कहें कि प्रियतमा का सौन्दर्य देखने से कुतिया के संभोग की अपेक्षा

तत् केवलाभिमानोत्थं स्वाप्नस्त्रीसङ्गमे यथा ।
पुरा कश्चिद्राजसुतो मन्मथाधिकसुन्दरः ।। ३१ ।।
काञ्चित् सुरूपिणीं प्राप्तः स्त्रियं सर्वमनोहराम् ।
अत्यन्तमनुरक्तः स तस्यां राजकुमारकः ।। ३२ ।।
सा त्वन्यस्मिन् राजसुत भृत्ये संसक्तमानसा ।
स भृत्यो राजपुत्रं तं वञ्चयामास युक्तितः ।। ३३ ।।
मदिरां मोहनार्थाय तस्मै दत्त्वातिमात्रकम् ।
ततो मदान्धाय चेटीं काञ्चित् प्रेष्य कुरूपिणीम् ।। ३४ ।।
बुभुजे तां तस्य पत्नीं सर्वलोकैकसुन्दरीम् ।
एवमेव चिरं तत्र मदान्धो नृपतेः सुतः ।। ३५ ।।
प्रत्यहं चेटिकां गच्छन् स्वात्मानं सममंसत ।
धन्योऽहमीदृशीं लोकसुन्दरीं प्राणप्रेयसीम् ।। ३६ ।।
उपगच्छाम्यहं नित्यं न मेऽस्ति सदृशः क्वचित् ।
एवं वृत्ते चिरे काले कदाचिद् दैवयोगतः ।। ३७ ।।
भृत्यो निधाय पानं स कार्ये चात्यन्तिके ययौ ।
अथ राजकुमारस्तत् पानं नात्यन्तिकं पपौ ।। ३८ ।।

कहीं अधिक सुख मिलता है तो फिर स्वप्नसुन्दरी के साथ संभोग की ही तरह यह भी एक मानने की ही बात है ।। ३०½ ।।

पुराने जमाने की बात है, कोई एक राजकुमार था। सौन्दर्य में वह मदन से भी अधिक मनोहर था । उसे पत्नी भी रति से अधिक सुन्दर तथा सब तरह से मनोहारिणी मिली थी । राजकुमार को अपनी पत्नी में पूर्ण आसक्ति भी थी ।। ३१–३२ ।।

किन्तु, उस दिव्य सुन्दरी का मन राजकुमार के एक नौकर में रमा था । नौकर भी बड़ा धूर्त था । वह बड़ी होशियारी से राजकुमार को धोखा दिया करता था ।। ३३ ।।

उसे ज्यादा-से-ज्यादा तीखी शराब पिलाकर मदहोश कर देता था । फिर उसकी तीमारदारी में एक बदसूरत कनीज को भेज देता और खुद उस त्रिलोकसुन्दरी के साथ संभोग करता ।। ३४½ ।।

यह सिलसिला बहुत दिनों तक चलता रहा । मदहोश राजकुमार उस बदसूरत कनीज को त्रिलोकसुन्दरी अपनी प्राणप्रिया मानकर हर रोज उसके साथ संभोग करता और अपने को धन्य मानता था । इस उपभोग के लिए अपने समान किसी को भाग्यवान् नहीं समझता था ।। ३५–३६½ ।।

यह क्रम बहुत दिनों तक जारी रहा । फिर एक दिन किसी काम से नौकर को बाहर जाना था । उसके नियत स्थान पर शराब रख दी और चला गया । राजकुमार

निमित्ततो ययौ शीघ्र रत्युत्सुकितमानसः ।
शयनीयं मनः कान्तं सर्वभोगर्द्धिसंयुतम् ।। ३९ ।।
शचीगृहं देवपतिरिव नन्दनसंस्थितम् ।
पराद्धर्यपर्यङ्कगतां तां चेटीमुपसङ्गतः ।। ४० ।।
कामवेगेन विवशो बुभुजेऽत्यन्तहर्षतः ।
उपलभ्याथ रत्यन्ते चेटीं तां विकृताकृतिम् ।। ४१ ।।
शङ्कितोऽमर्षितश्चापि किमेतदिति चिन्तयन् ।
क्व सा मम प्रियतमेत्येवं तामन्वपृच्छत ।। ४२ ।।
पृष्टैवं तेन सा चेटी विमदन्तं निशम्य तु ।
भीता न किञ्चित् तं प्राह वेपमाना तदा ततः ।। ४३ ।।
आलक्ष्य राजपुत्रोऽपि वैषम्यं चात्मवञ्चनम् ।
वामेन जग्राह कचे चेटीं क्रोधारुणेक्षणः ।। ४४ ।।
कृपाणमाददे दक्षहस्तेन नृपसम्भवः ।
तर्जयंस्तां प्रत्युवाच वद वृत्तं यथातथम् ।। ४५ ।।
नो चेन्न स्याज्जीवितं ते क्षणमात्रमपि द्रुतम् ।

ने भी किसी वजह से ज्यादे शराब नहीं पी । भोग की चाह से कामातुर कुमार शीघ्र ही विलास-भवन पहुँच गया ।। ३७–३८½ ।।

वह विलास-भवन अति आकर्षक, मनमोहक तथा अनेक तरह की भोग-सामग्रियों से भरा पड़ा था । नन्दनकानन में अवस्थित शचीभवन में जैसे देवराज इन्द्र प्रवेश करते हैं, उसी तरह राजकुमार ने उस विलास गृह में प्रवेश किया । वहाँ वेशकीमती पलंग पर पहले से सोयी कनीज के साथ काम-क्रीड़ा में मशगूल हो गया ।। ३९–४० ।।

कामातुर राजकुमार बड़ी खुशी से उस कनीज के साथ संभोग करता रहा । काम का नशा उतरते ही उसे वस्तुस्थिति का बोध हुआ । उस बदशक्ल कनीज को उस स्थिति में देखकर उसे शंका हुई । क्रोध से काँपते हुए उसने सोचा—यह सब क्या हो रहा है ? उसने पूछा—मेरी प्रियतमा कहाँ है ? ।। ४१–४२ ।।

राजकुमार का सवाल सुनकर दासी सकपका गई । उसने देखा, राजकुमार तो आज पूरे होश में है । घबड़ाहट के मारे उसकी घिग्घी बँध गई ।। ४३ ।।

राजकुमार ने जब अपने आपको बुरी तरह ठगे जाते देखा तो क्रोध के मारे उसकी आँखें लाल हो गईं । उसने लपक कर उस कनीज के बाल बायें हाथ से पकड़ लिये और दाहिने हाथ से तलवार खींच ली । फिर उसे डाँटते हुए कहा—सारी बातें सच-सच बतला दे । अन्यथा एक पल भी इस दुनिया में तुम्हारा रहना सम्भव नहीं है ।। ४४–४५½ ।।

सैवं निशम्य तद्वाक्यं भीता प्राणपरीप्सया ॥ ४६ ॥
जगौ यथावत् तत् सर्वं चिराद् वृत्तं समास्थितम् ।
प्रादर्शयच्चापि तस्मै तां भृत्येन सुसङ्गताम् ॥ ४७ ॥
क्वचिद् भूमौ कटे भृत्यं कृष्णं पिङ्गललोचनम् ।
प्रांशुं मलिनसर्वाङ्गं रूक्षवक्त्रं जुगुप्सितम् ॥ ४८ ॥
समाश्लिष्य रतिश्रान्तां सर्वाङ्गैः प्रेमभावतः ।
मृदुबाहुलतावृत्तग्रीवस्य वदने स्वकम् ॥ ४९ ॥
निवेश्य वक्त्रकमलं पद्भ्यामाश्लिष्य गाढतः ।
तस्योरुयुग्मं तद्धस्तसंसक्तगुरुसुस्तनीम् ॥ ५० ॥
वासन्तिकामिव लतां वृतां कुसुमकोरकैः ।
रोहिणीं राहुणोपेतामिवापश्यन्नृपात्मजः ॥ ५१ ॥
एवंविधां समालोक्य निद्रयापगतस्मृतिम् ।
मोमुह्यमानश्चात्यन्तं क्षणं पश्चाद्धृतिं भजन् ॥ ५२ ॥
यत् प्राह राजतनयस्तन्मत्तः श्रूयतां ननु ।
धिङ्मामनार्यमत्यन्तं मूढं मदविमोहितम् ॥ ५३ ॥
धिग्ये स्त्रीष्वभिसम्प्रीता धिक् तांश्च पुरुषाधमान् ।
न कामिन्यः कस्यचित् स्युर्वृक्षस्येव च शारिकाः ॥ ५४ ॥

राजकुमार की बातें सुनकर वह बुरी तरह डर गई । अपनी जान बचाने के लिए बहुत दिनों से जो कुछ हो रहा था, सच-सच उगल दिया । साथ-साथ उस नौकर के साथ रतिक्रीड़ा में लिप्त उसकी पत्नी को भी प्रत्यक्ष दिखला दिया ।। ४६–४७ ।।

राजकुमार ने देखा—उसकी वह त्रिलोकसुन्दरी पत्नी धरती पर बिछी एक चटाई पर उस नौकर को अंग-प्रत्यङ्गों से आलिंगित किये पड़ी है । वह नौकर काला-कलूटा है । उसकी आँखें लाल-लाल हैं । देह लम्बी है । सारे-के-सारे अंग मलिन हैं । चेहरा घोड़ानुमा और रूखड़ा है जो अत्यन्त घृणित हैं । रतिश्रम से वह थका-थका-सा लगता है । अपनी कोमल बाहुलताओं को उसके गले में डालकर उसने अपने कमल मुख को उसके गन्दे मुँह से सटा रखा है । अपने पैरों से उसकी दोनों टाँगों को जकड़ रखा है । उसके पीनपयोधर उस नौकर के गन्दे हाथों में कसे हैं । उस समय वह ऐसी लगती थी जैसे कुसुम कलियों से घिरी वासन्तिका लता हो । अथवा राहु-ग्रसित रोहिणी हो ।। ४८–५१ ।।

गाढ़ी नींद में मदहोश पड़ी अपनी पत्नी को इस हालत में देखकर कुछ क्षण के लिए राजकुमार अपने आपको ही भूल गया । फिर हालात से निपटने के लिए धीरज के साथ उसने जो कुछ कहा, वह मुझसे सुनिये ।। ५२½ ।।

शराब पीकर नशे में चूर मेरे जैसे नीच और महामूर्ख को धिक्कार है । इन औरतों जिनके मन का बहुत ज्यादे लगाव है, वैसे नीच लोगों को भी धिक्कार है ।

किमहं मां प्रवक्ष्यामि मुग्धं महिषपोतवत् ।
जानन्तमेनां प्राणेभ्यः प्रेष्ठां सुचिरकालतः ॥ ५५ ॥
न स्त्रियः कस्यचिद्वा स्युर्वेश्या इव विटस्य हि ।
यः स्त्रीषु विश्रब्धमनाः स एव वनगर्दभः ॥ ५६ ॥
या स्थितिः शारदाभ्रस्य क्षणिका ह्यनवस्थिता ।
ततोऽपि पेलवा स्त्रीणां स्थितिरत्यन्तचञ्चला ॥ ५७ ॥
नाहमद्यावधि ह्येवं स्त्रीस्वभावमहोऽविदम् ।
यन्मां सर्वात्मनासक्तं त्यक्त्वा भृत्यमनुव्रता ॥ ५८ ॥
अन्यासक्ता गूढभावा मयि छद्मानुरागिणी ।
प्रदर्शयन्ती भक्ति स्वां नटीव विटमण्डले ॥ ५९ ॥
नाविदं लेशतोऽप्येनां मदिरामत्तमानसः ।
छायेव मां सङ्गतेति मत्वा विश्रब्धमानसः ॥ ६० ॥

जहाँ-तहाँ चारा चुगनेवाली ये मैना जैसे किसी एक पेड़ की नहीं हो सकती, उसी तरह ये औरतें भी किसी एक पुरुष की नहीं हो सकती हैं ॥ ५३–५४ ॥

मैं अपने आप को ही भला क्या कहूँ । भैंस के बच्चे की तरह अरसे तक इस औरत के भुलावे में छलता रहा हूँ । अरसे से इस पर अपनी जान कुरबान करता रहा हूँ ॥ ५५ ॥

वेश्या जैसे किसी एक कामुक के वश की नहीं होती, उसी तरह ये औरतें भी किसी एक पुरुष की नहीं होतीं । जो पुरुष इन पर विश्वास करता है, वह तो जंगली गदहा ही है ॥ ५६ ॥

क्वार से कार्तिक महीने तक मेघ की हालत जैसे क्षणिक और अस्थाई होती है; इन औरतों की स्थिति तो उससे भी बदतर है । इन्हें तो अत्यन्त चंचल ही समझना चाहिए ॥ ५७ ॥

अफसोस ! इस औरत की ऐसी बद-मिजाजी आज तक मैं जान नहीं सका । मैं तो जी-जान से इस पर फिदा था और यह औरत मुझे छोड़कर मेरे ही एक बदशकल अदना नौकर के इश्क में पागल है ॥ ५८ ॥

इसके मन का लगाव तो किसी दूसरे आदमी के साथ था । पर अपनी चाल को इसने बड़ी खूबी के साथ मुझसे छिपाया । अभिनेत्री जैसे विटों के सामने अपनी बनावटी प्यार दिखाकर उन्हें झाँसा देती है, उसी तरह यह औरत मुझे धोखा देकर झूठे प्रेम का स्वांग भरती रही है ॥ ५९ ॥

मेरा मन शराब पी-पीकर ऐसा मदहोश होता रहा कि जरा भी इसकी चाल को पहचान न सका । मेरे मन को विश्वास में लेकर ही इसने ऐसा किया । मैं तो सदैव यही सोचता रहा कि यह तो छाया की तरह निरन्तर मेरी अनुगामिनी है ॥ ६० ॥

अप्रेक्षणीयां चेटीं तां वञ्चितश्चिरसङ्गतः ।
नूनं मत्तो मूढतमः को भवेज्जगतीतले ॥ ६१ ॥
य एवं विस्रम्भपूर्वमनया चिरवञ्चितः ।
अहोऽयं भृत्यहतकः सर्वाङ्गविकृताकृतिः ॥ ६२ ॥
किमस्मिन्ननया दृष्टं सौन्दर्यं सर्वतोऽधिकम् ।
यतो मां निजसौन्दर्याहृतलोकावलोकनम् ॥ ६३ ॥
अनुरक्तं सर्वथैव त्यक्त्वैनमुपसङ्गता ।
एवं प्रलप्य बहुधा निर्विण्णोऽतितरां तदा ॥ ६४ ॥
राजपुत्रो वनं प्रागात् सर्वसङ्गविवर्जितः ।
तस्माद्राजकुमारैस्तत् सौन्दर्यं मनसोत्थितम् ॥ ६५ ॥
यथा त्वं मपि चात्यन्तसौभगेक्षणपूर्वकम् ।
रतिं विन्दस्यतितरां तथा वा तद्विशेषतः ॥ ६६ ॥
विन्दन्ति रतिमत्यन्तं योषित्सु विकृतास्वपि ।
अत्र ते प्रत्ययं वक्ष्ये शृणु प्रिय समाहितः ॥ ६७ ॥
विलोक्यते या हि योषित् सा बहिःसुव्यवस्थिता ।
या च तत्प्रतिबिम्बात्मरूपिणी चित्तसंश्रया ॥ ६८ ॥

इसके झाँसे में आकर एक लम्बे अरसे तक मैं उस कनीज के साथ सम्भोग करता रहा, जिसकी ओर देखने में भी अब दुःख होता है । भला मुझसे बढ़कर बेवकूफ इस दुनिया में कौन हो सकता है, जिसे अपने विश्वास में लेकर आज तक इस तरह धोखा देती रही ॥ ६१½ ॥

वाह रे नमकहराम नौकर, बेडौल और बदशकल । भला इसमें उसे कौन-सी खूबसूरती दिखलाई दी जो इसने मुझे छोड़कर इसका पल्ला पकड़ लिया । मेरी खूबसूरती ने तो सबके मन को मोह लिया है और मैं भी तो इसके दिलकश रूप पर फिदा था ॥ ६२–६३½ ॥

इस तरह अनुतप्त राजकुमार कुछ देर तक बड़बड़ाते हुए संसार से बिलकुल विरक्त होकर हर तरह की आसक्ति से मुँह मोड़कर जंगल की ओर चल दिया ॥ ६४½ ॥

अतः हे राजकुमार ! खूबसूरती तो अपने मन की उपज है । जैसे मेरी खूबसूरती देखकर आपको मुझसे कामजनित सुख मिलता है उससे भी ज्यादा सुख किसी बदशक्ल औरत से भी मिल ही जाता है । प्रियतम, इसके बारे में मैं आपको सही ढंग से समझाती हूँ । आप सचेत होकर सुनें ॥ ६५–६७ ॥

बाहर से जो औरत दिखलाई देती है वह तो बाहर है ही, भीतर तो है उसके दिलकश रूप का खूबसूरत साया । दृढ़ निश्चय के सहारे मन से उसमें खूबसूरती की

सङ्कल्परूपिणी तस्याः सौष्ठवं मनसोल्लिखन् ।
पौनःपुन्येन तदनु वाञ्छामुपसमागतः ॥ ६९ ॥
क्षुब्धेन्द्रियो नरस्तस्यां रतिमाप्नोति सर्वतः ।
अक्षुब्धे त्विन्द्रिये न स्यात् सुन्दर्यामपि वै रतिः ॥ ७० ॥
तत्र मूलं समुल्लेखः सौष्ठवस्य पुनः पुनः ।
अतः क्षोभो नैव दृष्टो बालानां योगिनामपि ॥ ७१ ॥
तथा च यो यो यस्यान्तु रतिं विन्दति मानवः ।
सुन्दर्यां वापि चान्यस्यां तत्र सौष्ठवमुल्लिखेत् ॥ ७२ ॥
दृश्यन्ते योषितोऽत्यन्तबीभत्साकारविग्रहाः ।
तरुणैः सङ्गतास्ताश्च दृश्यन्तेऽपत्यहेतुतः ॥ ७३ ॥
विरूपतोल्लेखनं वाप्यनुल्लेखस्तु सौष्ठवे ।
यदि स्यात्तत् कथं नृणां रतिस्तासु हि सम्भवेत् ॥ ७४ ॥
किं वक्तव्यमहो नृणां कामिनां क्षिप्तचेतसाम् ।
जघन्याङ्गेऽपि सौन्दर्यं भासते सर्वतोऽधिकम् ॥ ७५ ॥
मलमूत्रपरिक्लिन्नं यदङ्गं तत्र सौभगम् ।
पश्येच्चेत् कुत्र नो पश्येत् सौन्दर्यं तन्ममेरय ॥ ७६ ॥

कल्पना हो जाती है। उसकी याद बार-बार दुहराती है, जिससे मन में उसे भोगने की इच्छा जगती है। इस इच्छा के सामने मन की सारी इच्छाएँ दब जाती हैं। लिंग में विचलन होने के कारण उसी में पुरुष को कामसुख की अनुभूति होती है। यदि जननेन्द्रिय में क्षोभ न हो तो फिर खूबसूरत से भी खूबसूरत औरत में भी पुरुष को रतिसुख नहीं मिले ॥ ६८-७० ॥

इस हलचल का कारण है—मन में बारंबार उस खूबसूरती की यादगारी। यही कारण है कि बच्चों और योगियों के मन में हलचल होते दिखाई नहीं देती है ॥ ७१ ॥

इसका मतलब यह हुआ कि खूबसूरत या बदसूरत जिस औरत में जिस पुरुष को कामसुख का बोध होता है, उसी में उसके सौन्दर्य का वह रूप विधान कर लेता है ॥ ७२ ॥

ऐसी औरतें भी देखी जाती हैं, जिनका रूप-रंग बेडौल और भोड़ा है, बदसूरत हैं फिर भी उन्हें सन्तान है। इसका मतलब साफ है, किसी-न-किसी युवक के साथ उनका संगम हुआ है ॥ ७३ ॥

यदि उनमें बदसूरती का रूप विधान होता अथवा मन में उनकी खूबसूरती नहीं उभड़ती तो फिर किसी पुरुष को उनमें रतिसुख कैसे मिल सकता था ? ॥ ७४ ॥

कामवेग के कारण रुग्ण एवं भ्रान्त चित्तवाले इन प्रेमरोगी पुरुषों के बारे में क्या कहा जाय ? जिन्हें औरतों के सबसे ज्यादा घिनौने अंग में भी सर्वाधिक सौन्दर्य का बोध होता है ॥ ७५ ॥

तस्मात् सौन्दर्यमेतद्वै राजपुत्र निशामय ।
अभिमानमृते नैष सुखहेतुर्भवेत् क्वचित् ॥ ७७ ॥
क्षौद्रमाधुर्यवद्देहे सौन्दर्यं सहजं यदि ।
तद्बालानां कुमाराणां कुतो नो भाति तद्वद ॥ ७८ ॥
देशभेदेषु दृश्यन्ते विविधाकृतयो नराः ।
एकपादैकनयना लम्बकर्णा हयाननाः ॥ ७९ ॥
कर्णप्रावरणाः फालवक्त्रा निर्गतदंष्ट्रकाः ।
विनसा दीर्घनासाश्च लोमच्छन्ना विलोमकाः ॥ ८० ॥
पिङ्गकेशाः श्वेतकेशा विकेशाः स्थूलकेशकाः ।
चित्रवर्णाः काकवर्णाः पिङ्गला लोहिताङ्गकाः ॥ ८१ ॥
एवं बहुविधा मर्त्याः सजातिवनितासु ते ।
रतिं विन्दन्ति त्वमिव राजपुत्र निशामय ॥ ८२ ॥
सुखसाधनभूतेषु मुख्यं यत् स्त्रीवपुःस्थितम् ।
सर्वप्रियं यत्र सर्वे मुह्यन्ति विबुधा अपि ॥ ८३ ॥

मुझे आप ही बतलायें, पेशाब और पाखाने भरे अंग में भी जिस मूर्ख को खूबसूरती नजर आती हो उसे औरतों के किस गलित अंग में सौन्दर्य का बोध नहीं हो सकता ? ॥ ७६ ॥

अतः हे राजकुमार ! आप ध्यान लगाकर सुनें, यह खूबसूरती मन में बिना किसी के रूप-विधान के कहीं भी किसी के सुख का कारण नहीं बन सकती है ॥ ७७ ॥

शहद की मिठास की तरह ही खूबसूरती को भी देह का असर मान लिया जाय तो फिर इस खूबसूरती का असर छोटे बच्चों पर क्यों नहीं पड़ता ? ॥ ७८ ॥

अलग-अलग जगहों में अलग-अलग ढंग के पुरुष भी देखे जाते हैं । लँगड़े, काने तो कहीं लम्बे कानवाले और कहीं घोड़ानुमा मुँहवाले लोग होते हैं ॥ ७९ ॥

कहीं चिपटे कानवाले लोग होते हैं तो कहीं के लोगों का मुँह हल में लगी लोहे की फाल की तरह लमतोड़ होता है, जिनकी दाढ़ें बाहर की ओर निकली होती हैं । कुछ लोगों को नाक होती ही नहीं तो कुछ की नाकें लम्बी होती हैं । किसी की सारी देह रोयें से ढकी होती हैं तो किसी की देह में रोयें होते ही नहीं हैं ॥ ८० ॥

कुछ के बाल पीले होते हैं तो कुछ के सफेद । कुछ के सिर में सघन केश होते हैं तो कुछ गंजी खोपड़ीवाले होते हैं । कोई श्वेतकुष्ठ के कारण चितकबरे होते हैं तो कोई कौए की तरह काले, कोई पीले तो कोई लाल देहवाले होते हैं ॥ ८१ ॥

राजकुमार ! ऐसे ही अनेक तरह के पुरुष होते हैं । आप इसे निश्चित रूप से मानिए । वे सभी सजातीय स्त्रियों में आपकी ही तरह रतिसुख का अनुभव करते हैं ॥ ८२ ॥

सुख के साधनों में नारी-देह को सर्वाधिक प्रमुखता दी जाती है । क्योंकि नारी-

पुंसां वपुस्तथा स्त्रीणां प्रियमत्यन्तसुन्दरम् ।
विमर्शय सुबुद्धया त्वं राजपुत्र यथास्थितम् ॥ ८४ ॥
मांसलिप्तमसृक् क्लिन्नं शिराबद्धं त्वगाततम् ।
अस्थिपञ्जरकं लोमच्छन्नं पित्तकफाहितम् ॥ ८५ ॥
मलमूत्रकुसूलं तच्छुक्रशोणितसम्भवम् ।
मूत्रद्वारसमुद्भूतमहो प्रियमिहेष्यते ॥ ८६ ॥
य एवमतिबीभत्से वितन्वन्ति रतिं नराः ।
विट्कृमिभ्यः कुतस्तेषां भवेदन्तरमीरय ॥ ८७ ॥
राजपुत्र तनुरियं प्रिया हि नितरां तव ।
विभावय विवेकेन धातूनाञ्च पृथक्स्थितिम् ॥ ८८ ॥
एवमन्यत्रोपयोज्ये मधुराम्लादिषड्रसे ।
परिणामस्वभावन्तु सूक्ष्मदृष्टया विभावय ॥ ८९ ॥
भक्षितस्यापि सर्वस्य विड्भावः परिणामके ।
सर्वथा नात्र सन्देहः सर्वैरेव विभावितः ॥ ९० ॥
यदैवं संस्थिते लोके किं प्रियं स्यात् किमप्रियम् ।

देह सभी को प्रिय है। देवताओं को भी यह मोहित कर लेती है। इसी तरह औरतों के लिए पुरुष-शरीर भी अत्यन्त प्रिय होता है। वह उसे सर्वाधिक सुन्दर प्रतीत होता है। हे राजपुत्र ! आप इस पर थोड़ा विचार करें कि यह यथार्थ क्या है ? ॥८३–८४॥

यह देह मांस में लिपटी है। लोहू से लथपथ है। नस और नाड़ियों से बँधी है। खाल से ढँकी है। हड्डियों का ढाँचा है। रोयें में छिपी और कफ-पित्त से भरी है ॥ ८५ ॥

इतना ही नहीं, यह देह तो पेशाब और पाखाने का बखार है। इसकी पैदाइश रजवीर्य से है। पेशाब निकलने की राह से निकली इस घिनौनी देह को ही लोग महबूब मान बैठते हैं ॥ ८६ ॥

बताइये, जो लोग ऐसी घिनौनी देह से प्यार करते हैं, उनमें और पाखाने के कीड़ों में क्या फर्क पड़ता है ॥ ८७ ॥

राजकुमार ! आपको जो यह देह बहुत ज्यादे प्यारी-प्यारी लगती है जरा समझदारी से इसके लहू और मज्जा आदि इसे बनाये रखनेवाले पदार्थ की अलग-अलग हालत पर तो विचार कीजिए ॥ ८८ ॥

यही बात खाने-पीने की दूसरी वस्तु के साथ भी है। उन षड्रस (छः प्रकार के रस या स्वाद—मीठा, नमकीन, तीता, कड़वा, कसैला और खट्टा) पदार्थों के रूपान्तर और उनके असर का भी आप बारीक बुद्धि से विचार करें ॥ ८९ ॥

यह बात सभी लोग अच्छी तरह जानते हैं। अतः इसमें थोड़े भी शक की

इत्युक्तो हेमचूडोऽथ वैरस्यं विषये विदन् ॥ ९१ ॥
श्रुत्वाऽपूर्वं वाक्यजालं विस्मितोऽभवदञ्जसा ।
विचार्य भूयस्तत् सर्वं यदुक्तं हेमलेखया ॥ ९२ ॥
भोगेषु जातनिर्वेदः परं वैराग्यमाप्तवान् ।
अथ क्रमेण पृष्ट्वा तां प्रियां ज्ञात्वा च तत्पदम् ॥ ९३ ॥
केवलां चितिमात्मस्थां त्रिपुरामात्मरूपिणीम् ।
बुद्ध्वाऽभवद्विमुक्तात्मा स्वात्मभूताखिलेक्षणः ॥ ९४ ॥
जीवन्मुक्तः समभवत् ततस्तस्यानुजोऽपि हि ।
मणिचूडोऽविदद्भ्रातुर्मुक्ताचूडोऽपि पुत्रतः ॥ ९५ ॥
मुक्ताचूडप्रिया चापि स्नुषया ज्ञानमासदत् ।
मन्त्रिणश्चापि पौराश्च बभूवुर्ज्ञानशालिनः ॥ ९६ ॥
न तत्र नगरे कश्चिदविद्वान् समजायत ।
आसीद् ब्रह्मपुरप्रख्यं शान्तसंसृतिवासनम् ॥ ९७ ॥
विशालनगरं तच्च जगत्यत्युत्तमं बभौ ।
यत्र कीराः शारिकाश्च पञ्जरस्थाः पठन्ति वै ॥ ९८ ॥

गुंजाइश नहीं है कि हम जो कुछ खाते हैं, सबका रूपान्तर विष्टा ही है । इस हालत में आप ही बतलायें, संसार में क्या प्रिय है और क्या अप्रिय ? ॥ ९०½ ॥

ठीक ढंग से हेमलेखा की बातें सुनकर हेमचूड़ को भोगविलास से विरक्ति हो गई । उनका अनोखा वचनविन्यास सुनकर वह बेहद अचम्भित हुआ ॥ ९१½ ॥

हेमलेखा ने जो कुछ कहा, उन पर उसने खुद बारम्बार विचार किया । इस अनुचिन्तन से भोग-विलास में स्वतः अरुचि हो जाने के कारण परम वैराग्य की प्राप्ति हुई ॥ ९२½ ॥

इसके बाद इस सन्दर्भ में सिलसिलेवार ढंग से अपनी प्रियतमा से अनेक सवाल पूछकर उस परमपद के गूढरहस्य को जान लिया । यह परमपद स्वयं भगवती त्रिपुरा हैं जो सबकी आत्मा में समान रूप से अवस्थित हैं । मेरी आत्मा ही उनका स्वरूप है । वे केवल चैतन्य रूप हैं । यह आत्मबोध होते ही राजकुमार जीवन्मुक्त हो गया । अब सभी उसे आत्मरूप ही प्रतीत होने लगे ॥ ९३–९४ ॥

इसके बाद मणिचूड़ उसका छोटा भाई भी उससे ज्ञान प्राप्त कर जीवन्मुक्त हो गया । राजा मुक्ताचूड़ ने भी अपने पुत्र से ही ज्ञान प्राप्त किया ॥ ९५ ॥

महारानी ने भी अपनी बहू हेमलेखा से ज्ञान प्राप्त किया । इसी तरह सारे के सारे सचिव और नगरनिवासी गण ज्ञान-सम्पन्न हो गये ॥ ९६ ॥

इस नगर में क्रमशः एक भी अज्ञानी शेष नहीं रहा । सबके मन में सांसारिक वासनाएँ समाप्त हो गईं । यह नगरी ब्रह्मपुरी की तरह ज्ञान-सम्पन्न प्रतीत होती थी ॥ ९७ ॥

चितिरूपं स्वमात्मानं भजध्वं चेत्यवर्जितम् ।
नास्ति चेत्यं चितेरन्यद् दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥ ९९ ॥
चितिश्चेत्यं चितिरहं चितिः सर्वं चराचरम् ।
यतः सर्वं चितिमनु भाति सा तु स्वतन्त्रतः ॥ १०० ॥
अतिश्रिर्ति जनाः सर्वे भासिनीं सर्वसंश्रयाम् ।
भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य चितिमात्रसुदृष्टयः ॥ १०१ ॥
कदाचिदेवं कीराणां श्रुत्वा वाक्यं महोदयम् ।
ब्राह्मणा वामदेवाद्या नामाचख्युः पुरस्य तु ॥ १०२ ॥
यतोऽत्र विद्यां तिर्यञ्चोऽप्याहुस्तस्मादिदं पुरम् ।
प्रसिद्धविद्यानगरमिति नाम्ना प्रसिद्धयतु ॥ १०३ ॥
तदद्यापि च तेनैव नाम्ना तन्नगरं स्थितम् ।
राम तस्मात्तु सत्सङ्गो मूलं सर्वशुभोदये ॥ १०४ ॥
सङ्गेन हेमलेखायाः सर्वे विद्याविदोऽभवन् ।
तस्मात् सङ्गः परं मूलं राम जानीहि श्रेयसः ॥ १०५ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
सत्सङ्गफलं चतुर्थोऽध्यायः ॥

वह विशाल नगरी संसार में सर्वाधिक श्रेष्ठ नगर के रूप में ख्यात हो गई। वहाँ पिंजरे के पंछी तोता-मैना भी ऐसे पढ़ते रहते थे ॥ ९८ ॥

सांसारिक दृश्य पदार्थों को छोड़कर ज्ञानस्वरूप अपनी आत्मा को भज। क्योंकि आईने में प्रतिभासित बिम्ब की तरह चैत्य पदार्थ चिन्मात्र से भिन्न नहीं है ॥ ९९ ॥

चितिः (चैतन्यज्ञान) ही चेत्य है, चिति ही मैं हूँ और चिति ही चराचर है, क्योंकि इन सबका भान चिति से ही होता है। चिति स्वयं प्रकाश है ॥ १०० ॥

अतः हे लोगो ! भ्रम को छोड़कर केवल चैतन्यबोध पर ही अपनी दृष्टि स्थिर करते हुए सबको प्रकाशित करनेवाली और सबका सहारा चिति का ही भजन करो ॥ १०१ ॥

कभी वामदेवादि ब्रह्मज्ञ ऋषियों ने तोता-मैना की ये सारगर्भित बातें सुनकर उस नगर का नाम ही बदल दिया ॥ १०२ ॥

क्योंकि जब यहाँ की चिड़ियाँ भी ब्रह्मज्ञान की बातें करती हों तो फिर इस नगर का नाम आज से विद्यानगर होगा ॥ १०३ ॥

अतः आज भी यह नगर विद्यानगर के नाम से विख्यात है। अतः हे परशुराम ! हर तरह के मंगल का मूल सत्संग ही है ॥ १०४ ॥

मात्र एक हेमलेखा के सत्संग से वहाँ के सभी लोग ज्ञानी हो गये। अतः हे

परशुराम ! यह निश्चय ही जानो, किसी भी तरह के कल्याण की जड़ सत्सङ्ग ही है ॥ १०५ ॥

विशेष—इस सन्दर्भ में हेमलेखा ने अपने शरीर में आसक्त प्रिय पति को अनेक तर्कों, युक्तियाँ और उदाहरणों से भोग-विलास के प्रति विरति और आत्मरति का पाठ पढ़ाया है। आत्मस्वरूप चैतन्य ज्ञान के अभाव में व्यक्ति भटकता है। ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था ही आत्मज्ञान है। ज्ञान की अपनी विशिष्ट शक्ति है। परन्तु व्यक्ति संसार में, भोग-विलास में या सांसारिकता में इतना अधिक डूब जाता है कि उसकी ज्ञान-शक्ति किसी-न-किसी ज्ञेय से—विषयों से, पदार्थों से ढक जाती है। एक विषय हटता है तो दूसरा घेर लेता है। एक विचार जाता है दूसरा आ जाता है। वासना का प्राङ्गण इतना विस्तृत है, पदार्थ की शक्ति इतनी सबल है कि ज्ञान एक विषय से मुक्त होता है तो दूसरे से बँध जाता है, लेकिन रिक्त नहीं हो पाता है। यदि ज्ञान विषय मे रिक्त हो, उस अन्तराल में, उस रिक्तता में, उस शून्यता में ज्ञान स्वयं में होने के कारण ज्ञान स्वयं की सत्ता का उद्‌घाटक बन जाता है। विषय-रिक्त ज्ञान स्वप्रतिष्ठ हो जाता है। यहीं से आत्मोपलब्धि का द्वार खुल जाता है। चिति रूपा भगवती त्रिपुरा आत्मज्ञानस्वरूपा बन जाती है। स्व और पर का भेद मिट जाता है।

ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वहीं वह शुद्ध है और यह शुद्धता एवं शून्यता ही आत्मज्ञान है; भगवती त्रिपुरा का साक्षात्कार है। चेतना जहाँ निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है, वही चितिरूप में आत्मा का साक्षात्कार है।

किन्तु आत्मा के इस साक्षात्कार में न कोई ज्ञाता है और न ज्ञेय है। यह अनुभूत अभूतपूर्व है। इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह शब्दातीत है।

भगवती त्रिपुरा आत्मस्वरूपा है, चिति अर्थात् ज्ञानस्वरूपा है। आत्मज्ञान ही उनका साक्षात्कार है। इस आत्मज्ञान की खोज में जो व्यक्ति आत्मा को ज्ञेय पदार्थ की भाँति खोजने की चेष्टा करता है, प्रथम चरण में ही उसके पैर गलत दिशा में पड़ जाते हैं। यह आत्मा ज्ञेय नहीं है और न ही उसे किसी सांसारिक आकांक्षा का लक्ष्य ही बनाया जा सकता है, क्योंकि वह सांसारिक विषय नहीं है। इस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। अतः आत्मा को वे ही खोज पाते हैं जो सब खोज छोड़ देते हैं और वे ही जान पाते हैं जो संसार को जानने में शून्य हो जाते हैं।

इसके लिए सब कुछ खोना पड़ता है। पाना कुछ नहीं है। वासना, तृष्णा, भोग-विलास और संसार सब कुछ खोकर भी जो पाया जाता है वह सदा से पाया हुआ है। इस स्वरूप को पाने के लिए चेतना से उन सबको खोना आवश्यक है जो क्षणिक है, नश्वर है। शाश्वत् की खोज ही आत्मोपलब्धि है।

मनुष्य एक अद्‌भुत पौधा है। उसमें विष और अमृत दोनों के फूल लगने की संभावना है। वह स्वयं के चित्त को यदि संसार में सांसारिक भोग-विलास में परि-

पोषित करे तो विष के फूलों को उपलब्ध हो जाता है और चाहे तो आत्मसाक्षात्कार को अपने में जाग्रत् कर अमृत के फूलों को पा सकता है।

इस अध्याय में कथा के उदाहरण से सत्संग की महिमा पर काफी बल दिया गया है। सत्संग में ही साक्षात् ब्रह्म, मंत्रध्वनियों में दैवीशक्ति की अनुभूति प्राप्त होती है। सन्तों, साधुओं और चिन्तकों के विचार और तदनुसार आचरण सिद्धि और सफलता का मार्ग है। मनुष्य जब तक स्वकृत कर्म पर अनुचिन्तन नहीं करता, सत्संगति के लिए प्रयास नहीं करता, तब तक आत्मा का द्वार उसके लिए बन्द ही रहता है। इस द्वार को खोलने में सत्संगति की ही परम महत्ता है। वही एक उत्कृष्ट साधन है, जहाँ से मनुष्य अपनी आत्मा को पा सकता है। सत्संगति संसार में अकेली अपार्थिव घटना है। यह अद्वितीय है। मनुष्य का सारा दर्शन, सारा काव्य, सारा कर्म उससे ही अनुप्रेरित है। मानवीय जीवन में जो कुछ श्रेष्ठ और सुन्दर है वह सब सत्संगति से ही जन्म और जीवन पाता है। सत्संगति की आशा-किरण के सहारे ही प्रभु के आलोकित लोक तक पहुँचा जा सकता है। यह एक स्थिर सत्य है। आत्महीनता से पीड़ित व्यक्ति पद को खोजते हैं और आत्मदरिद्रता से ग्रसित व्यक्ति धन और सम्पदा को तथा अज्ञानी व्यक्ति भोग-विलास को। एकमात्र सत्संगति ही व्यक्तित्व के सही विकास का शुभ पथ है।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

एवं सत्सङ्गमाहात्म्यं श्रुत्वाऽत्रिसुतभाषितम् ।
प्रहृष्टमानसो भूयः प्रष्टुमेवोपचक्रमे ॥ १ ॥
सत्यं प्रोक्तमिदं नाथ भवता शुभकारणम् ।
सत्सङ्गरूपमेतच्च प्रत्यक्षेणैव भावितम् ॥ २ ॥
यो यथा सङ्गमाप्नोति फलं तस्य तथा भवेत् ।
स्त्रियोऽपि हेमलेखायाः सङ्गात् सर्वे महाफलाः ॥ ३ ॥
भूय इच्छाम्यहं श्रोतुं हेमचूडस्तया कथम् ।
बोधितस्तन्ममाचक्ष्व विस्तरेण दयानिधे ॥ ४ ॥
एवं रामेणानुयुक्तो दत्तात्रेय उवाच तम् ।
शृणु भार्गव वक्ष्यामि कथां परमपावनीम् ॥ ५ ॥
एवं तस्या वचः श्रुत्वा विषयान् विरसान् विदन् ।
तेषु सञ्जातनिर्वेदो विमना इव सम्बभौ ॥ ६ ॥
चिरस्थितविषयजवासनानां वशं गतः ।
त्यक्तुं वा सङ्ग्रहीतुं वा नाशकत् सहसा हि सः ॥ ७ ॥

(हेमचूड़ की विवशता एवं हेममाला का उपाख्यान वर्णन)

इस तरह महामुनि अत्रि के सपूत दत्तात्रेयजी से सत्संग की महिमा सुनकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त परशुराम ने उनसे पुनः प्रश्न पूछने की तैयारी की ॥ १ ॥

हे प्रभो ! आपने सत्संग को हर कल्याण का प्रधान कारण बतलाया है, यह तो अक्षरशः सत्यः है । इसका तो मैंने प्रत्यक्ष अनुभव भी कर लिया है ॥ २ ॥

जो जैसी संगत करता है उसी तरह के परिणाम भी मिलते हैं । हेमलेखा तो एक औरत ही थी, परन्तु उसकी संगत से सबको जीवन का महान् फल मिला ॥ ३ ॥

हे दयासागर ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि हेममाला ने हेमचूड़ को किस तरह तत्त्वज्ञान का बोध कराया । इस प्रसंग को कृपया सविस्तार समझा दीजिए ॥ ४ ॥

परशुराम की ऐसी विनत प्रार्थना सुनकर दत्तात्रेयजी ने कहा — हे भृगुनन्दन ! सुनो, मैं तुम्हें वह परमपावनी कथा सुनाता हूँ ॥ ५ ॥

हेममाला की वैसी बातें सुनकर हेमचूड़ को भोगविलास बिलकुल रस-हीन प्रतीत होने लगे । उनमें अरुचि होने के कारण वह उदास-सा रहने लगा ॥ ६ ॥

विषयवासना तो बहुत दिनों से उसमें थी ही, उसके मन पर उनका अधिकार भी था । अतः अब उसे सहसा इसे न तो छोड़ते बनता था और न रखते ही ॥ ७ ॥

प्रियां न किञ्चित् प्रोवाच राजपुत्रोऽतिलज्जितः ।
कांश्चिच्च दिवसानेवमनयच्चिन्तयाकुलः ॥ ८ ॥
विषयेषु प्रसक्तेषु स्मृत्वा तत् प्रिययोदितम् ।
विगर्हन्नेव स्वात्मानं बुभुजे वासनावशः ॥ ९ ॥
वासनावेगवशतो विषयाननुगच्छति ।
दृष्ट्वैव विषयान् दोषान् प्रियाप्रोक्तान् विचिन्तयन् ॥ १० ॥
शोकसंविग्नहृदयो विषीदति मुहुर्मुहुः ।
एवं तस्याभवच्चित्तं चलद्दोलास्थितं यथा ॥ ११ ॥
भोज्यं वस्त्रं भूषणं वा योषिद्वाहनमेव वा ।
मित्राणि वापि सुहृदो नैतत्तं सुखयन्ति वै ॥ १२ ॥
नष्टाखिलार्थ इव स शोचत्येव निरन्तरम् ।
वासनाविवशः सर्वं त्यक्तुं नाशकदञ्जसा ॥ १३ ॥
नोपभोक्तुं तथा शक्तो दोषदृष्टियुतस्ततः ।
एवं तं शोकवशतो विवर्णवदनेक्षणम् ॥ १४ ॥
हेमलेखा समालक्ष्य कदाचित् सङ्गता रहः ।
किं नाथ पूर्ववत्त्वं नो लक्ष्यसेऽत्यन्तहर्षितः ॥ १५ ॥

बहुत अधिक शर्मिन्दा होने के कारण राजकुमार अपनी पत्नी से कुछ कह नहीं पाता । सोच में डूबे इसी तरह उसने कुछ दिन काट लिये ॥ ८ ॥

जब कभी उसे भोग-विलास का मौका मिलता, अपनी पत्नी की बातें याद कर अपने आपको फटकारते हुए भी वासना के वशवर्त्ती होने के कारण उसे भोग ही लेता ॥ ९ ॥

मन में वासना का बहाव रहने के कारण भोग-विलास की ओर खिंच तो जाता, पर फिर अपनी पत्नी के कहे हुए इनके दोषों का खयाल कर उसका मन गम खाकर बेचैन हो जाता और वह बार-बार इस पर सोचने को विवश हो जाता । इस तरह उसका मन झोंका लेते हुए झूले की तरह कभी इधर तो कभी उधर झूलता रहता ॥ १०-११ ॥

अब उसे खाने की चीजें, पहनने की पोशाक, जेवर-गहने, औरत, सवारी अथवा दोस्त-मित्रों की सोहबत — कुछ भी सुखी नहीं कर पाते थे ॥ १२ ॥

वह हमेशा गमगीन बना रहता था । लगता था जैसे उसकी सारी दौलत खत्म हो गयी हो । भावना के अधीन होने के कारण वह अचानक सब-कुछ छोड़ भी तो नहीं सकता था ।। १३ ॥

भोग-विलास के अवगुणों को जान लेने के कारण वह उन्हें भोगने का साहस भी जुटा नहीं पाता था । हेममाला ने जब देखा कि राजकुमार हमेशा बेचैन बना रहता है और उसका मुँह और उसकी आँखें मलिन हैं । फिर एक दिन एकान्त में उससे

शोचन्तमिव पश्यामि कुत एवं तव स्थितिः ।
कच्चिच्छरीरमात्मा ते नामयैर्बाध्यते सदा ॥ १६ ॥
भोगेषु रोगभीतिं वै प्रवदन्ति मनीषिणः ।
त्रिदोषसम्भवे देहे दोषवैषम्यसम्भवाः ॥ १७ ॥
आमयाः प्रायशः सर्वदेहान् व्याप्यैव संस्थिताः ।
सर्वथा ह्यप्रतीकार्यं वैषम्यं दोषजं ननु ॥ १८ ॥
अशनाद्वसनाद्वाचो दर्शनात् स्पर्शनादपि ।
कालाद्देशात् कर्मतश्च दोषा वैषम्यमाप्नुयुः ॥ १९ ॥
अतस्तस्योद्भवो लोके सर्वथाऽलक्ष्यतां गतः ।
इत्यतः सति वैषम्ये चिकित्सा सम्प्रकीर्त्तिता ॥ २० ॥
नोक्ता चिकित्सानुत्पत्तौ वैषम्ये केनचित् क्वचित् ।
तद्वद प्रिय कस्माद्धि शोकस्य तव सम्भवः ॥ २१ ॥
इति श्रुत्वा हेमलेखां प्राह राजसुतस्ततः ।
प्रिये शृणु प्रवक्ष्यामि यन्मे शोकस्य कारणम् ॥ २२ ॥
त्वदुक्त्या यत् पुरा मेऽभूत् सुखदन्तद्धतं ननु ।
न पश्याम्यधुना किञ्चिदपि मे सुखवर्द्धनम् ॥ २३ ॥

मिलकर उसने पूछा — स्वामी, आप पहले की तरह खुशमिजाज नजर क्यों नहीं आते । आखिर इसकी वजह क्या है ? ॥ १४-१५ ॥

मैं आपको हमेशा सोच में डूबा देखती हूँ । आपका हाल ऐसा क्यों है ? क्या आपकी देह में कोई रोग है जिससे आपकी आत्मा सदा दुःखी रहती है ? ॥ १६ ॥

अक्लमंद लोग भोग में रोग बतलाते है । कफ, पित्त एवं वात निर्मित इस देह में तीनों दोषों के बीच विषमता की सम्भावना भी तो है ही ॥ १७ ॥

यही कारण है कि हर देह में कुछ-न-कुछ रोग तो मौजूद रहता ही है । अतः दोषजन्य इस विषमता को दूर हटाना निश्चय ही कठिन है ॥ १८ ॥

इस त्रिदोष की विषमता खान-पान से, कपड़े से, बोलने से, किसी चीज को देखने या छूने से, स्थान या समय से या किसी काम से हो जाते हैं ॥ १९ ॥

अतः इस विषमताजन्य रोग की उत्पत्ति के कारण क्या हैं ? यह बात जन-सामान्य की समझ से परे की है । ऐसी स्थिति में चिकित्साशास्त्र की शरण ली जाती है ॥ २० ॥

अगर यह विषमता न होती तो चिकित्सा का कोई नाम भी नहीं जानता । अतः हे प्रिय ! बतलाइये, आपके इस दुःख का कारण क्या है ? ॥ २१ ॥

यह सुनकर राजकुमार ने हेमलेखा से कहा—प्रिये ! सुनो, मेरी इस चिन्ता की वजह क्या है ? ॥ २२ ॥

तुम्हारी बातें सुनने के पहले मेरे लिए जो वस्तुएँ सुखदायक थी, वही अब

राज्ञा वितीर्णो विषयः सुखदोऽपि समन्ततः।
वध्यं न सुखयेद् यद्वत्तथा तस्मान्न मे सुखम्॥ २४॥
विषयान् सेवमानोऽहं सदा विष्टिगृहीतवत्।
तत् पृच्छामि प्रिये ब्रूहि किं कृत्वा सुखमेम्यहम्॥ २५॥
एवं तेन समापृष्टा हेमलेखा तदाऽब्रवीत्।
नूनमेष सुनिर्वेदमागतो मद्वचःश्रुतेः॥ २६॥
अस्ति बीजं श्रेयसोऽस्मिन् यत एवंविधो ह्ययम्।
येषु श्रेयो ह्यसम्भाव्यं त एवं वाक्यगुम्फनैः॥ २७॥
न ह्यण्वपि विशेषेण विशिष्यन्ते कदाचन।
चिरं संराधिता हृत्स्था प्रसन्ना स्वात्मदेवता॥ २८॥
त्रिपुरा येन तेष्वेव भवेदेवंविधा स्थितिः।
इत्यालोच्यातिविदुषी बुबोधयिषती प्रियम्॥ २९॥
गोपयन्ती स्ववैदुष्यं प्राहान्यव्यपदेशतः।
शृणु राजकुमारेदं यन्मे वृत्तं पुरातनम्॥ ३०॥
पुरा मे जननी काञ्चित् क्रीडनाय सखीं ददौ।

दुःखदायक बन गयी हैं। अब मुझे ऐसी कोई चीज नजर नहीं आती जो मेरे सुख को बढ़ावा दे॥ २३॥

महाराज ने मेरे लिए जो भोग-विलास की वस्तुएँ जुटा दी हैं, वे हर तरह से मेरे लिए व्यर्थ हैं। फिर भी सजा-ए-मौत पाये व्यक्ति को जैसे इन मौज-मस्ती की चीजों में मन नहीं लगता, उसी तरह मुझे ये भोग-विलास की वस्तुएँ सुखदायी प्रतीत नहीं होती हैं॥ २४॥

मैं जो ऐयाशी करता हूँ, वह वासना के वशीभूत बेगार में पकड़े गये लोगों की तरह केवल बोझ ही ढोता हूँ। अब तुम्हीं बतलाओ कि सुख पाने के लिए मैं क्या करूँ?॥ २५॥

उसका ऐसा सवाल सुनकर हेममाला ने अपने-आप से कहा—निश्चय ही मेरी बातों का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। अब इनमें पूर्ण वैराग्य आ गया है॥ २६॥

निश्चय ही इनके भीतर मुक्ति का बीज छिपा है। अन्यथा इनका ऐसा हाल नहीं होता। जिनमें मुक्ति की सम्भावना नहीं होती, उन पर इन बातों का अणु भर भी प्रभाव नहीं पड़ता॥ २७½॥

बहुत दिनों तक आराधना-साधना के बाद अपने हृदय में मौजूद आत्मस्वरूपिणी भगवती त्रिपुरा जिस पर प्रसन्न होती है, उसी की यह दशा होती है॥ २८½॥

ऐसा सोचकर उस परम विदुषी ने अपनी विद्वत्ता को छिपाते हुए, अपने पति को प्रबुद्ध करने की इच्छा से दूसरे की ओट लेकर कहना शुरू किया॥ २९½॥

राजकुमार! सुनें—मेरे साथ भी पहले यह घटना घट चुकी है। बहुत पहले एक

सा स्वभावसती काञ्चिदसतीमनुसङ्गता ।। ३१ ।।
सा विचित्रविधाश्चर्यसृष्टिसामर्थ्यसंयुता ।
अलक्षिता मे जनन्या सख्या मे सङ्गताभवत् ।। ३२ ।।
असच्चरित्रयात्यन्तं सङ्गता मम सा सखी ।
प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा सदा तद्वशगा ह्यहम् ।। ३३ ।।
न तां विहाय मे संस्था क्षणार्द्धं वा क्वचिद्भवेत् ।
सा निर्मलस्वभावेन मां वशीकृत्य संस्थिता ।। ३४ ।।

बार मेरी माँ ने खेलने के लिए मुझे एक सहेली दी । वह स्वयं तो स्वभाव से ही बड़ी साध्वी थी । किन्तु किसी कुलटा की कुसङ्गति में पड़ गयी थी ।। ३०-३१ ।।

उस कुलटा में अनेक तरह की विस्मयकारिणी सृष्टि रचने की सामर्थ्य थी । मेरी माता को किसी तरह की सूचना दिये बिना ही वह मेरी सहेली से जा मिली ।। ३२ ।।

मेरी सहेली का सम्पर्क उस कुलटा के साथ बहुत अधिक बढ़ गया । और मेरी सहेली मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय थी । मैं हमेशा उसके इशारे पर नाचती थी ।।३३।।

उसे छोड़कर एक पल भी मैं कहीं टिक नहीं सकती थी । अपने सतोगुण-प्रधान प्रकृति के कारण उसने मुझे अपने अधीन कर लिया था । दिन-रात उसी में मन लगे रहने के कारण मेरा स्वभाव भी उसी की तरह का हो गया था ।। ३४½ ।।

विशेष—यहाँ से कथा ने दूसरा मोड़ लिया है । सारे के सारे शब्द प्रतीकात्मक हैं । दार्शनिक पृष्ठभूमि में सभी शब्द प्रतीक के संवाहक हैं । जैसे 'वृत्त' शुद्धचिति, माता जीवात्मा, हेममाला बुद्धि तथा सखी अविद्या के प्रतीक हैं । यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अविद्या का कुप्रभाव कब और कैसे बुद्धि को अधिकृत करती है; इसका पता शुद्धचिति को नहीं होता । अथवा इसे इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि शुद्धचिति वास्तव में अविद्या या बुद्धि को अपना विषय ही नहीं मानती है । क्योंकि उसकी दृष्टि में तो बुद्धि आदि प्रपंच की सत्ता ही नहीं है । वह तो केवल आभास मात्र है । कहने का तात्पर्य यह सब करामात 'हान' की है । हान के सम्बन्ध में कहा गया है—

'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्' ।

(पातञ्जलयोगदर्शन, पृ० २३४)

अविद्या के प्रभाव में जो संयोगाभाव है, वही 'हान' कहलाता है और यही द्रष्टा का कैवल्य है । अदर्शन का अभाव होने पर बुद्धि-पुरुष का जो संयोगाभाव अर्थात् बंधन की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, यही हान है । यही साधक का कैवल्य है । पुरुष का अमिश्रीभाव है । दूसरे शब्दों में गुणों के साथ असंयोग है । दुःखकारण की निवृत्ति होने पर जो दुःख की निवृत्ति होती है, वही हान है । इसी अवस्था में पुरुष स्व-प्रतिष्ठित होता है ।

कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य का चित्त सदैव ऐन्द्रिक अनुभवों को संग्रहीत करता रहता है । ये सभी अनुभव बाह्य जगत् के होते हैं । चिति का

निरन्तरं तद्गतात्मस्वभावाऽभवमञ्जसा ।
सा तया दुष्टया युक्ता नट्या चित्रस्वभावया ।। ३५ ।।
परोक्षवृत्तिमानीता स्वपुत्रेणाभियोजिता ।
तस्याः पुत्रोऽतिमूढात्मा मदिराघूर्णितेक्षणः ।। ३६ ।।
बुभुजे तां समाक्रम्य सर्वदा मत्समक्षतः ।
सा तेनाक्रान्तसर्वाङ्गी भुज्यमानानुवासरम् ।। ३७ ।।
न मां जहौ कदाचिच्च तत्स्पृष्टा तेन चाप्यहम् ।
ततः पुत्रः समुत्पन्नो मूढस्य सदृशाकृतिः ।। ३८ ।।
तरुणः सोऽभवत् तूर्णमतिचञ्चलसंस्थितिः ।
पितुर्मौढ्येन संयुक्तः पितामह्या गुणेन च ।। ३९ ।।
अनेकचित्रनिर्माणसामर्थ्येन समावृतः ।
पितामह्या शून्यनाम्न्या पित्रा मूढाभिधेन च ।। ४० ।।

इससे कोई सम्पर्क नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ केवल उसे ही जानने में समर्थ हैं जो बाहर हैं। जो स्वयं के भीतर हैं, वहाँ तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं है। इन अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जननी हैं। अतः कोई विचार भौतिक पदार्थ को खोजने में सहयोगी हो सकता है, किन्तु परम सत्य के अनुसन्धान में नहीं। स्वयं के आन्तरिक केन्द्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो इन्द्रियों के सदा पार्श्व में ही है।

इस अवान्तर कथा के माध्यम से हेममाला ने जिस कथान्तर की सृष्टि की है वह निश्चय ही अद्वितीय एवं सारगर्भित है। स्थूल कथा पञ्चम अध्याय के अन्त तक चलती है। रूपान्तरित अन्तःकथा भी सर्वत्र समभाव से चलती रहती है, जिसके माध्यम से हेममाला अपने पति को स्वरूपस्थ कराना चाहती है।

विचित्र मिजाजवाली उस नटी ने अपने साथ मिली हुई मेरी सहेली को परोक्ष के अनेक प्रलोभन देकर अपने पुत्र के अधीन कर दिया ।। ३५½ ।।

उसका बेटा बड़ा ही बेवकूफ और शराबी था। शराब के नशे में उसकी आँखें हमेशा चढ़ी रहती थीं। वह मेरी आँखों के सामने ही मेरी सहेली के साथ बलात्कार करता था ।। ३६½ ।।

हर रोज जबरदस्ती भोगे जाने के कारण उसके अंग-अंग टूटते रहते। फिर भी वह मेरा साथ कभी नहीं छोड़ती। एक दिन तो गजब ही हो गया। मेरी देह भी उससे छू गई। कुछ दिनों के बाद उन्होंने एक बेटा जन्म लिया। वह अपने बेवकूफ बाप की तरह बेडौल रूपवाला हुआ ।। ३७–३८ ।।

वह बहुत जल्द जवान हो गया। वह भी अपने बेवकूफ बाप की तरह बड़ा ही चुलबुला और ऐयाश था। दादी के गुण भी उसमें मौजूद थे ।। ३९ ।।

'अस्थिर' नाम के उस लड़के में बहुत तरह की तस्वीर बनाने की ताकत थी।

अस्थिराह्वः शिक्षितोऽभूत् स्वयं चातिविशारदः ।
गतिमप्रतिबद्धां वै शीघ्राच्छीघ्रां समासदत् ॥ ४१ ॥
एवं मम सखी स्वच्छस्वभावा जन्मतः सती ।
असतीसङ्गतोऽत्यन्तं मालिन्यं समुपागता ॥ ४२ ॥
सख्या प्रियेण पुत्रेणासत्स्वभावयुतेन सा ।
चिरसङ्गात्तेषु दृढानुरागेण समायुता ॥ ४३ ॥
जहौ मय्यनुरागन्तु सर्वथा क्रमतः सखी ।
अहं स्वभावसरला हातुं तत्सङ्गमञ्जसा ॥ ४४ ॥
अनीशा तत्परैवासं सर्वथा तामनुव्रता ।
अथ तस्याः प्रियो मूढो भुञ्जानस्तां तु सर्वदा ॥ ४५ ॥
प्रसह्य मां समाक्रान्तुमुद्युक्तः सर्वथाऽभवत् ।
नाहं स्वभावसंशुद्धा वस्तुतस्तद्वशं गता ॥ ४६ ॥
तथापि लोके मेऽत्यन्तं परीवादो महानभूत् ।
मूढेन सर्वथेयं च भुज्यते इति सर्वतः ॥ ४७ ॥
अस्थिराख्यं स्वपुत्रं सा मयि न्यस्य सखी मम ।
प्रियेण सम्परिष्वक्ता सर्वथा तत्पराऽभवत् ॥ ४८ ॥

वह खुद तो होशियार था ही, फिर भी 'शून्य' नाम वाली उसकी दादी और 'मूढ़' नाम वाले पिता ने उसे गहरी तालिम देकर पक्का बना दिया। जल्द से जल्द अब वह इतना अधिक ताकतवर हो गया कि उसकी गति को कोई भी रोक नहीं पाता था ॥ ४०–४१ ॥

इस तरह मेरी सहेली जो बड़ी पाक दामन औरत थी, जो पैदाइशी पाक थी, उस नापाक औरत की सोहबत में रहकर और ज्यादे गन्दी हो गई ॥ ४२ ॥

अपने बदमिजाज आशिक और बेटे की सोहबत में बहुत दिनों तक रहते-रहते उसका भी उन्हीं में पुख्ता लगाव हो गया ॥ ४३ ॥

धीरे-धीरे उसने मुझसे मुँह मोड़ लिया। पर मैं तो ठहरी सीधी-साधी, सो मुझ से एकाएक उसका साथ छोड़ते न बना। मैं हर हमेशा उसी के साथ लगी रहती और उसके पीछे चलती ॥ ४४ ॥

उसका आशिक 'मूढ' जब जी में आता उसके साथ बलात्कार तो करता ही था, अब हर हमेशा जबरन मेरे साथ भी मुँह काला करने की ताक में लगा रहता। पर पाक दामन होने के कारण मैं कभी उसको हाथ न लगी ॥ ४५–४६ ॥

फिर भी समाज में मेरी काफी बदनामी फैल गई। मूढ को लेकर लोग नुकता-चीनी करते और कहते कि मूढ इसका यथेच्छ उपभोग करता है ॥ ४७ ॥

मेरी सहेली ने अपने बेटे 'अस्थिर' को मेरे हवाले कर खुद अपने आशिक के गले लगकर हमेशा-हमेशा के लिए उसकी हो गई ॥ ४८ ॥

अथास्थिरो मया सम्यग् लालितः पोषितस्ततः ।
प्रौढस्त्रियं पितामह्या अनुमत्योपसङ्गतः ।। ४९ ।।
सा प्रिया तस्य चपलाभिधाना हि प्रतिक्षणम् ।
प्रियस्य सम्मतं रूपं भिन्नं भिन्नं मनोहरम् ।। ५० ।।
गृह्णात्याश्चर्यजननं प्रियमेवं स्वके वशे ।
चक्रे सात्यन्तनिपुणा स्वनैपुण्यवशात् खलु ।। ५१ ।।
अस्थिरोऽपि क्षणेनैव त्वसङ्ख्यशतयोजनम् ।
प्रयात्यायाति च सदा न श्रान्तिमुपगच्छति ।। ५२ ।।
समीहते यत्र गन्तुमस्थिरश्च यदा यदा ।
तस्येष्टं स्वस्वरूपन्तु कृत्वा सा चपलापि हि ।। ५३ ।।
तत्र तत्र स्थिता भूत्वा रमयत्येव स्वं प्रियम् ।
एवं सा चपला सम्यगस्थिरेण युता सती ।। ५४ ।।
सुषुवे पञ्चतनयान् मातापितृपरायणान् ।
ते समर्थाः पञ्चविधा मयि सख्या निवेशिताः ।। ५५ ।।
अहं सख्यनुरक्ता तानकुर्वं बलवत्तरान् ।
अथ ते पञ्चतनयाश्चपलायाः पृथक् पृथक् ।। ५६ ।।
चक्रुरायतनं श्रेष्ठं विचित्रमतिविस्तृतम् ।
पितरं स्ववशे चक्रुर्मात्रा सम्यग् विभाविताः ।। ५७ ।।

अब उसके बेटे का लालन-पालन मैं करने लगी । वह लड़का अपनी दादी के मशविरा से एक ढलती उमर की औरत के साथ अवैध यौन सम्बन्ध स्थापित कर लिया ।। ४९ ।।

उसकी उस चहेती का नाम चपला था । उसकी एक खूबी थी । वह अपने आशिक के मन-मुताबिक हर पल अनेक तरह के मनभावन और ताज्जुब में डालनेवाला रूप धारण कर लेती थी । वह काफी चालाक औरत थी । बड़ी होशियारी से उसने अपने प्रेमी को रूपजाल में फाँस लिया ।। ५०–५१ ।।

अस्थिर भी पलक झपकते करोड़ों कोस आ-जा सकता था । उसे थकान कभी महसूस होती ही नहीं थी ।। ५२ ।।

'अस्थिर' जब कभी जहाँ कहीं जाने की सोचता, उसके मन-मुताबिक बाना बदलकर चपला भी वहाँ पहुँचकर अपने आशिक का जी बहलाती ।। ५३½ ।।

इस तरह अस्थिर के साथ रहकर चपला ने पाँच बेटे पैदा किये । वे सभी अपने माँ-बाप के अनुगत थे । वे सब-के-सब बड़े ताकतवर थे और पाँचों पाँच तरह के थे । उन्हें भी मेरी सहेली ने मुझे ही सौंप दिया ।। ५४–५५ ।।

सहेली की प्रीति के कारण मैंने उन्हें पाल-पोसकर काफी ताकतवर बना दिया ।

आनयन्ति स्वायतनं पितरं तं क्षणे क्षणे।
तत्रास्थिरो ज्येष्ठसुतायतनं विनिविश्य तु ॥ ५८ ॥
अश्रृणोद्विविधान् शब्दान् सुस्वरानितरानपि।
क्वचिन्मधुरसङ्गीतं क्वचिद् वाद्यं सुमङ्गलम् ॥ ५९ ॥
ऋचो यजूंषि सामानि मन्त्रानाथर्वणानपि।
शास्त्रागमेतिहासांश्च भूषणानाञ्च सिञ्जितम् ॥ ६० ॥
भृङ्गसङ्घस्य गीतञ्च पिकपञ्चमसुस्वरम्।
एवं मनोहराञ्शब्दाञ्श्रृण्वन् पुत्रनिदेशतः ॥ ६१ ॥
प्रीतः पुत्रवशं प्रागादथ पुत्रोऽन्यथादिशत्।
विरुद्धान् कर्णकटुकानश्रृणोद्भैरवान् रवान् ॥ ६२ ॥
सिंहादिगर्जितं मेघनिर्घोषमशनेस्तथा।
ब्रह्माण्डभेदनं गर्भस्रावणं सुभयङ्करम् ॥ ६३ ॥
रुदितं विप्रलपितं शोचितादिविचित्रितम्।
एवं श्रुत्वा सुचकितश्चान्यत्राप्यश्रृणोत्तथा ॥ ६४ ॥
द्वितीयसुतनीतोऽथास्थिरस्तद्भुवनं ययौ।
तत्रापश्यन् मृदुस्पर्शान्यासनानि शुभानि च ॥ ६५ ॥

उन पाँचों ने अपने लिए अलग-अलग विलक्षण, मशहूर तथा खूबसूरत रहने के लिए घर बनवा लिए। फिर वे माँ की शह पाकर पिता पर हावी हो गये ॥ ५६–५७ ॥

वे बाप को हर पल अपने-अपने घर बुलाते रहते थे। एक दिन 'अस्थिर' अपने बड़े बेटे के घर गया। वहाँ उन्होंने अनेक तरह की सुरीली आवाज सुनी तथा अनेक अन्य शब्द भी सुने ॥ ५८½ ॥

यहाँ उसने कभी गीत की मीठी तान सुनी तो कभी मांगलिक धुन। कभी ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद की ऋचायें सुनी तो कभी शास्त्र, आगम और इतिहास की गाथायें सुनी। कभी पायलों की झंकार तो कभी भौंरों की गुन्जार और कभी कोयलों की पंचम तान ॥ ५९–६०½ ॥

इस तरह बेटे के इशारे पर मीठी तान सुनकर वह बड़ा खुश हुआ। जब उसकी अधीनता उसने कबूल कर ली तब उसने अपना दूसरा रंग दिखलाया। उसने अपने मन के खिलाफ सख्त और डरावनी आवाज भी सुनी ॥ ६१–६२ ॥

सिंह-बाघ जैसे खतरनाक जानवरों की गुर्राहट, बादल और बिजली की गड़-गड़ाहट, संसार की ऊपरी सतह चीरकर बाहर निकलनेवाली डरावनी आवाज, गर्भपात का करुण क्रन्दन, गमगीनों की कराहती आवाज; ऐसी ही अनेक चौकाने वाली आवाज सुनकर वह चौंक उठा। ऐसी ही अनेक डरावनी और आवाजें उसने सुनी ॥ ६३–६४ ॥

एक बार दूसरे बेटे के बुलाने पर वह उसके घर भी गया। वहाँ उसने मुलायम

शयनानि च वासांसि कठिनस्पर्शकान्यपि ।
शीतस्पर्शानि वस्तूनि तथोष्णस्पर्शकानि च ।। ६६ ।।
अनुष्णाशीतस्पर्शानि विचित्राण्यभिवीक्ष्य तु ।
हितान् दृष्ट्वा प्रमुदितो विषण्णस्त्वहितानपि ।। ६७ ।।
अथ तृतीयतनयभवनं प्राप्य सोऽस्थिरः ।
अपश्यद् रुचिराकारान् भावान् विविधवर्णकान् ।। ६८ ।।
रक्तान् श्वेतान् पीतनीलान् हरितान् पाटलानपि ।
धूम्रान् कडारान् कपिशान्मेचकान् कर्बुरांस्तथा ।। ६९ ।।
स्थूलान् कृशानणून् दीर्घानायतान् वर्त्तुलांस्तथा ।
अर्द्धवृत्तान् दीर्घवृत्तान् सुन्दरांश्च विभीषणान् ।। ७० ।।
बीभत्सान् भास्वरान् रौद्राननालोकांश्च दृङ्मुषः ।
क्वचिद्धितं ततोऽन्यश्च पश्यन्तं पितरं पुनः ।। ७१ ।।
अनयत्तुर्यतनयो भवनं स्वं विचित्रितम् ।
तत्राससाद पुष्पाणि फलान्यन्यानि च क्रमात् ।। ७२ ।।
पेयानि लेह्यचोष्याणि भक्ष्याणि रसवन्ति वै ।
सुधास्वादूनि मधुराण्यन्यान्यम्लरसानि च ।। ७३ ।।

बैठक, गुलगुले गद्दे, कोमल कपड़े देखे । इसी तरह कड़ी ठंडी और गर्म तासीर वाली वस्तुएँ भी उन्होंने देखी । उनमें कई ऐसी चीजें भी थीं जो छूने पर न तो ज्यादे गर्म थी और न ज्यादे ठंड ही । इस तरह की अनेक वस्तुओं को देखकर मन-मुताबिक चीजों से खुशी हुई और प्रतिकूल वस्तुओं को देखकर तकलीफ भी हुई ।। ६५–६७ ।।

फिर अस्थिर ने तीसरे बेटे के घर जाकर अनेक रंगों और आकारवाली बहुत सारी चीजें देखी ।। ६८ ।।

वे चीजें लाल, पीले, काले, हरे, भूरे, धूसरे, मटमैले, सुनहरे, सफेद, चितकबरे तथा अनेक रंगों की और मोटे, पतले, छोटे, लम्बे, चौड़े, गोल आदि अनेक आकृतियों की थीं । कोई गोलार्ध और कोई लम्बगोलाकार थे । कई चीजें खूबसूरत तो कई डरावनी लगती थीं ।। ६९–७० ।।

इसी प्रकार कोई घिनौना तो कोई चमाचम, कहीं उजाला तो कहीं अँधेरा जहाँ आँखें नहीं काम करतीं । उनमें कुछ तो फायदेमन्द और कुछ नुकसानदेह लगते थे । इस तरह जब अस्थिर रंग-बिरंगी चीजें देख रहा था, उसका चौथा बेटा वहाँ आकर उसे अपने विचित्र भवन में ले गया ।। ७१ ।।

वहाँ उसने सिलसिलेवार ढंग से कई तरह के फूल और फल देखें । कई तरह के उन्होंने रसीले शरबत, चटनी, चुसकी और कई तरह की खाने योग्य चीजों का भक्षण किया । उनमें से कुछ तो अमृत की तरह मीठे थे और कुछ खट्टे तो कुछ कड़वे, कुछ

कटुकानि च तिक्तानि कषायाण्यपि कानिचित् ।
क्षाराणि मधुराम्लानि कट्वम्ललवणानि च ॥ ७४ ॥
कटुतिक्तानि चित्रात्मरसानि विविधान्यपि ।
आस्वादयन्नात्मजेन समेतोऽथान्तिमः सुतः ॥ ७५ ॥
निनाय पितरं स्थाने स्वीयेऽत्यन्तविचित्रिते ।
तत्रोपालभतानेकपुष्पाणि च फलानि च ॥ ७६ ॥
तृणान्यन्यान्योषधीश्च भावानन्यांश्च सर्वतः ।
सुगन्धान् पूतिगन्धांश्च मृदुगन्धोग्रगन्धकान् ॥ ७७ ॥
मोहगन्धान् ज्ञानगन्धान् मूर्च्छागन्धान्विचित्रितान् ।
पुत्राणां भवने चैवं प्रविशन् निविशन्नपि ॥ ७८ ॥
हितेषु रमते क्वापि विषीदत्यहिते क्वचित् ।
सदा गमागमपरः पुत्राणां भवने बभौ ॥ ७९ ॥
ते पुत्राः पितृवात्सल्यात् पितृहीना न च क्वचित् ।
स्पृशन्ति विषयांश्चित्रान् स्वल्पं वापि कदाचन ॥ ८० ॥
अस्थिरस्तु पुत्रगृहे भुक्त्वा तान् विषयान् बहून् ।
मुषित्वान्यांश्च विषयान् गुप्त्या नयति स्वं पदम् ॥ ८१ ॥

चरपरे तो कुछ कसैले थे । कुछ नमकीन तो कुछ खटमिट्ठे, कुछ कड़वाहट लिए खट्टे, कुछ नमकीन तो कुछ में तीन-तीन रस एक साथ मिले, कुछ कड़ुए तो कुछ तीते थे । इस तरह अनेक रसीली चीजें वह अपने बेटे के साथ खा रहा था उसी समय उसका पाँचवाँ बेटा उसे अपने विचित्र महल में ले गया । वहाँ भी उसे अनेकों फूल और फल मिले ॥ ७२–७६ ॥

वहाँ उन्होंने हर ओर पेड़-पौधे, जड़ी-बूटी तथा अन्य वस्तुओं का भी अनुभव किया । उनमें किसी से खुशबू निकल रही थी तो किसी से बदबू । किसी से मीठी-मीठी महक निकल रही थी तो किसी से तीखी गन्ध । किसी की गन्ध मन को मोह लेती थी तो किसी की गन्ध चौंका देती थी । किसी की गन्ध से मदहोशी आती तो किसी से बदहोशी । इस तरह वहाँ उन्होंने अनेक तरह की विलक्षण वस्तुओं को महसूस किया ॥ ७७ ॥

बेटे के घरों में आते-जाते उसे जहाँ मनमाफिक चीजें मिलतीं वहाँ वह रम जाता और जहाँ अनचाही चीजों से पल्ला पड़ता वहाँ से जल्द ही ऊब भी जाता । इस तरह अब वह अपने बेटों के घर का ही चक्कर लगाता रहता ॥ ७८–७९ ॥

इनके सभी बेटे बाप के बड़े अनुगामी थे । वालिदपरस्त होने के नाते बाप को साथ लिये बिना उन विलक्षण वस्तुओं में से कभी किसी को हाथ नहीं लगाते ॥८०॥

किन्तु 'अस्थिर' उन विलक्षण वस्तुओं का उपभोग बेटे के घरों में छक कर करता था, फिर भी उनमें से कुछ को चुपके से चुराकर अपने साथ घर ले आता था ॥८१॥

पत्न्या चपलया साकं रहः पुत्रैर्विना स्वयम् ।
भुनक्त्यतिरां नित्यमथान्या चपला स्वसा ॥ ८२ ॥
महाशना पतिं वव्रे मनःकान्तं तमस्थिरम् ।
तस्यामतितरां सक्तो यदाभूदस्थिरोऽपि वै ॥ ८३ ॥
तदा तस्याः प्रीतये स भोगाहरणतत्परः ।
तेनानीतं बह्वपि च भक्षित्वा क्षणमात्रतः ॥ ८४ ॥
पुनर्बुभुक्षयाक्रान्ता भोगाहरणहेतवे ।
सदा प्रियं सन्दिशति सोऽप्याहर्त्तुं सदेक्षते ॥ ८५ ॥
पुत्रैः पञ्चभिरानीतं प्रियेणापि सुसम्भृतम् ।
भुक्त्वा क्षणेन भूयोऽपि सा बुभुक्षाप्रपीडिता ॥ ८६ ॥
भोगाहृतौ सन्दिशति प्रियं पुत्रांश्च सर्वदा ।
ततः सा स्वल्पकालेन सुषुवे पुत्रयोर्युगम् ॥ ८७ ॥
ज्वालामुखस्तयोर्ज्येष्ठो निन्द्यवृत्तस्तथापरः ।
सदा मातुः प्रियतमौ तौ पुत्रौ सम्बभूवतुः ॥ ८८ ॥
महाशनायामासक्तः संश्लिष्यति यदा स्थिरः ।
तदा ज्वालामुखज्वालालीढसर्वकलेवरः ॥ ८९ ॥

जब बेटे घर में नहीं होते तो तनहाई पाकर 'अस्थिर' वहाँ हररोज अपनी पत्नी चपला के साथ मनमाने सम्भोग करता। चपला की एक बहन थी। उसका नाम महाशना था। कुछ दिन के बाद महाशना ने 'अस्थिर' को अपनी ओर खिंचते महसूस किया। उसे हर तरह माकूल पाकर उससे शादी कर ली ॥ ८२ ॥

जब 'अस्थिर' को भी उससे काफी लगाव हो गया। वह उसकी हर खुशी के लिए हमेशा भोग-सामग्री जुटाने में मुस्तैद रहने लगा ॥ ८३ ॥

इसके खाने-पीने के लिए वह बहुत सारी चीजें जुटा लेता, पर महाशना उसे पलक झपकते चट कर जातीं। फिर वह भोगलिप्सा से बड़ी बेचैन हो जाती और अपने महबूब को भोग के लिए नई-नई चीजें जुटाने को बढ़ावा देती रहती थी ॥ ८४–८५ ॥

पति का तो पूछना ही क्या? पाँचों बेटे भी उसके लिए खाने-पीने की बहुत सारी चीजें जुटा लाते, पर क्षण-पल में वह उसे साफ कर देती और फिर कुछ और पाने की वही बेचैनी बनी रहती ॥ ८६ ॥

भोजन और विलास की सामग्री जुटाने में वह हर हमेशा अपने प्रेमी और पाँचों बेटे को जोतती रहती। फिर कुछ ही दिनों में उसने दो बेटे को जन्म दिया ॥ ८७ ॥

उनमें बड़े का नाम 'ज्वालामुख' तथा छोटे का नाम 'निन्द्यवृत्त' था। वे दोनों बेटे अपनी माँ के बड़े लाडले थे ॥ ८८ ॥

महाशना की मुहब्बत में मदहोश होकर जब अस्थिर उसे गले लगाता तो कभी

अस्थिरः पीडितोऽत्यन्तं गाढमूर्च्छामुपैति हि ।
कदाचिन्निन्द्यवृत्तेन सङ्गतः प्रियसूनुना ॥ ९० ॥
सर्वैर्विनिन्द्यतामेति मृततुल्यो हि जायते ।
एवं यदास्थिरो जातो दुःखभोगैकतत्परः ॥ ९१ ॥
तदा सखी मे स्वभावसती पुत्रेऽस्थिराह्वये ।
अतिवात्सल्यतस्तेन सङ्गता तस्य दुःखतः ॥ ९२ ॥
दुःखभारसमाक्रान्ता निन्द्यवृत्तेन सङ्गता ।
ज्वालामुखेन च तथा पौत्रेणाश्लेपिता सती ॥ ९३ ॥
सुदग्धा निन्दिता लोकैर्मृतप्राया बभूव ह ।
तां सदानुगता चाहं लुप्तप्रायाभवं प्रिय ॥ ९४ ॥
एवं बहूनि वर्षाणि सख्या दुःखेन दुःखिता ।
अस्थिरोऽभूदस्वतन्त्रो महाशनापरिग्रहात् ॥ ९५ ॥
पुरं प्राप दशद्वारं केनचित् कर्मणा क्वचित् ।
तस्मिन् महाशनायुक्तो पुत्रैर्मात्रादिभिर्युतः ॥ ९६ ॥
न्यवसत् स सुखप्रेप्सुर्दुःखं भुञ्जन् दिवानिशम् ।
पुत्राभ्यां दग्धसर्वाङ्गो निन्दितश्चानुवासरम् ॥ ९७ ॥

ज्वालामुख की ज्वाला में तड़प कर बेहोश हो जाता। जब कभी अपने लाडले बेटे निन्द्यवृत्त का साथ होता तो समाज में निन्दा का पात्र बनकर जिन्दा ही मर जाता ॥ ८९–९० ॥

इस तरह 'अस्थिर' अब हमेशा तकलीफ झेलने के लिए ही तैयार रहने लगा। स्वभाव से ही मेरी सखी और 'अस्थिर' की माँ बड़ी सरल और परम साध्वी थी। अपने बेटे से उसे अगाध प्रेम था। अतः उसके दुःख में वह भी उसी तरह दुःखी रहने लगी। धीरे-धीरे दोनों पोते 'ज्वालामुख' निन्द्यवृत्त' से भी उसका लगाव हो गया। फलतः उन दोनों के संसर्ग से जो उसे दाह और लोकनिन्दा मिली, उससे वह जिन्दा मुर्दा बनगई। और जहाँ तक मेरा सवाल है तो प्रियतम ! मैं तो सदा ही उसके अनुरूप थी। अतः उसके साथ ही मैं भी गायब हो गई ॥ ९१–९४ ॥

इस तरह कई साल तक मैं भी अपनी सहेली के दुःख से परम दुःखी रही और बिचारा 'अस्थिर' भी महाविनाश के जाल में फँसकर बिलकुल विवश हो गया ॥ ९५ ॥

जन्मार्जित किसी कर्म के फलस्वरूप एक दिन भटकते-भटकते वह एक नगर में पहुँच गया। उस नगर में दस द्वार थे। वहाँ वह अपने पाँचों बेटे, पत्नी महाशना और माँ के साथ रहने लगा। वहाँ उसे सुख खोजते हुए मिला दुःख और मिली विवशता ॥ ९६ ॥

अपने दो लाड़ले बेटे के बीच वह कभी इधर खिचती सारी देह में जलन होती

इतस्ततः समाकृष्टः प्रियाभ्यां सर्वदा हि सः।
पुत्राणां पञ्चभवनं प्रविशन् निविशन्नपि ॥ ९८ ॥
अत्यन्तं श्रान्तिमायाति न सुख लभते क्वचित्।
एव पुत्रस्य दुःखेन सखी मेऽत्यन्तदुःखिता ॥ ९९ ॥
अभून्मूच्छितकल्पा सा एवं तत्पुर आवसत्।
ज्वालामुखनिन्द्यवृत्तयुता या सा महाशना ॥ १०० ॥
शून्याख्यया पोषिता च मूढेन श्वशुरेण च।
तथा सपत्न्या चपलाख्ययात्यन्त समेधिता ॥ १०१ ॥
अस्थिरं स्ववशे चक्रे पतिं तत्पुरसंस्थिता।
सखीप्रीत्या तत्र चाहमवसं तत्परा सती ॥ १०२ ॥
सखीदुःखाद्धतप्राया सर्वेषां रक्षणोद्यता।
यद्यहं तत्र न स्यां वै क्षणमात्रमपि प्रिय ॥ १०३ ॥
न भवेत्तत्र चैकोऽपि मया सर्वं हि रक्षितम्।
शून्यया शून्यतां प्राप्ता मूढेन मूढतामपि ॥ १०४ ॥
अस्थिरेणास्थिरत्वञ्च चापल्यं चपलायुता।
ज्वालामुखाज्ज्वलत्ताञ्च निन्द्यवृत्तात्तदात्मताम् ॥ १०५ ॥

और कभी उधर खिंचती तो लोकनिन्दा का सामना करना पड़ता। दूसरे बेटे के पाँच घरों में आते-जाते वह थककर चूर हो जाती। सुख तो उसे कभी नसीब नहीं होता ॥ ९७–९८ ॥

इस तरह बेटे के दुःख से दुःखी मेरी सहेली बेहोश हो जाती। महाशना ज्वालामुख और निन्द्यवृत्त नामक दोनों बेटे के साथ ही उस नगर में रहने लगी ॥ ९९–१०० ॥

शून्य नामक उसके मूढ ससुर ने तथा चपला नाम वाली सौत ने उसका जमकर पालन-पोषण किया ॥ १०१ ॥

उस नगर में रहते हुए उसने अपने पति 'अस्थिर' को पूरी तरह अपना वशवर्त्ती बना लिया। सहेली की प्रीति के कारण मैं भी उसके मुआफिक बनकर उसी जगह बनी रही ॥ १०२ ॥

सहेली की मुसीबत देखकर मैं तो प्रायः मर-सी गई थी, फिर भी मैं उनके बचाव में लगी रहती थी। हे प्रियतम ! यदि मैंने वहाँ एक पल भी नहीं रहती तो पता नहीं उनमें एक भी बचते या नहीं। मैंने ही उन सबों को बनाये रखा है ॥ १०३ ॥

शून्य अर्थात् अविद्या के साथ लगाव होने की वजह से मैं शून्य हो गई। मूढ़ के साथ लगाव होने से वैसा ही बन गई। 'अस्थिर' के साथ ताल्लुक रहने से मैं भी 'अस्थिर' हो गई। चपला की दोस्ती के कारण 'चपला' बन गई। ज्वालामुख से वास्ता रहने पर जलनशील बन गई। निन्द्यमुख से पाला पड़ने की वजह से मैं भी वैसे ही बन गई ॥ १०४–१०५ ॥

सखीसंयोगतश्चैवमभवन्तत् तदाकृतिः ।
सखीं यदि विमुञ्चामि सा नश्येत् क्षणमात्रतः ।। १०६ ।।
मां सङ्गतेन तेषां वै समाहुर्व्यभिचारिणीम् ।
जना मूढा सर्व एव कुशला निर्मलां विदुः ।। १०७ ।।
महासती मे जननी विशुद्धा निर्मलाकृतिः ।
आकाशादपि विस्तीर्णा सूक्ष्मा च परमाणुतः ।। १०८ ।।
सर्वज्ञानाप्यकिञ्चिज्ज्ञा सर्वकर्त्र्यपि निष्क्रिया ।
सर्वाश्रयाप्यनाधारा सर्वाधाराप्यनाश्रिता ।। १०९ ।।
सर्वरूपाप्यरूपा सा सर्वयुक्ताप्यसंयुता ।
सर्वत्र भासमानापि न ज्ञेया केनचित् क्वचित् ।। ११० ।।
महानन्दाप्यनानन्दा मातापितृविवर्जिता ।
मादृश्यस्तनयास्तस्याः सन्ति सङ्ख्याविवर्जिताः ।। १११ ।।
यथा तरङ्गा जलधेरसङ्ख्यः सोदरीगणः ।
सर्वास्ता मत्समाचारा राजपुत्र भवन्ति वै ।। ११२ ।।
महामन्त्रवती चाहं सर्वैरेतैः सखीगणैः ।
सङ्गता तत्परा चापि मातृतुल्या स्वरूपतः ।। ११३ ।।

इस तरह सहेली की आशनाई के कारण मुझे ये सारे रूप बदलने पड़े । यदि मैं सहेली को छोड़ देती तो वह एक पल भी नहीं बच पाती ।। १०६ ।।

उनकी संगति के कारण बेवकूफ तो मुझे बदचलन कहने ही लगे थे, पर भले लोग मुझे बेदाग समझते थे ।। १०७ ।।

मेरी माँ बड़ी पाक दामन औरत थी । बड़ी सच्ची और कलंक रहित थी । वह आकाश से भी बड़ी और परमाणु से भी छोटी थी ।। १०८ ।।

वह सब कुछ जानकर भी अनजान थी । सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करती थीं । सबका सहारा होकर भी किसी का आसरा नहीं करती थी । सबका आधार होकर भी खुद निराधार थीं ।। १०९ ।।

वह दुनिया की हर शकल में मौजूद है, फिर भी उसकी अपनी कोई सूरत नहीं है । वह सबके साथ मिलकर भी सबसे अलग है । वह हर जगह दिखाई देती है, फिर भी आज तक उसे कहीं किसी ने नहीं देखा ।। ११० ।।

वह चरम आनन्द रूप होकर भी निरानन्द है । उसकी न कोई माँ है न कोई बाप । अलबत्ता मेरी तरह उनकी अनगिनत संतानें जरूर हैं ।। १११ ।।

सागर की लहरों की तरह मेरी बेशुमार बहनें अवश्य हैं, राजकुमार ! वे मेरी ही तरह की चाल-चलन वाली हैं ।। ११२ ।।

मुझमें मंत्र की बड़ी ताकत है । इसी से अपनी सहेलियों के साथ घुल-मिल कर रहने के बावजूद अपनी माँ के तौर पर बिलकुल बेदाग हूँ ।। ११३ ।।

अस्मिन् पुरे सखीपुत्रो यदा श्रान्तो भवत्यलम् ।
तदा मातुः समुत्सङ्गेऽस्थिरः शेते सुनिर्भरम् ॥ ११४ ॥
अस्थिरस्तु यदा सुप्तस्तदा तस्य सुतादयः ।
स्वापं समधिगच्छन्ति नान्यो जागर्त्ति कश्चन ॥ ११५ ॥
तदा तद्रक्षति पुरमस्थिरस्य प्रियः सखा ।
प्रचाराख्यः प्रतिचरन् पूर्वद्वारयुगे मुहुः ॥ ११६ ॥
अस्थिरस्यापि या माता सखी मे तनयेन सा ।
तस्याः सखी च या श्वश्रूरसती या स्वभावतः ॥ ११७ ॥
सा समाच्छाद्य तान् सर्वान् पुत्रेण सह रक्षति ।
एवं सर्वेषु सुप्तेषु प्राप्य स्वां मातरं तदा ॥ ११८ ॥
आनन्दिताहं भवामि मात्राश्लिष्टा चिरं ननु ।
पुनस्तानुत्थितान् शीघ्रमनुसंयामि चान्वहम् ॥ ११९ ॥
अस्थिरस्य सखा योऽयं प्रचाराख्यो महाबलः ।
स सर्वानस्थिरमुखान् पोषयत्यनुवासरम् ॥ १२० ॥
स एको बहुधा भूत्वा पुरश्च पुरवासिनः ।
व्याप्य रक्षत्यनुदिनं सर्वान् संश्लेषयत्यपि ॥ १२१ ॥

इस नगर में घूमते-फिरते जब मेरी सहेली का बेटा 'अस्थिर' बिलकुल थक जाता है तो अपनी माँ की गोद में बेफिक्र होकर सो जाता है ॥ ११४ ॥

'अस्थिर' के सो जाने पर उसके सारे बेटे भी सो जाते हैं। फिर उस समय कोई भी जगा नहीं रहता ॥ ११५ ॥

'अस्थिर' के सो जाने पर उसके प्रिय मित्र 'प्रचार' पूरब के दोनों दरवाजों से आते-जाते इस नगर की रक्षा करते हैं ॥ ११६ ॥

जब अपने बेटे 'अस्थिर' के साथ मेरी सहेली भी गहरी नींद में सो जाती, तब इस हालत में उसकी सास, जो स्वभाव से बुरी तथा उसकी सहेली भी थी, उन्हें घेर कर उनकी रक्षा करती थीं ।। ११७½ ॥

इस तरह जब सभी सो जाते, तब मैं अपनी माँ के पास लौट जाती। उसके गले लगकर बहुत समय तक खुशी में डूबी रहती थीं। फिर वे जब जग जाते तो मैं भी उनके साथ मिलकर वैसी ही बन जाती ॥ ११८–११९ ॥

'अस्थिर' का मित्र 'प्रचार' बहुत अधिक बाहुबली था। वही हर रोज सपरिवार इसका पोषण करता था ॥ १२० ॥

वह एक होकर भी अनेक रूपों में नागरिकों के बीच उनसे घुल-मिल कर उनकी रक्षा करता और उन्हें उनके अधिकार क्षेत्र तक पहुँचा देता था ॥ १२१ ॥

तं विना ते हि विश्लिष्टा नष्टाः स्युरपि सर्वथा ।
सूत्रेण हीना मणयो मालाबद्धा यथा पृथक् ॥ १२२ ॥
स एव माञ्च सङ्गम्य सर्वैः संयोजयेत् पुरम् ।
मया सञ्जीवितोऽत्यन्तं सूत्रधारो हि तत्पुरे ॥ १२३ ॥
जीर्णे तु तत्पुरे चान्यत् पुरं तान्नयति द्रुतम् ।
एवं प्रचारं संश्रित्य पुराणामधिपोऽभवत् ॥ १२४ ॥
बहूनामस्थिरो नूनं विचित्राणां क्रमेण वै ।
सतीपुत्रोऽप्यस्थिरः स संश्रितोऽपि महाबलम् ॥ १२५ ॥
मया च भावितोऽत्यन्तं सर्वथा दुःखभागभूत् ।
चपलामहाशनाभ्यां पत्नीभ्यां सुसमागमत् ॥ १२६ ॥
ज्वालामुखनिन्द्यवृत्ताभिधपुत्रयुगेन च ।
अन्यैः पुत्रैः पञ्चभिः स सर्वत्राभिविकर्षितः ॥ १२७ ॥
महाक्लेशपरीतात्मा सुखलेशविवर्जितः ।
इतस्ततः क्वचित् पुत्रैः पञ्चभिः स विकर्षितः ॥ १२८ ॥
क्वचिच्चपलयात्यन्तं चालितः खेदमीयिवान् ।
क्वचिन्महाशनाहेतोरशनार्थं प्रधावति ॥ १२९ ॥

उसके बिना वे बिलकुल अलग-अलग होकर बरबाद हो जाते, जैसे माला में पिरोये हुए मन के धागा न रहने पर बिखर जाते हैं ॥ १२२ ॥

उस नगर का प्रधान सूत्रधार 'प्रचार' ही है। वही मुझसे मिलकर सबको उस नगर से जोड़ता है। मुझसे अनुप्राणित होकर सबको प्रेरित करता है ॥ १२३ ॥

जब वह नगर बहुत पुराना हो जाता है, तब वही उन्हें नये नगर बहुत जल्द बसाता है। इस तरह 'प्रचार' का सहारा लेकर 'अस्थिर' अनेक नगरों का मालिक बन गया ॥ १२४½ ॥

'अस्थिर' एक साध्वी नारी का बेटा था। उसे 'प्रचार' जैसे बाहुबली का सहारा मिला था। मैं भी उसे बढ़ावा देती थी, फिर भी वह हर तरह से मुसीबत में था ॥ १२५½ ॥

चपला और महाशना नामक दो पत्नियों के बीच इसका समागम था। ज्वाला-मुख, निन्द्यवृत्त और अन्य पाँच बेटों के बीच खींचतान में वह पड़ा था ॥१२६-१२७॥

इससे उसका दिल दिन-रात दुःख में डूबा रहता। सुख तो उसे थोड़ा भी नसीब नहीं हुआ। पाँचों बेटे उसे कभी इधर घसीटते तो कभी उधर ॥ १२८ ॥

कभी चपला के कारण बहुत ज्यादे चंचल होकर दुःख झेलता तो कभी महाशना के कारण वह उसके उपभोग की वस्तु जुटाने में भागदौड़ करता रहता ॥ १२९ ॥

क्वचिज्ज्वालामुखाक्षिप्तो निर्दग्धापादमस्तकः ।
महामूर्च्छां समायाति चाविदंस्तत् प्रतिक्रियाम् ॥ १३० ॥
निन्द्यवृत्तं क्वचित् प्राप्य गर्हितो भर्त्सितः परैः ।
मृततुल्यं स्वमात्मानं मन्यते शोकसन्ततः ॥ १३१ ॥
दुष्पत्नीपुत्रसहितो मोहितो दुष्कुलोद्भवः ।
पत्नीपुत्रैः समाक्रान्तो नीयमानस्तु तैः सदा ॥ १३२ ॥
उवास तैर्विचित्रेषु पुरेषूच्चावचेषु हि ।
क्वचित् कान्तारकीर्णेषु क्रव्यादाकुलभूमिषु ॥ १३३ ॥
क्वचिदत्यन्ततप्तेषु क्वचिच्छीतजडेषु च ।
क्वचित् पूतिवहास्थेषु क्वचिद् गाढतमःसु च ॥ १३४ ॥
एवं भूयोऽतिदुःखेन दुःखितं तनयेऽस्थिरे ।
सखी च मे दुःखमूढाऽभवद् दुःसङ्गता सदा ॥ १३५ ॥
स्वभावसत्यपि मुधा तामन्वहमपि प्रिय ।
मूढेवात्यन्तमभवं तत्कुटुम्बपरायणा ॥ १३६ ॥
को हि दुःसङ्गतः सौख्यं प्राप्नुयाल्लेशतः क्वचित् ।
गच्छन् मरुस्थले ग्रीष्मे तृष्णाशान्ति ययौ नरः ॥ १३७ ॥
एवं चिरतरे काले संवृत्ते मम सा सखी ।
मोहितात्यन्तखेदेन मया रहसि सङ्गता ॥ १३८ ॥

कभी-कभी ज्वालामुख की ला-इलाज लपट की चपेट में पड़कर सिर से पैर तक दहकते हुए वह बेहोश हो जाता ॥ १३० ॥

कभी जब उसे 'निन्द्यवृत्त' का साथ होता तो लोग उसकी निन्दा करते, उसे पैर-पैर पर अपमानित होना पड़ता, तब उसे लगता कि वह जिन्दा ही मर गया है ॥१३१॥

नीच खानदान में पैदा होनेवाला 'अस्थिर' अपनी कमीनी औरतों और बदमाश बेटों में लीन था । उनसे हमेशा घिरा रहता । वे जिधर चाहते इसे ले जाते । उनके साथ ही अनेक तरह के विचित्र छोटे-बड़े नगरों में निवास करते रहे ॥ १३२½ ॥

कभी दुर्भेद्य फैले हुए गहन वन में, तो कभी मांसभक्षी जानवरों से भरे जंगलों में कभी आग की तरह जलती धरती पर तो कभी ठंड से ठिठुरा देनेवाले क्षेत्र में, कभी गन्दी नालियों में तो कभी घोर अन्धेरे में भटकता रहा ॥ १३३–१३४ ॥

इस तरह कुसंगति में पड़ी मेरी सहेली अपने बेटे 'अस्थिर' को बहुत ज्यादे तकलीफ में तड़पते देखकर खुद भी हमेशा उस तकलीफ से बेसुध रहने लगी ॥१३५॥

हे प्रिय ! यद्यपि मैं स्वभाव से परम पवित्र थी फिर भी उसके परिवार की अनुगामिनी होने के कारण बे-वजह मैं भी काफी बेवकूफ बन गयी ॥ १३६ ॥

कुसंगति में पड़कर थोड़ा सुख भी किसे मिला है ? जेठ की जलती दुपहरिया में रेगिस्तान में चलते हुए किसकी प्यास बुझी है ? ॥ १३७ ॥

मदेकसङ्गाद्युक्तिं सा प्राप्यासाद्य च सत्पतिम् ।
जित्वा स्वतनयं हृत्वा बद्ध्वा तत्तनयादिकान् ।। १३९ ।।
मया सङ्गम्य मन्मातृपुरमासादयद् द्रुतम् ।
मन्मातरं परिष्वज्य मुहुर्मुहुरकल्मषा ।। १४० ।।
आनन्दार्णवनिर्मग्नस्वभावाऽभवदञ्जसा ।
एवं त्वमपि दुर्वृत्तं निगृह्य सखिसम्भवम् ।। १४१ ।।
प्राप्य स्वमातरं नाथ सुखं नित्यं समाप्नुहि ।
एतत्ते कथितं नाथ स्वानुभूतं सुखास्पदम् ।। १४२ ।।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
बन्धाख्यायिका पञ्चमोऽध्यायः ।

इस तरह बहुत अरसे तक मेरी सहेली मुसीबतों से जूझते-जूझते जब थक गयी तब एक दिन एकान्त में मुझसे मिली ।। १३८ ।।

मैंने उसे एक उपाय बतलाया । इससे उसे एक अच्छा पति मिला । इससे उसने अपने बेटे 'अस्थिर' को जीता । फिर इनकी सहायता से इन्हीं के बेटों में से कुछ को तो इसने मार ही डाला और कुछ को बांध लिया ।। १३९ ।।

मैंने उसे साथ दिया, अतः शीघ्र ही वह मेरी माँ की नगरी में आ गयी । यहाँ उसने मेरी माँ के गले लगकर अपने पापों को धो डाला ।। १४० ।।

फिर तो सहज ही आनन्दसागर में गोता लगाना उसका स्वभाव बन गया । इसी तरह आप भी मेरी सहेली के बुरे बेटों को दमित कर अपनी माँ से मिलकर नित्य सुख पा सकते हैं । सुखस्थान का मैंने अनुभव किया है । उसी का मैंने वर्णन भी किया है ।। १४१–१४२ ।।

विशेष—पंचम अध्याय की इस लौकिक कथा के माध्यम से अलौकिक दिव्य तत्त्व का अनुचिन्तन किया गया है । कथा के सभी पात्र प्रतीकात्मक (Auegorical) हैं । यद्यपि लौकिक कथा का प्रवाह सामान्य है फिर भी इसमें अन्तःसलिला फल्गु की धारा की तरह असामान्य गूढार्थप्रतिपादक तत्त्व है । प्रत्येक पात्र किसी-न-किसी तत्त्व के प्रतीक हैं । यथा—

जननी मे—हेमलेखा ने जिसे अपनी माँ कहा है—तत्त्व-विवेचन की दृष्टि से वह 'शुद्धचिति' है । सर्वोच्च व्यावहारिक आत्मभाव की उपलब्धि ही शुद्धचिति की प्रमुख विशेषता है । विवेकज्ञानपूर्वक परम वैराग्य-बल से शुद्धचिति के दर्शन होते हैं । ये अनुभूतिगम्य हैं ।

मे—'मे' अस्मत् शब्द के षष्ठी एकवचन का रूप है । इसका प्रयोग हेमलेखा ने अपने लिए किया है, जो 'जीवात्मा' का प्रतीक है ।

क्रीडनाय सखीं ददौ—यहाँ 'सखी' 'बुद्धि' का प्रतीक है । जीवात्मा हमेशा बुद्धि

के हाथों में खेलती है। बुद्धि बड़ी चंचल है। इसकी संवेदना बड़ी सतही है। जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्थायित्व होता है और न कोई दृढ़ता। उसका तो बनना-मिटना चलता ही रहता है। सागर का अन्तःस्थल न तो उससे प्रभावित होता है और न परिवर्त्तित ही। ऐसी स्थिति है जीवात्मा के साथ बुद्धि की। बुद्धि और जीवात्मा की मैत्री कुछ इसी तरह की है। यही सम्बन्ध हेमलेखा का अपनी सहेली के साथ है।

असच्चरित्रमात्मन्वंसङ्गता—यहाँ हेमलेखा की सखी एक दुश्चरित्रा की संगति में पड़ गयी। 'दुश्चरित्रा' 'अविद्या' का प्रतीक है। हेमलेखा की सहेली एक दुश्चरित्रा की कुसंगति में पड़ गयी, इसका बोध उसकी माँ को नहीं है। क्योंकि अविद्या कब जीव की बुद्धि पर अपना अधिकार जमा लेती है, इसका बोध शुद्धचिति को भी नहीं होता है। अथवा तात्त्विक दृष्टि से शुद्धचिति का विषय न तो अविद्या है और न बुद्धि ही। क्योंकि उसकी दृष्टि में बुद्धि या अविद्या प्रपञ्च की सत्ता ही नहीं है। उसे तो वह केवल आभास मात्र मानती है। क्योंकि ये विजातीय तत्त्व हैं। उससे शुद्धचिति की सत्ता उद्घाटित नहीं, वरन् और आच्छादित ही होती है। उनका धुंध और धुंआ जितना गहरा होता है उतना ही स्वसत्ता में प्रवेश कठिन और दुर्गम हो जाता है। जो स्वयं को नहीं जानता वह शुद्धचिति की अनुभूति कैसे कर सकता है? सत्य की बौद्धिक विचारधारणा ऐसे ही है, जैसे कोई अन्धा व्यक्ति प्रकाश का चिन्तन करता हो। अतः शुद्धचिति का बुद्धि और अविद्या के संसर्ग से अनभिज्ञता स्वाभाविक है।

परोक्षवृत्तिमानीता स्वपुत्रेणाभियोजिता—परोक्ष पदार्थ का प्रलोभन देकर उस कुलटा ने उसे अपने बेटे के अधीन कर दिया। इसे ही 'मोह' कहा गया है। मोह भ्रमित बुद्धि का प्रतीक है। सहज स्फुरित स्वभाव के अभाव में जो जीवन है वह दिव्यता की ओर ले जाने में असमर्थ होता है, क्योंकि वह वस्तुतः सत्य नहीं है। क्योंकि उसके आधार किसी-न-किसी रूप से भय या प्रलोभन पर आधारित रहता है। फिर वह प्रलोभन लौकिक हो या पारलौकिक, मोह ही है। इसी से पतन का मार्ग प्रशस्त होता है।

तस्याः पुत्रोऽतिमूढात्मा—'मूढ' शब्द का यो तो कोषगत अर्थ है—जड़ीभूत, मोहित, उद्विग्न या व्याकुल, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से मूढात्मा' एक विवेच्य शब्द है। चित्तभूमि का यह एक स्वरूप है। चित्त की सहज या स्वाभाविक वृत्ति ही चित्त-भूमि है। ये चित्तभूमियाँ पाँच प्रकार की है—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इस दृष्टि से विचार करने पर 'मूढ' चित्त की दूसरी भूमि है। जो चित्त किसी इन्द्रिय-विषय में मुग्ध होने के कारण तत्त्वचिन्तन करने में अयोग्य हो जाता है, उसे ही मूढ कहा जाता है। यह चित्त मोहक विषय के प्रति सहज ही लीन हो जाता है। मूढ जन कामिनी-कांचन के अनुराग से इनके प्रति शीघ्र आकर्षित हो जाते हैं।

न मां जहौ—बलात्कार से सदैव धर्षित रहने के बावजूद मेरी सहेली मुझे नहीं

छोड़ती थी। इसका तात्पर्य यह है कि वह मोहग्रस्त थी और मोहाक्रान्त रहने पर भी बुद्धि के समस्त व्यापार और भोग चित्प्रकाश से ही प्रकाशित रहते हैं। जो बुद्धि चिरस्थायी है और जिसकी अपेक्षा कोई सूक्ष्मतर बुद्धि नहीं हो सकती तथा जो कभी अभिभूत नहीं हो सकती वही ज्ञानचिन्मय है।

तत्स्पृष्टा तेन चाप्यहम्—एक दिन हेममाला का भी उस मूढ से स्पर्श हो गया। यहाँ तात्पर्य यह है कि बुद्धि से तादात्म्य रहने के कारण जीवात्मा ने भी अपने को मोहग्रस्त मान लिया और वहाँ जीवात्मा एक विशिष्ट विश्वास की जंजीर में जकड़ जाता है। विचार विश्वास से बिलकुल विरोधी घटना है। विश्वास अचेतन है। उसमें जो चलता है वह मात्र जीता ही है, तात्त्विक जीवन को उपलब्ध नहीं होता। सही जीवन को उपलब्ध करने के लिए विश्वास की नहीं, विचार और विवेक की दिशा पकड़नी होती है।

ततः पुत्रः समुत्पन्नो—तदनन्तर उन दोनों के एक पुत्र हुआ। पुत्र का तात्पर्य यहाँ मन से है। 'पितुर्मौढ्येन संयुक्तः पितामह्या गुणेन च'—मन में अपने पिता मोह का गुण जड़ता और अपनी 'दादी' अविद्या का गुण विचित्र सृष्टिरचना रहती ही है।

पितामह्या शून्यनाम्ना—फिर शून्य नामक दादी मूढ नाम वाले पिता ने पुत्र 'अस्थिर' में अपना गुण भर कर कुशल बना दिया। यहाँ शून्य और 'अस्थिर' दोनों ही नाम प्रतीकात्मक है। वास्तव में शून्य से तात्पर्य 'अविद्या' से है। वास्तव में अविद्या की कोई सत्ता नहीं है। इसीलिए उसे शून्य कहा गया है। इसी अविद्या की कुसंगति में हेममाला की सहेली अपने निर्मल स्वभाव और सतीत्व के बावजूद मलिन हो गई। क्योंकि शुद्ध सत्त्वमयी होने पर भी अविद्या के अधीन होने पर रजोगुण एवं तमोगुण विशिष्ट बन गई। जहाँ तक अस्थिर' नामक पुत्र का प्रश्न है, यह भी प्रतीकात्मक ही नाम है। क्षिप्तभूमि चित्त को 'अस्थिर' कहा जाता है। क्षिप्तभूमिक और मूढभूमिक चित्त में क्रोध, लोभ और मोह का समावेश रहता है।

जिस 'अस्थिर' चित्त को समय-समय पर समाहित किया जा सकता है, उसे ही 'अस्थिर' या विक्षिप्त चित्त कहा जाता है। जिस समय स्थिरता का प्रादुर्भाव होता है, उस समय 'अस्थिर' दबा रहता है। पुराणों में अनेक समाहितचित्त ऋषियों के भ्रष्ट होने का जो वर्णन मिलता है, वह ऐसे ही अप्रधान विशेष की करामात है।

इसका एक उदाहरण ही पर्याप्त है। जागरित अवस्था का संस्कार ही स्वप्न होता है। जागरित अवस्था में यदि बहुत समय तक सहज ही चित्त एकाग्र रहे तो स्वप्न में भी वैसा ही रहेगा। एकाग्रता का लक्ष्य है ध्रुवास्मृति अथवा सर्वदा आत्मस्मृति। उसके संस्कार से स्वप्न में भी आत्मविस्मरण नहीं होता, केवल शारीरिक स्वभाव से ही इन्द्रियाँ जड़ बनी रहती हैं। एकाग्र चित्त की समाधि के चार कार्य हैं—सत्स्वरूप अर्थ का प्रकाश, क्लेशक्षय, कर्मबन्धनशैथिल्य और निरोधावस्था की समुपस्थिति।

सर्वदा तामनुव्रता—यह भी प्रतीकार्थक है। मेरी सखी ने मेरा साथ छोड़ दिया फिर भी मैं दिन-रात उसका अनुसरण करती रही। अर्थात् इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि से जीवात्मा का तादात्म्य हो गया और वह बुद्धि के व्यापारों को अपना ही व्यापार मानने लगा।

प्रौढस्त्रियम्—अस्थिर ने अपनी दादी की अनुमति से एक प्रौढा स्त्री से सम्बन्ध जोड़ लिया। यह प्रौढा स्त्री कल्पना है।

चपला सम्यगस्थिरेण युता सुषुवे पञ्चतनयान् मयि सख्या निवेशिता—अस्थिर के साथ रहकर चपला ने पाँच पुत्रों को जन्म दिया। तात्पर्य यह है कि ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। यथा—श्रवणेन्द्रिय, त्वगिन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय। ये माता-पिता के बड़े अनुगत थे। तात्पर्य यह कि ये इन्द्रिय-वर्ग मन की कल्पना-शक्ति को बढ़ाने में सहायक होते हैं। मेरी सखी ने इन्हें भी मुझे ही सौंप दिया। तात्पर्य यह है कि उनका भी चैतन्य जीवात्मा से तादात्म्य हो गया।

महाशना—यह नाम भी प्रतीकात्मक है। आशा विषयभोगों से कभी तृप्त न होने के कारण इसे 'महाशना' कहा गया है। 'ज्वालामुख' क्रोध है और 'निन्द्यवृत्त' लोभ।

तां सदानुमता चाहं लुप्तप्रायाभवम्—उनके साथ मैं भी लुप्त हो गई। अर्थात् जब जीव की उपाधिवृद्धि रजोगुण और तमोगुण रूप लोभ एवं क्रोध से व्याप्त हो गया तो चित्स्वरूप का भान न होने के कारण मानो जीवात्मा लुप्त हो गया।

पुरं प्राप दश द्वारम्—दस द्वार वाले एक नगर में जा पहुँचा। यह नगर शरीर है, जिसमें दस द्वार अर्थात् दस इन्द्रियाँ हैं।

मया सर्वं हि रक्षितम्—हेममाला ने ही उन सबों की रक्षा की। अर्थात् जीवात्मा के रहने पर ही ये सब जीवित रहते हैं। अन्यथा इनका अस्तित्व ही नगण्य है।

सर्वाधाराप्यनाश्रिता—सब कुछ जानकर भी वह अनजान थी, सबका आधार होकर भी निराधार थी। तात्पर्य यह है कि शुद्धचिति में ही सब का भास होता है, इसलिए वह सबका आश्रय तो है, किन्तु वास्तव में उसमें किसी की सत्ता नहीं है, अतः उसे किसी आधेय का आधार नहीं कह सकते हैं। सब उसी में भासते हैं, अतः वह सबका आधार है। परन्तु उसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं है, वह स्वयं प्रकाश है, अतः निराधार है; क्योंकि उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं है।

महानन्दाप्यनानन्दा—स्वरूपतः आनन्दस्वरूपा होने के बावजूद भी कोई निमित्त न होने के कारण उसमें आनन्द का आविर्भाव नहीं होता। 'महामन्त्रवती चाहम्' से अघटित घटना-पटीयसी महामाया से तात्पर्य है। प्रचार नामक प्रिय सखा 'प्राण' है तथा दोनों द्वारों से दोनों नासिकारन्ध्र का बोध होता है।

तस्या सखी—इससे तात्पर्य अविद्या या शून्या से है। अपना पुत्र मोह है। अपनी माता से तात्पर्य—सुषुप्ति में जीव का अपने शुद्ध स्वरूप या शुद्धचिति से संयोग हो जाता है। **श्रुति में कहा गया है—'सता सौम्यवदा सम्पन्नो भवति'।**

मदेकसङ्गाद्युक्तिम्, सत्पतिम्, हत्वा, बध्वा—एकान्त में अर्थात् विषयावभास से रहित हो 'मुझ से मिली' अर्थात् शुद्धचिदाकार हो गई। युक्ति का तात्पर्य वैराग्य से है। सत्पति विवेक को कहा गया है। क्रोध और लोभ को मार कर ज्ञानेन्द्रियों को बाँध लिया। ये ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी'।

मातपुरमासादयत्—माता की नगरी से तात्पर्य यहाँ शुद्धचित्स्वरूप में स्थित हो जाना है। दुराचारी बेटे का मतलब मन से है तथा अपनी माता शुद्धचिति है। इस तरह यह सम्पूर्ण रूपक ज्ञान और वैराग्य परक है। अन्तःसलिला फल्गु की तरह कथा का स्वरूप सर्वत्र द्व्यर्थक है। गम्भीर अर्थ विवेचन-सापेक्ष्य है।

प्रज्ञा कैसे उपलब्ध हो, इसी पर यह सम्पूर्ण चिन्तन आधारित है। हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त होते ही प्रज्ञा बन जाती है। चित्त में ऐसी क्रान्ति समाधि से उत्पन्न होती है। समाधि-साधना के प्रमुख तीन अंग हैं—चित्तविषयों के प्रति अनासक्ति, चित्तवृत्तियों के प्रति जागरूकता और चित्तसाक्षी की स्मृति।

चित्तविषयों के प्रति अनासक्ति से उससे संस्कार बनने बन्द हो जाते हैं और चित्तवृत्तियों के प्रति जागरूकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारंभ होता है और चित्तसाक्षी की स्मृति से स्वयं का द्वार खुलता है।

चित्त और चित्तवृत्तियों के समग्र संस्थान का केन्द्र अहंकार है। उनके विलीन होने से वह भी विसर्जित हो जाता है। तब जो शेष रहता है और जिसकी अनुभूति होती है वही आत्मा है। इसी आत्मा की सही पहचान इस अध्याय में कराने की चेष्टा की गई है।

पंचम अध्याय समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

एवं प्रियावचः श्रुत्वा हेमचूडोऽतिविस्मितः ।
हसन् पप्रच्छ तां कान्तामविद्वान् विदुषीं तदा ॥ १ ॥
प्रिये प्रोक्तं यदेतत्ते खचित्रमिव भाति मे ।
निरालम्बं..........जानाम्येतदशेषतः ॥ २ ॥
नूनं तदप्सरोद्भूता ऋषिणा वर्द्धिता वने ।
संसृष्टयौवनाद्यापि त तारुण्यमलङ्कृता ॥ ३ ॥
वक्ष्यस्यनेकसाहस्रवर्षाणामिव संस्थितिम् ।
भूतग्रस्तोक्तिसदृशवचसा तेऽतिमात्रतः ॥ ४ ॥
असन्दर्भेण किमहं विबुद्धयामि यथार्थतः ।
वदते सा सखी क्वास्ते बद्धश्च सखि पुत्रकः ॥ ५ ॥
पुराणि तानि वा कुत्र संस्थितानि तदीरय ।
अस्तु किं तेन वृत्तेन वद मे क्व च सा सखी ॥ ६ ॥
सखीं न प्राप्तवान् मातुरहं तत् प्रतिचारय ।
आर्यास्ति मेऽवरोधे स्वे पितुर्मेऽन्या नहि प्रिया ॥ ७ ॥

अपनी प्रेयसी की ऐसी बातें सुनकर हेमचूड़ हक्का-बक्का रह गया । यह लड़की जीवन के यथार्थ को जानती है—यह वह नहीं जानता था । इसलिए मुस्कुराते हुए उसने उससे पूछा ॥ १ ॥

महबूबा ! तुमने जो कुछ कहा, वह मुझे आसमान में चमकती तसवीर की तरह जान पड़ती है । मैं तो इसे बिलकुल बेतुकी बातें ही समझता हूँ ॥ २ ॥

निश्चय ही देवाङ्गना के गर्भ से तुम्हारी उत्पत्ति है । जंगल में एक तपस्वी ने तुम्हें पाल-पोष कर बड़ा किया है । पौगंड पार कर अभी तो तुमने जवानी की दहलीज पर पाँव ही रखा है ॥ ३ ॥

फिर भी तुम अपनी हजारों साल पुरानी जिन्दगी का ब्यौरा बतला रही हो । तुम्हारी बातों से लगता है जैसे तुम्हारे सिर भूत चढ़कर बोल रहा है ॥ ४ ॥

तुम्हारी सारी बातें बेतुकी लगती हैं, फिर उन्हें मैं कैसे समझूं ? तुम्हीं बतलाओ, तुम्हारी वह सहेली कहाँ है ? अपने किन बेटों को उसने बांधा है ? ॥ ५ ॥

यह भी बतलाओ, वे नगर कहाँ है ? या और बातें छोड़ो, मुझे केवल इतना भर बतला दो, तुम्हारी वह सहेली कहाँ है ? ॥ ६ ॥

मेरी माँ ने मुझे कोई सहेली नहीं दी, तुम चाहो तो उनसे पूछ लो । वे अपने राजमहल में हैं । उनके सिवा मेरे पिता को और कोई पत्नी नहीं है ॥ ७ ॥

सा वा सखी मे कुत्रास्ते तत्पुत्रो वा वद द्रुतम् ।
मन्येऽहं ते वचो लोके वन्ध्यापुत्रसमाश्रयम् ॥ ८ ॥
यथाह कश्चिन्नटीको विदूषवचोविधौ ।
वन्ध्यापुत्रः समारूढः प्रतिबिम्बमहारथम् ॥ ९ ॥
शुक्त्यारोपितहैरण्यभूषणैर्भूषिताङ्गकः ।
आयुधैर्नरश्रृङ्गोत्थैर्युद्ध्वा गगनकानने ॥ १० ॥
हत्वा भविष्यद्राजानं जित्वा गन्धर्वपत्तनम् ।
मरीचिस्रोतसि स्वाप्नकामिनीभिर्हि खेलति ॥ ११ ॥
तथा तव वचो मन्ये सर्वथाऽसङ्गतं ननु ।
श्रुत्वैवं प्रियवाक्यं सा चतुरा प्राह तं पुनः ॥ १२ ॥
नाथ प्रोक्तं मया यत्ते तत् कथं स्यादपार्थकम् ।
न मादृशानां वचनं निरालम्बं क्वचिद्भवेत् ॥ १३ ॥
मृषा हि तपसां हन्त्री सत्यशीलेषु सा कुतः ।
तपस्विनां कुले कस्माच्छ्वित्रे सौन्दर्यवद्भवेत् ॥ १४ ॥

अतः मुझे जल्द बतलाओ, मेरी सहेली और उनके बेटे कहाँ है ? मुझे तो तुम्हारी बातें वंध्यापुत्र अर्थात् संसार में कभी न होनेवाली अनहोनी जैसे झूठी लगती हैं ॥ ८ ॥

तुम्हारी बातें ऐसी ही लगतीं हैं जैसे नाटक खेलते समय कोई पात्र भाँड़ की भूमिका में बोले कि बाँझ का बेटा परछाईं के विशाल रथ पर चढ़ा है ॥ ९ ॥

उसने सीप में मढ़े सोने के गहनों से अपने सब अंग सजाये हुए हैं। आदमी के सींगों से बने हथियारों से आसमान में दीखनेवाले जंगल में युद्ध कर भविष्य में होने वाले एक राजा का उसने वध कर दिया और गन्धर्वनगर अर्थात् गाँव आदि का वह मिथ्या आभास, जो आकाश या स्थल में दृष्टिदोष से दिखाई पड़ता हो, उसे जीत कर रेगिस्तान की मृगतृष्णा रूपी सोते में स्वप्नसुन्दरियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा है ॥ १०–११ ॥

मैं तो तुम्हारी बातों को वैसी ही बेतुकी मानता हूँ। प्रिय की वैसी बातें सुनकर उस चालाक औरत ने फिर उससे कहा ॥ १२ ॥

मेरे मालिक ! मैंने आपसे जो कुछ कहा है, वह बेतुका कैसे हो सकता है ? मेरे जैसे लोगों का कथन बेबुनियाद तो हो ही नहीं सकता ॥ १३ ॥

झूठ बोलने से तो तप भंग होता है। सदाचारी जनों में झूठ की गुंजाइश कहाँ ? सफेद कोढ़ के दागवाली देह में जैसे सौन्दर्य की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह तापस कुल में जन्म लेनेवाले लोगों में झूठ बोलने की सम्भावना नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

यो योजयति जिज्ञासुमन्यार्थेन ह्यसत्यतः ।
तस्य नोद्र्ध्वं न चाधस्ताल्लोकेऽस्ति सुखसाधनम् ॥ १५ ॥
श्रृणु राजसुतोक्तिं मे लोके तैमिरिकः क्वचित् ।
समदृष्टि नैति शीघ्रमञ्जनानां वचोगणैः ॥ १६ ॥
असत्यमेव जानाति हितप्रोक्तं च मूढधीः ।
तत्त्वां प्रियाहं जिज्ञासुमसत्यैर्योजयामि किम् ॥ १७ ॥
अप्यसत्यं मयोक्तं यत्तद्विमर्शय सद्धिया ।
लोके हि कुशलो मर्त्यः सर्वव्यवहृतौ ननु ॥ १८ ॥
परीक्ष्यैकांशतः सर्वामभिजानाति संस्थितिम् ।
निदर्शनं प्रदास्यामि तुभ्यमत्र समीक्षया ॥ १९ ॥
यः पुरा विषयः सर्वो बभूवाभीष्टसाधनम् ।
चिरान्मद्वचनात् सोऽद्य कुतो न सुखसाधनम् ॥ २० ॥
स एवाद्य साधयति सुखमन्येषु वै कुतः ।
एतन्निदर्शनेनैव स्वमतं वेत्तुमर्हसि ॥ २१ ॥
श्रृणु राजन् यद्धि वरं ऋज्वा निर्मलया धिया ।
अनाश्वासो रिपुलोको भवेदाप्तोक्तिषु स्थिरः ॥ २२ ॥

विशेष—श्वित्रम् = सफेद कोढ़–'तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन । स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥' (काव्यालङ्कारसू० वृ० १।७)

झूठ बोलकर जो व्यक्ति किसी खोजी या मुमुक्षु को किसी दूसरी दिशा की ओर मोड़ देता है, उन्हें ऊपर या नीचे किसी लोक में सुख नहीं मिलता ॥ १५ ॥

राजकुमार ! मेरी बात सुनिए – संसार में जिसे रतौंधी लगी हो, उसके आगे सूरमा या काजल कह देने से उसे साफ-साफ दिखलाई तो नहीं देने लगती ॥ १६ ॥

बेवकूफों को तो फायदेमन्द बातें भी झूठी ही लगती हैं । आप कुछ जानना चाहते हैं । मैं आपकी प्रिय पत्नी हूँ, फिर आपको झूठ कैसे कह सकती हूँ ॥ १७ ॥

मान लिया, मैंने आपसे झूठ ही कह दिया । फिर भी आप तो उस पर अपनी बुद्धि से विचार कर ही सकते हैं । संसार में आदमी तो हर-फन मौला होता है ॥ १८ ॥

किसी भी हालात के एक हिस्से की जाँच कर होशियार आदमी पूरी परि-स्थिति से वाकिफ हो सकता है । विचार करने के लिए आपको मैं एक अनुभव की याद दिलाती हूँ ॥ १९ ॥

जो काम बहुत दिनों से आपके सुख का साधन बना था, वही काम मेरी बात सुनने के बाद अब सुखकर क्यों नहीं रहे ? ॥ २० ॥

वे ही काम अभी भी दूसरों के लिए सुखद हैं क्यों ? बस इसी अनुभव से आप मेरे कहने के बारे में अपना निर्णय ले सकते हैं ॥ २१ ॥

श्रद्धा माता प्रपन्नं स वत्सलेव सुतं सदा।
रक्षति प्रौढभीतिभ्यः सर्वथा नहि संशयः॥ २३॥
आप्तेष्वश्रद्धितं मूढं जहाति श्रीः सुखं यशः।
स भवेत् सर्वतो हीनो यः श्रद्धारहितो नरः॥ २४॥
श्रद्धा हि जगतां धात्री श्रद्धा सर्वस्य जीवनम्।
अश्रद्धो मातृविषये बालो जीवेत् कथं वद॥ २५॥
अश्रद्धस्तरुणः पत्न्यां कथं स सुखमेधते।
तथापत्येषु स्थविरः कथमीयात् सतीं गतिम्॥ २६॥
अश्रद्धो वा भुवं कस्माद् विकर्षेत् कर्षकः किल।
न प्रवृत्तिर्भवेत् क्वापि त्यागे वा सङ्ग्रहेऽपि वा॥ २७॥
श्रद्धावैधुर्ययोगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः।
एकान्तग्रहणाल्लोकप्रवृत्तिरिति चेच्छृणु॥ २८॥
एकान्तग्रहणे वापि श्रद्धा कस्मात् प्रतिष्ठिता।
तत्राप्येकान्तशरणः श्रद्धाशरण एव हि॥ २९॥

राजन्! श्रेष्ठ बातों को सहज भाव से सुनिए। विश्वस्त व्यक्ति के वचन में विश्वास न करना—अपने आप से दुश्मनी करना है॥ २२॥

श्रद्धा ममतामयी माँ की तरह है। जो व्यक्ति उसकी शरण में जाता है, अपनी सन्तान की तरह वह उसकी रक्षा बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में भी करती है। इसमें सन्देह नहीं॥ २३॥

जो व्यक्ति प्रामाणिक पुरुषों में श्रद्धा नहीं रखता, उसका साथ श्री, सुख और कीर्त्ति छोड़ देती है। श्रद्धाविहीन व्यक्ति हर तरह से हीन हो जाता है॥ २४॥

श्रद्धा ही सारी दुनिया की पालन-पोषण करनेवाली धाय है। श्रद्धा ही सबकी जिन्दगी है। आप ही बतलाइये, माँ पर यदि विश्वास न हो तो फिर वह बालक जिन्दा कैसे रहे॥ २५॥

युवा पुरुष यदि अपनी पत्नी में विश्वास न करे तो उसे सुख कैसे मिल सकता है? और बूढ़े लोगों का विश्वास अपने बच्चों से उठ जाय तो फिर वे चैन से कैसे जी सकते हैं?॥ २६॥

किसान को यदि अगली फसल मिलने का विश्वास न हो तो वह धरती कैसे जोतेगा? संचय हो या अपचय, विश्वास नहीं रहने पर मन का लगाव कैसे होगा॥ २७॥

श्रद्धा और विश्वास के अभाव में दुनिया का अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा। यदि आप कहें कि दुनिया का व्यवहार तो अलग ढंग से चलता है तो सुनें॥ २८॥

एकान्तग्रहण अर्थात् सार्वजनिक सहवर्त्तिता के बोध में भी भला क्यों विश्वास होता है? यहाँ भी एकान्तग्रहण में श्रद्धा या विश्वास ही है, इसका सहारा लेना ही श्रद्धा का सहारा है॥ २९॥

तस्माच्छ्रद्धामृते लोकोऽवसीदेदश्वसन् ध्रुवम् ।
तस्माच्छ्रद्धां दृढां प्राप्य सुखमात्यन्तिकं व्रज ॥ ३० ॥
श्रद्धाऽवरे न कार्येति मन्यसे यदि तच्छृणु ।
इयञ्च श्रद्धयैवास्ते प्रवृत्तिर्नृपतेः सुत ॥ ३१ ॥
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यादिति श्रुत्वा प्रियावचः ।
हेमचूडः प्राह पुनः प्रियां कुशलभाषिणीम् ॥ ३२ ॥
नूनं प्रिये सर्वथैव श्रद्धातव्यं यदा भवेत् ।
श्रद्धा सत्सु विधातव्या यथा श्रेयः समाप्नुयात् ॥ ३३ ॥
असत्सु नो विधातव्या श्रद्धा श्रेयोऽभिवाञ्छिना ।
अन्यथान्तः सुनिशिते कुटिले बडिशे यथा ॥ ३४ ॥
बहिः समे सुपिष्टेन मीनानां नाशमाप्नुयात् ।
तस्मात् सत्स्वेव कर्त्तव्या श्रद्धा नासत्सु कुत्रचित् ॥ ३५ ॥
असत्सु कृत्वा श्रद्धां ये नाशमीयुः परेऽपि च ।
सत्सु श्रेयोयुजः श्रद्धावशतस्ते निदर्शनम् ॥ ३६ ॥

विशेष—एकान्तग्रहण का अर्थ है—व्याप्तिग्रहण अर्थात् किसी एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का पूर्णरूपेण मिला होना। जैसे—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः'। (तर्क०) जो बात एक परिस्थिति में प्रत्यक्ष देखी जाती है, वैसी ही परिस्थिति आने पर वह उसी प्रकार होगी, इसे ही एकान्तग्रहण या व्याप्तिग्रहण कहा जाता है।

इतना तो निश्चित है कि श्रद्धा के बिना साँसें नहीं चल सकतीं। लोगों का जीना दूभर हो जायेगा। इसलिए आइए, अटूट श्रद्धा पाकर हद से ज्यादा सुख पाइये ॥ ३० ॥

यदि आप मानते हों कि नीच या बुरे लोगों में तो श्रद्धा नहीं होनी चाहिए तो ऐसा सोचना भी राजकुमार ! उसी श्रद्धा के आधार पर है। अन्यथा आपको ऐसा विचार ही कैसे हो सकता था। अपनी प्रेयसी की ऐसी बातें सुनकर, उस बोलने में चतुर तरुणी से हेमचूड़ ने फिर पूछा ॥ ३१–३२ ॥

प्रिये ! तुम्हारे कहने के मुताबिक यदि श्रद्धा करना बिलकुल जरूरी हो तो भी भले लोगों में ही श्रद्धा करनी चाहिए। ताकि कुछ बेहतर मिल सके ॥ ३३ ॥

जिसे बेहतर की इच्छा हो, उसे खोटे लोगों में श्रद्धा नहीं रखनी चाहिए। नहीं तो बाहर से बराबर और भीतर से टेढी, तेज, नुकीली मछली फँसानेवाले औजार बंसी के प्रति श्रद्धा रखकर जैसे मछलियाँ फँसकर जान गँवाती हैं, उसी तरह का हाल हो सकता है। अतः भले लोगों पर ही श्रद्धा रखनी चाहिए, बुरों पर नहीं ॥ ३४–३५ ॥

अतः प्रतीत्यैव युक्ता कर्त्तुं श्रद्धा न चान्यथा ।
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यादिति प्रश्नः कथं तव ॥ ३७ ॥
इत्युक्ता हेमलेखा सा पुनराह पतिं प्रियम् ।
शृणु राजकुमारेदं प्रोच्यमानं मया वचः ॥ ३८ ॥
यदात्थ त्वं कथं प्रश्न इति तत्र ब्रवीमि ते ।
अथ सन् वा ह्यसन् वायमिति ते निश्चयः कुतः ॥ ३९ ॥
सत्यस्मिन् निश्चये भूयाच्छुभं सच्छ्रद्धयेह वै ।
सोऽपि लक्षणतः स्याच्चेच्छ्रद्धा लक्षणसङ्गता ॥ ४० ॥
प्रमाणाल्लक्षणज्ञानमिति चेत्तत्र संशृणु ।
अश्रद्धस्य प्रमाणं किं भवेत्तत् सुनिरूप्यताम् ॥ ४१ ॥
अन्यथा हि प्रमाता नोऽविसंवाद्येत कुत्रचित् ।
तस्माच्छ्रद्धां समाश्रित्य लोकः सर्वः प्रवर्त्तते ॥ ४२ ॥
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि शृणु निश्चलचेतसा ।
अनवस्थिततर्को वा ह्यतर्को वापि सर्वथा ॥ ४३ ॥

बुरे लोगों पर श्रद्धा रखकर विनष्ट होनेवाले और भले लोगों पर श्रद्धा रखकर मंगल पानेवाले लोगों के यहाँ अनेक उदाहरण हैं ॥ ३६ ॥

इसलिए भले-बुरे की पहचान के बाद ही किसी के प्रति श्रद्धा करनी चाहिए। वैसे नहीं। ऐसी स्थिति में "श्रद्धा के अभाव में तुम्हारा सांसारिक व्यवहार कैसे होगा" ? फिर इस सवाल का क्या अर्थ है ? ॥ ३७ ॥

अपने प्रिय पति का यह सवाल सुनकर हेमलेखा ने फिर कहा — राजकुमार ! मैं जो बात आपसे कहती हूँ उस पर गौर फरमाइये ॥ ३८ ॥

आपने जो कहा — तुम्हारा यह सवाल कैसे पूछा जा सकता है ? उसमें मेरा इतना ही कहना है कि आप यह निश्चय कैसे करते हैं कि यह आदमी भला है या बुरा ॥ ३९ ॥

यह निश्चय हो जाने पर ही इस बात का निर्णय हो सकेगा कि भले लोगों में श्रद्धा हितकारी होती है। यदि कहें कि इसका निश्चय लक्षणों से होता है तो श्रद्धा लक्षण के अधीन हुई ॥ ४० ॥

किसी पदार्थ की वह विशेषता जिसके द्वारा वह पहचाना जाय उसका बोध प्रमाण से हो सकता है तो सुनिए, जिसे श्रद्धा है ही नहीं, उसके लिए प्रमाण क्या हो सकता है ? ॥ ४१ ॥

तब तो प्रमाता की कोई भी बात अविश्वसनीय प्रतीत नहीं होगी। अतः सभी लोग श्रद्धा का आश्रय लेकर चल रहे हैं ॥ ४२ ॥

आप सावधान होकर सुनें — कल्याण कैसे हो ? इसका विविध प्रकार मैं आपको समझाती हूँ। जो व्यक्ति निरर्थक तर्क करे अथवा बिलकुल तर्क करे ही नहीं — ऐसे

श्रेयो न प्राप्नुयाल्लोक इह वापि परत्र वा ।
तत्रातर्कस्य कालेन भवेच्छ्रेयः कदाचन ॥ ४४ ॥
अनवस्थिततर्कस्य न श्रेयः स्यात् कथञ्चन ।
पुरा सह्यगिरौ गोदावरीतीरे हि कौशिकः ॥ ४५ ॥
न्यवसच्छान्तसुमतिर्ज्ञातलोकः सतत्त्वकः ।
तस्य शिष्यास्तु शतशः स्थिता गुरुसमाश्रयात् ॥ ४६ ॥
त एकदा गुरुमनुगता लोकस्य संस्थितिम् ।
निर्णेतुं बुद्धयनुगुणं तदा प्रोचुः परस्परम् ॥ ४७ ॥
तत्राजगाम शुङ्गाख्यो विप्रः कश्चिन्महाबुधः ।
स सर्वेषां मतं प्रोक्तं दूषयद् बुद्धिकौशलात् ॥ ४८ ॥
अश्रद्धया हतप्रज्ञो विवादनिपुणस्तदा ।
प्रमाणात् प्रमितं सत्यमित्युक्तेषु द्विजेष्वथ ॥ ४९ ॥
अनवस्थिततर्को वै प्राह तर्कैकसश्रयः ।
शुङ्गाख्य आक्षिपन् सर्वान् तत्र वादकथान्तरे ॥ ५० ॥
विप्राः शृणुध्वं मद्वाक्यं सत्यं न क्वापि सिद्धयति ।
प्रमितं यत् प्रमाणेन तत् सत्यमिति हीरितम् ॥ ५१ ॥

लोगों का कल्याण न तो संसार में है और न परलोक में होने की सम्भावना ही बनती है ॥ ४३½ ॥

उनमें भी जो कभी तर्क नहीं करता, उनमें कल्याण की सम्भावना कालान्तर में हो सकती है, पर निरर्थक तर्क करनेवाले का कल्याण तो कभी हो ही नहीं सकता ॥ ४४½ ॥

बम्बई प्रान्त में 'सह्यगिरि' नामक एक विख्यात पहाड़ की तराई की ओर बहने वाली गोदावरी नामक नदी के किनारे कौशिक नाम के एक मुनि रहते थे। वे बड़े ही शान्त, सुबुद्धि और संसार के स्वरूप को पहचानने वाले थे। उनके सहारे उनके साथ सैकड़ों शिष्य भी रहते थे ॥ ४५-४६ ॥

एक दिन गुरुदेव आश्रम में नहीं थे। शिष्यों में बहस छिड़ी थी। बहस का विषय था 'दुनियादारी'। सभी अपनी अक्ल के मुताबिक इसे सुलझाने लगे ॥ ४७ ॥

तभी 'शुङ्ग' नाम का एक ब्राह्मण वहाँ आया। वह बड़ा बुद्धिमान् था। उसने अपनी बुद्धि की चतुराई से उनके निश्चित सिद्धान्त को दोषयुक्त प्रमाणित कर दिया ॥ ४८ ॥

शास्त्रों में उसकी श्रद्धा नहीं थी। विवेक उसका साथ छोड़ चुका था। वह तर्क करने में माहिर था। जब शिष्यों ने कहा—सत्य प्रमाण से सिद्ध होता है। तब शुङ्ग ने निरर्थक तर्क का सहारा लेकर कहा—॥ ४९-५० ॥

तत्र तेन दोषयुजा भवेदप्रमितं ननु ।
निश्चेतव्या ततस्त्वादौ प्रमाणानामदुष्टता ॥ ५२ ॥
सा प्रमाणान्तरकृता तत्राप्येवं विचिन्त्यताम् ।
इत्येवमनवस्थानात् न किञ्चित् प्रमितं भवेत् ॥ ५३ ॥
अतः प्रमाता प्रमितं प्रमाणं वा न सिद्ध्यति ।
तस्माच्छून्याश्रयो ह्येष विकल्पो विविधः स्थितः ॥ ५४ ॥
सोऽपि शून्यात्मतां प्राप्तः प्रमाणाविषयत्वतः ।
तस्माच्छून्यं न किञ्चित् स्यादित्येष प्रविनिर्णयः ॥ ५५ ॥
इति शुङ्गवचः श्रुत्वा तेषु केचिद् द्विजाधमाः ।
तं श्रिता निश्चयाभासं बभूवुः शून्यवादिनः ॥ ५६ ॥
विनाशमीयुस्तन्निष्ठाः शून्यभावं परं गताः ।
ये द्विजाः सारहृदयास्ते शुङ्गस्य प्रभाषितम् ॥ ५७ ॥
निरूप्य कौशिके तेन समाहितहृदोऽभवन् ।
तस्मात् सर्वात्मना त्यक्त्वा तर्कं तमनवस्थितम् ॥ ५८ ॥

मेरी बात सुनो ब्राह्मणो ! सत्य को आपने प्रमाणसिद्ध माना है। इस मान्यता से तो सत्य कभी सिद्ध हो ही नहीं सकता ॥ ५१ ॥

क्योंकि प्रमाण ही यदि दोषयुक्त होगा तो प्रमित का अप्रामाणिक होना निश्चित है। अतः सर्वप्रथम प्रमाणों की निर्दुष्टता का ही निर्णय करना चाहिए ॥ ५२ ॥

और उसमें कोई दोष नहीं है, यह प्रमाणित होगा दूसरे प्रमाणों से। फिर इन्हें निर्दोष साबित करने के लिए ऐसे ही प्रमाणों की आवश्यकता होगी। इस तरह अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होने के कारण कुछ भी सिद्ध करना संभव नहीं हो सकेगा ॥ ५३ ॥

प्रमाता अर्थात् वह व्यक्ति जिसे प्रमा का ज्ञान हो, प्रमाण अर्थात् वह बात कोई दूसरी बात सिद्ध हो। प्रमेय अर्थात् जो प्रमाण का विषय हो सके; अनवस्था की स्थिति में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकते। फिर भी जो ये कई तरह की छाया दिखलाई देती है, उसका सहारा केवल शून्य है ॥ ५४ ॥

और यह शून्य भी प्रमाण का विषय न होने के कारण अभाव मात्र ही है। अतः अन्तिम निर्णय यही है कि शून्य भी कुछ नहीं है ॥ ५५ ॥

शुङ्ग की ये तार्किक बातें सुनकर उन शिष्यों में से कुछ छिछले ब्राह्मण उसके छायावादी निर्णय को मानकर शून्यवादी बन गये। शून्य में निष्ठा होने के कारण वे स्वयं भी शून्य अर्थात् जड़ होकर विनष्ट हो गये ॥ ५६½ ॥

किन्तु उनमें जो शिष्य विवेकी थे उन्होंने शुङ्ग की बातें मुनि कौशिक के सामने निवेदित कर उनका सही समाधान पा लिया ॥ ५७½ ॥

सदा सदागमायत्ततर्कः श्रेयः समाप्नुयात् ।
इति प्रोक्तो हेमचूडः प्रिययात्यन्तधीरया ॥ ५९ ॥
पुनः पप्रच्छ चात्यन्तविस्मितस्तां महाशयाम् ।
अहो प्रिये ते वैदुष्यमीदृशं नाविदं पुरा ॥ ६० ॥
धन्यासि त्वमहञ्चापि धन्यो यस्त्वामुपागतः ।
ब्रवीषि श्रद्धया सर्वं श्रेयःसिद्धिर्हि तत् कथम् ॥ ६१ ॥
कुत्र श्रद्धा विधातव्या कुत्र वा सा न शस्यते ।
आनन्त्यादागमानां वै विरुद्धार्थसमाश्रयात् ॥ ६२ ॥
आचार्यमतभेदाच्च व्याख्यातृमतभेदतः ।
स्वबुद्धेरनवस्थानात् किमादेयं न वापि किम् ॥ ६३ ॥
यद्यस्याभिमतं तत् स वदत्येव सुनिश्चितम् ।
अन्यच्चाप्यव्यवसितं हानिप्रदमपि प्रिये ॥ ६४ ॥
तत्रैवं सति नैवान्तं कश्चिदत्रापि गच्छति ।
यः शून्यमाह तत्त्वं सोऽप्यशून्यं दूषयेत् परम् ॥ ६५ ॥
अश्रद्धेयं कुतो वा तत् सङ्गतं चागमेन हि ।
एतद् ब्रूहि प्रिये सम्यग् न ह्येतत्तेऽस्त्यचिन्तितम् ॥ ६६ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने
श्रद्धाप्रशंसनं नाम षष्ठोऽध्यायः ।

अतः निरर्थक तर्क को छोड़कर जो शास्त्रानुकूल तर्क सदा उपस्थित करता है, उसे ही कल्याण की उपलब्धि मिलती है ॥ ५८½ ॥

प्रखर बुद्धिमती अपनी प्रिय पत्नी की बातें सुनकर हेमचूड़ अत्यन्त विस्मित हुआ और फिर उस उदार हृदय वाली नारी से पूछा ॥ ५९½ ॥

प्रिये ! तुम इतनी बुद्धिमती हो—यह बात पहले मैं नहीं जानता था । तुम धन्य हो और तुम्हें पाकर मैं भी धन्य हुआ । मुझे तुम्हारा सत्संग मिला । 'सम्पूर्ण श्रेय की सिद्धि श्रद्धा से होती है' यह तुम्हारा कहना है । मुझे भी समझा दो ॥ ६०-६१ ॥

कहाँ श्रद्धा करनी चाहिए और कहाँ नहीं ? शास्त्र अनेक हैं और उनके अभिप्रायों में भी विरोध हैं ॥ ६२ ॥

आचार्यों में मतभेद है । शास्त्रीय व्याख्याकारों में मतभिन्नताएँ हैं । अपनी बुद्धि भी मनुष्य की एक जैसी नहीं रहती हैं । अतः किस सिद्धान्त को माना जाय और किसे नहीं ? ॥ ६३ ॥

जिस आचार्य को जो मत मान्य है उसका उल्लेख सर्वदा वह निश्चित रूप से करता है तथा अन्य सिद्धान्तों को वह अनिश्चित एवं हानिप्रद भी बतलाता है ॥ ६४ ॥

इन आगमों के अध्ययन से भी कोई कैसे अन्तिम निर्णय तक पहुँच सकता है। जो शून्य को तत्त्व मानता है, वह भी तो अपने विरोधी अशून्य को दोष युक्त पाता है; उसे वह प्रमाणित करता है ॥ ६५ ॥

उनकी बातें भी शास्त्रसंगत तो है ही, फिर उसे भी असंगत तो नहीं ही कहा सकता है। इस पर तुमने विचार नहीं किया है, यह तो संभव नहीं है। अतः हे प्रिये ! मुझे ये सारी बातें तुम ठीक से समझा दो ॥ ६६ ॥

विशेष—'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा-विश्वासरूपिणौ'।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थमीश्वरम्' ॥ —तुलसी

तुलसीदास ने इन दो पंक्तियों में अध्यात्म जगत् में श्रद्धा और विश्वास की कितनी महत्ता है, यह स्पष्ट कर दिया है। इन्हीं दो शब्दों के सहारे हेममाला ने हेमचूड़ की आँखें खोल दी हैं। श्रद्धा और विश्वास का विवेचन कर उसने अपने पति के बहुत से दीर्घपोषित स्वप्न छीन लिये, उसका छिछला ज्ञान छीन लिया और उसे चिन्तन की प्रौढता प्रदान कर दी है। हेममाला की श्रद्धा और विश्वास जन्य निष्पत्तियों ने उसके पति को उसके परम्परागत और रूढिबद्ध चिन्तनों से मुक्त कर दिया, जो वस्तुतः मनुष्य की यथार्थ जीवन-शैली नहीं, मात्र जीवन-शैली का मिथ्या आभास ही थी।

श्रद्धा और विश्वास को छोड़कर मनुष्य जी नहीं सकता। विश्वास से विवेक में आरोहण आन्तरिक श्रद्धा का आकर्षक रूप होता है। हेममाला की दृष्टि में व्यावहारिक विश्वासवृत्ति मनुष्य को अन्धानुगमन की ओर ले जाती है और यहीं मनुष्य का चित्त पक्षपातों से बँध जाता है तथा जो चित्त पक्षपातों में आबद्ध होता है, वह सत्य को नहीं जान सकता; जीवन के यथार्थ से परिचित नहीं हो सकता। सत्य को जानने के लिए श्रद्धालु होना आवश्यक है—'श्रद्धावान् लभते श्रेयः।'

आप्तजनों की अनुभूतियाँ विश्वास पर ही नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण आत्मप्रयोगों पर ही निर्भर थी। उन्होंने जो जाना था, उन्हें ही माना भी था। मानना प्रथम नहीं अन्तिम था। श्रद्धा उनका आधार नहीं शिखर थी। आधार तो ज्ञान था। जिस सत्य और श्रद्धा की बात हेममाला ने की है, वे मात्र उसकी धारणाएँ नहीं हैं; कल्पित या श्रुत कथाएँ नहीं हैं, वरन् स्वानुभूत प्रत्यक्ष है। उनकी अनुभूतियों में कोई भेद नहीं, उसकी श्रद्धा अचंचल है, उसका विश्वास सिर पर चढकर बोलता है।

शास्त्र में, शास्ता में, शासन में विवेकशून्य श्रद्धा परतंत्रता है। शब्द में, सिद्धान्त में, सम्प्रदाय में अन्धविश्वास पर आधारित श्रद्धा शक्तिहीन है। विवेकजन्य विश्वास पर आधारित स्वश्रद्धा सत्य का द्वार खोलने में सशक्त है। विवेक की पृष्ठभूमि पर पनपा विश्वास, आत्मज्ञान के प्रकाश से आलोड़ित श्रद्धा 'सत्य' के रहस्य को खोलती है।

जीवन को केवल श्रद्धावान् ही उपलब्ध होते हैं, जो स्वयं के और सभी के भीतर विश्वस्त होकर परमात्मा का अनुभव कर लेते हैं। इस श्रद्धा और विश्वास के अभाव

में हम शरीर मात्र हैं और शरीर जड़ है, जीवन नहीं। जो स्वयं को शरीर मात्र ही जानता है, वह जीवित होकर भी जीवन को नहीं जानता। श्रद्धा और विश्वास की पृष्ठभूमि पर आत्मज्ञान हो तभी मनुष्य का हृदय आलोक से भर जाता है और वह न हो तो उसका पथ अन्धकारपूर्ण होगा ही। मनुष्य में यदि श्रद्धा और विश्वास है तो वह दिव्य बन जाता है और वह न हो तो वह पशुओं से भी बदतर पशु है। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक हृदय से परमात्मा को भजता है, उसे ही भगवान् मिलते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक नित्य मुझे भजता है, मैं उसे सर्वोत्तम योगी मानता हूँ—

'पश्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धयापत्योपेतास्ते मे युक्तास्तथा मताः'॥

षष्ठा अध्याय समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

इति पृष्टा हेमलेखा भर्त्रा प्रियतरेण सा।
प्रोवाच विदुषी सम्यग् विज्ञातलोकसंस्थितिः ॥ १ ॥
श्रृणु वक्ष्ये प्रियतम स्थिरशान्त समादरात्।
मनो हि मर्कटप्रायमस्थिरं सर्वदैव तत् ॥ २ ॥
यत एवं महानर्थं प्राप्तवान् प्राकृतो जनः।
चलन्मनः सर्वदुःखनिदानं दृष्टमेव हि ॥ ३ ॥
यतः सुषुप्तौ चलनाभावाद्विन्दति वै सुखम्।
तस्मान्मनः स्थिरीकृत्य श्रृणु यत्ते ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥
अनादरेण श्रुतश्च भवेदश्रुतसम्मितम्।
अफलं स्यात् तदत्यन्तं यथा चित्रतरुश्रयः ॥ ५ ॥
अनवस्थिततर्कत्वमपहाय विनाशनम्।
सत्तर्कमाश्रित्य जनः प्राप्नुयात् सुफलं द्रुतम् ॥ ६ ॥
सत्तर्कसंश्रयेणाशु साधनैकपरो भवेत्।
सत्तर्कजनितां श्रद्धां प्राप्येह फलभाङ्नरः ॥ ७ ॥

(विचार, ईश्वर तथा निष्काम उपासना के स्वरूप का निर्णय)

अपने प्रिय पति के ऐसा पूछने पर जगत् के यथार्थ रूप को ठीक ढंग से पहचानने वाली परम विदुषी हेममाला ने कहना शुरू किया ॥ १ ॥

मेरे मालिक ! मैं जो कुछ कह रही हूँ, उस पर स्वस्थ और दृढ़ मन से गौर फरमाइये। अब मैं आपके सवाल का जवाब देने जा रही हूँ। मनुष्य का मन वानर की तरह बहुत अधिक चंचल होता है ॥ २ ॥

यह देखी हुई बात है कि मनुष्य की सारी मुसीबत की जड़ में उसका शरारती मन ही है। क्योंकि यह ऐसा ही है, इसीलिए साधारण लोगों को बड़ी-से-बड़ी विपत्ति में फँसना पड़ता है ॥ ३ ॥

क्योंकि गहरी नींद में मन की शोखी नहीं रहती, अतः सुख महसूस होता है। अतः जो कुछ मैं आपसे कहती हूँ उसे पक्का इरादा के साथ ही सुनें ॥ ४ ॥

जो बात अनमने ढंग से सुनी जाती है, वह सुनकर भी अनसुनी हो जाती है। तसवीर के पेड़ में जैसे फल नहीं लगते ॥ ५ ॥

आधारहीन बरबाद करनेवाली दलील को छोड़कर जो व्यक्ति शास्त्रानुसारी तर्क का सहारा लेता है, वह तत्काल उसका सुखद फल पा सकता है ॥ ६ ॥

अतः व्यवस्थित तर्क का सहारा लेकर व्यक्ति को शीघ्र साधना में तत्पर हो

अनवस्थिततर्कन्तं विहायालोकय प्रिय।
प्रवृत्तिमेतां जगतः श्रद्धया फलशालिनीम् ॥ ८ ॥
सुतर्कितेन कालेन कर्षकः क्ष्मां विकर्षति।
श्रद्धयैव तथा रूप्यस्वर्णरत्नौषधादिकम् ॥ ९ ॥
व्यवस्यन्ति सुतर्केण त्यक्त्वा तर्कानवस्थितिम्।
तस्मात् सुतर्कश्रद्धाभ्यां व्यवस्य श्रेय आत्मनः ॥ १० ॥
प्रयतेत साधनाय नहि तर्कानवस्थितेः।
विरमेत् पौरुषाद् यत्नाच्छुङ्गानुगनरा इव ॥ ११ ॥
श्रद्धया पौरुषपरो न विहन्यते सर्वथा।
दृढं पौरुषमाश्रित्य न प्राप्येत कथं फलम् ॥ १२ ॥
पौरुषात् कर्षका धान्यं वणिजो धनमेव च।
राज्यलक्ष्मीं नृपा विप्रा विद्यां सर्वसुखाश्रयाम् ॥ १३ ॥
शूद्रा भृतिं सुधां देवास्तापसा लोकमुत्तमम्।
प्रापुरन्येऽप्यभिमतं पौरुषेणैव कर्मणा ॥ १४ ॥
अनवस्थिततर्केणाश्रद्धेन पुरुषेण किम्।
कदा किञ्चित् कथं प्राप्तं फलं वद विमृश्य तत् ॥ १५ ॥

जाना चाहिए। अच्छे तर्क से उत्पन्न श्रद्धा पाकर व्यक्ति इसी संसार में निहाल हो सकता है ॥ ७ ॥

प्रिय ! आप बेबुनियाद दलील पेश करना छोड़कर देखिए, सारी दुनिया का व्यवहार श्रद्धा होने पर ही फलदायक होता है ॥ ८ ॥

किसान काफी सोच-विचार के बाद निश्चित समय पर ही खेत जोतता है। बे-मतलब दलील छोड़कर लोग श्रद्धापूर्वक सोना, चाँदी, रत्न एवं औषधियों का निश्चय करते हैं ॥ ९ ॥

अतः व्यवस्थित तर्क और श्रद्धा के सहारे अपना परम हित सोचकर साधना के लिए प्रयास करना चाहिए। तर्क की कोई सीमा नहीं है। अतः शुंग का अनुसरण करनेवाले लोगों की तरह अपना पुरुषार्थ नहीं खोना चाहिए ॥ १०–११ ॥

जो श्रद्धापूर्वक प्रयास में लगा रहता है, वह कभी असफल नहीं हो सकता है। पक्का पुरुषार्थ का सहारा लेने पर फिर फल कैसे नहीं मिल सकता है ? ॥ १२ ॥

अपने अन्तर्बल के सहारे ही किसान अनाज, व्यापारी धन-दौलत, राजे-महाराजे राजकीय शोभा और वैभव, ब्राह्मण समस्त सुख की आधार विद्या, शूद्र आजीविका, देवता अमृत और तापस उत्तम लोक पाते हैं। संसार में सबको अपने पुरुषार्थ से सम्पादित कर्म के अनुसार ही मनचाही वस्तु मिलती है ॥ १३–१४ ॥

आप ही खुद सोचकर बतलाइये कि निराधार तर्क से आज तक संसार में श्रद्धाहीन व्यक्ति को कभी कुछ मिला है ॥ १५ ॥

क्वचित् फलविसंवादात् सर्वत्राश्वासवर्जने ।
विजानीयाद्दैवहतं तं स्वात्मरिपुरूपिणम् ।। १६ ।।
अतः पौरुषमाश्रित्य श्रद्धासत्तर्कपोषितम् ।
श्रेयसां यन्मुख्यतमं साधन तत् समाश्रयेत् ।। १७ ।।
तत्र दृष्टसाधनानां वैचित्र्यश्च पृथग्विधम् ।
तेषु यत् सर्वथा साध्यं साधयेत् तद्धि मुख्यकम् ।। १८ ।।
तत् सुतर्कानुभूतिभ्यां व्यवस्याशु समारभेत् ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि सावधानः शृणुष्व तत् ।। १९ ।।
श्रेयस्तद्धि विजानीयाद् यस्माद् भूयो न शोचति ।
शोकः सर्वत एव स्याद् दृश्यते सूक्ष्मया दृशा ।। २० ।।
यच्छोकैरनुसम्भिन्नं न तच्छ्रेयो हि सर्वथा ।
धनं पुत्रास्तथा दारा राज्यं कोशो बलं यशः ।। २१ ।।
विद्या बुद्धिर्दर्शनश्च देहः सौन्दर्यसम्पदः ।
सर्वमेतदस्थिरत्वात् कालसर्पमुखस्थितम् ।। २२ ।।
शोकाङ्कुरमहाशक्तिबीजात्मकतया स्थितम् ।
कुत आत्यन्तिकश्रेयःसाधनत्वं समर्हति ।। २३ ।।

किसी भागमारे को कभी फल न मिलने पर यदि उसका विश्वास हर जगह उठ जाय तो उस अभागे को अपना दुश्मन अपने आपको समझना चाहिए ।। १६ ।।

इसलिए आदमी को अपने पुरुषार्थ का सहारा लेकर श्रद्धा और सही तर्क से संवर्द्धित कल्याण पाने का जो प्रमुख साधन हो उसी का सहारा लेना चाहिए ।। १७ ।।

जो साधन हमारी आँखों के सामने हैं, उनमें कई तरह की विचित्रताएँ हैं । उनमें से जिसके द्वारा हमारे लक्ष्य की प्राप्ति सुलभ हो उसे ही अपना प्रमुख साधन मानना चाहिए ।। १८ ।।

शास्त्रसम्मत तर्क और व्यक्तिगत अनुभव से इसका निर्णय कर उसे शीघ्र कार्यरूप में परिणत कर दें । कृपया आप सावधान होकर सुनें; मैं इसका रहस्य बतलाती हूँ ।। १९ ।।

श्रेय अर्थात् शुभद उसे ही समझना चाहिए जिसे पा लेने के बाद फिर किसी तरह का गम न रह जाय । यदि गहरी निगाह से देखें तो हर ओर गम-ही-गम नजर आयेगा और जहाँ गम है वहाँ बेहतरी की उम्मीद नहीं की जा सकती ।। २०३ ।।

दौलत, बेटे, औरत, राज, खजाना, ताकत, नेकनामी, इल्म, समझदारी, शकल-सूरत, सेहत और खूबसूरती — ये सभी डावाँडोल हैं, इसीलिए कालरूपी साँप का कलेवा बना है । गम के अँखुए में ताकतवर बीज की तरह मौजूद है । इनमें बहुत अधिक श्रेय की साधनता कैसे मानी जा सकती है ? ।। २१–२३ ।।

अतः परमकं श्रेय एतद्धै मुख्यतो भवेत् ।
एवं धनादिविषये यदादेयत्वविभ्रमः ।। २४ ।।
मोहादेव समुद्भूतो मोहको हि महेश्वरः ।
यो हि सर्वजगत्कर्त्ता तस्मात् सर्वे हि मोहिताः ।। २५ ।।
मोहयत्यल्पकोऽपीह विद्याभागसमाश्रयात् ।
कांश्चिदेव न सर्वान् स यस्माद्विद्या हि सा मिता ।। २६ ।।
अल्पविद्यं मायिनश्चाप्यनुत्क्रान्ता जना यतः ।
महादेवं महामायं कः समुत्क्रान्तुमर्हति ।। २७ ।।
यो हि लोकेऽल्पमायाश्च जानाति प्रतिविद्यया ।
स मोहान्निर्गतः स्वस्थ सुखमाप्नोत्यनश्वरम् ।। २८ ।।
एवंविधापि विद्या तमनाश्रित्य तु मायिनम् ।
न लभ्या सर्वथा यावदप्रसाद्य तु सर्वथा ।। २९ ।।
तस्मान्महामायिनं तमप्रसाद्य कथं भवेत् ।
महामोहस्य तरणं तस्मात्तं सर्वथाश्रयेत् ।। ३० ।।
यस्तं प्रसादयेत् सम्यक् प्राप्य तस्य प्रसादतः ।
महाविद्यां स तन्मोहाद् ध्रुवमुत्क्रान्तिमेष्यति ।। ३१ ।।

इसलिए बेहतर कल्याण का सबसे बड़ा साधन तो यही है। दुनिया में जहाँ तक धन-दौलत को फायदेमन्द समझने का धोखा है, वह तो मोह के कारण ही है और मोह तो महेश्वर की देन है, क्योंकि सारी दुनिया को बनाने वाले वही है। इसी से सबके सब मोह में डूबे हैं ।। २४–२५ ।।

एक अदना बाजीगर अपने जादू के बल से कुछ लोगों को मोह में डाल देता है, पर सबको नहीं, क्योंकि उस बाजीगरी की भी एक हद होती है ।। २६ ।।

फिर जब एक अदना जादूगर की जादूगरी का लोग पार नहीं पा सकते तो उस महामायावी महेश्वर की माया का पार कौन पा सकता है ? ।। २७ ।।

इस दुनिया में इस बाजीगर के अदना जादू का काट जान लेता है, वह इसकी माया के प्रभाव से बच सकता है और उसे ही कभी खत्म न होने वाला सुख मिल सकता है ।। २८ ।।

किन्तु यह हुनर भी तो बिना उस जादूगर का सहारा लिये या उसे बिना खुश किये नहीं पाया जा सकता ।। २९ ।।

अतः उस महामायी महादेव को बिना खुश किये कोई इस महामोह से कैसे उबर सकता है। अतः हर तरह से पहले उन्हीं का सहारा लेना चाहिए ।। ३० ।।

जो उन्हें अच्छी तरह खुश कर लेता है, उनके अनुग्रह से उसे सहज ही महाविद्या मिल जाती है और महाविद्या की कृपा से निश्चय ही वह मोहसागर को पार कर जाता है ।। ३१ ।।

अन्येऽपि योगाः कथिताः श्रेयःसाधनकर्मणि ।
महेश्वरप्रसादात्ते विना न स्युः फलाप्तये ॥ ३२ ॥
तस्मादाराधयेदादौ महेशं विश्वकारणम् ।
भक्त्या स साधयेदाशु योगान्मोहविनाशनान् ॥ ३३ ॥
एतज्जगत् कार्यभूतं प्रत्यक्षं परिदृश्यते ।
सांशमेवं पृथिव्याद्यमदृष्टारम्भमप्यलम् ॥ ३४ ॥
कार्यं स्यादिति तर्केण बह्वागमदृढेन तु ।
व्यवस्येत्तत्र कर्त्तारं सर्वकर्त्तृविलक्षणम् ॥ ३५ ॥
यद्यप्यकर्त्तृकं लोकमाह कश्चिदिहागमः ।
तदनेकैरागमैस्तु तर्करूढैः सुबाधितम् ॥ ३६ ॥
यत्रात्मनाश एवार्थः प्रत्यक्षैकसमाश्रयात् ।
तदागमाभासमेव न तद्धि महदाश्रयम् ॥ ३७ ॥
शुष्कतर्कैकसङ्क्लृप्तं शास्त्रं तत्त्याज्यमेव हि ।
अन्यैरप्युच्यते कैश्चिज्जगदेतत् सनातनम् ॥ ३८ ॥

विशेष—तन्त्रशास्त्र में महाविद्या के नाम से ये दस देवियाँ प्रसिद्ध हैं—काली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमलात्मिका ।

श्रेय अर्थात् बेहतर कल्याण पाने के लिए योगशास्त्र में अनेक उपाय बतलाये गये हैं, किन्तु महेश्वर के अनुग्रह के बिना ये उपाय भी फलदायक नहीं हो सकते हैं ।।३२।।

इसके लिए सबसे पहले संसार के मूल कारण रूप महादेव की आराधना भक्तिपूर्वक करनी चाहिए । वे अतिशीघ्र मोहविनाशक योग को सफल बना देते हैं ।। ३३ ।।

यह सारी दुनिया किसी की रचना है, यह तो साफ दिखलाई देता है । पर किसी ने इसकी उत्पत्ति देखी नहीं, फिर भी सावयव होने के कारण इसके अस्तित्व का बोध तो होता ही है ।। ३४ ।।

इस तरह अनेक तर्कों एवं शास्त्रवचनों से निश्चय करना चाहिए कि यह संसार किसी की रचना है और यह निर्माता अन्य कर्त्ताओं से कुछ विलक्षण अवश्य है ।।३५।।

यद्यपि कई शास्त्र (चार्वाक प्रभृति के नास्तिक दर्शन) इस संसार को स्वयं सम्भूत, न कि किसी के द्वारा निर्मित मानते हैं । फिर भी युक्तिप्रधान अनेक शास्त्रवाक्यों से नास्तिष्क दर्शन का कथन असंगत प्रतीत होता है ।। ३६ ।।

नास्तिक दर्शन केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर ही मौत को ही मुक्ति मानते हैं, अतः ये दर्शन नहीं, दर्शन की छायामात्र हैं । श्रेष्ठजन इसे कभी पनाह नहीं देते । निराधार तर्क द्वारा ऐसा कल्पित शास्त्र सर्वथा त्याज्य है ।। ३७½ ।।

कुछ दार्शनिकों की मान्यता है कि यह संसार सदा से ऐसा ही है । यह ईश्वर जैसे किसी चैतन्य की रचना नहीं है । यह बात भी ठीक नहीं है, क्योंकि किसी भी

अबुद्धिमत्कर्त्तृकं चेत्येतच्चाप्यसमञ्जसम् ।
क्रियाया बुद्धिपूर्वत्वादबुद्धौ तददर्शनात् ॥ ३९ ॥
बह्वागमोपष्टम्भाच्च कर्तात्र स्याद्धि बुद्धिमान् ।
बुद्धिमत्कर्त्तृकं कार्यं सर्वत्रैव हि दर्शनात् ॥ ४० ॥
एवं सत्तर्कागमाभ्यां जगदेतत् सकर्त्तृकम् ।
स कर्त्ता लौकिकेभ्यस्तु कर्त्तृभ्यः स्याद्विलक्षणः ॥ ४१ ॥
कार्यस्याचिन्त्यरूपत्वादचिन्त्यानन्तशक्तिकः ।
अपरिच्छिन्नसामर्थ्यः कार्यस्यानुगुणत्वतः ॥ ४२ ॥
स प्रपन्नान् समुद्धर्तुं प्रभवत्येव सर्वथा ।
अतस्तं सर्वभावेन शरणीकुरु सर्वदा ॥ ४३ ॥
निदर्शनं तेऽभिधास्ये शृणु प्रत्ययकारणम् ।
मितेश्वरोऽप्यत्र लोके चाकापटचात् प्रसादितः ॥ ४४ ॥
सर्वात्मना योजयति स्वेष्टार्थैः श्रेयसे नरम् ।
एष लोकेश्वरो देवः सम्यग् येन प्रसादितः ॥ ४५ ॥
तस्मै किं न दिशेद् ब्रूहि भक्तलोकैकवत्सलः ।
पुरुषा हीश्वरा लोके चानवस्था अवत्सलाः ॥ ४६ ॥

काम को बुद्धि से ही किया जा सकता है। बुद्धि के बिना तो कोई क्रिया नहीं हो सकती ॥ ३८–३९ ॥

अनेक शास्त्रों के विचार से तथा लोगों के आचार से भी प्रमाणित होता है कि किसी काम का सम्पादन कोई बुद्धिमान् ही करता है। बुद्धि के बिना किसी भी क्रिया का सम्पादन नहीं हो पाता ॥ ४० ॥

इस तरह युक्तिपूर्ण तर्कों से, अनेक शास्त्रों से यह सिद्ध होता है कि यह सृष्टि निश्चय ही किसी स्रष्टा की रचना है, जो समस्त लौकिक कर्त्ताओं से विलक्षण है ॥ ४१ ॥

अखिल ब्रह्माण्ड की बनावट बेअन्दाज है। इसका बनानेवाला बेमिसाल है, वह बेहद ताकतवर है। इसकी बेहिसाब ताकत का कोई ओर-छोर नहीं है ॥ ४२ ॥

जो उन पर भरोसा रखता है, उसे पनाह देने में वे बिलकुल समर्थ हैं। अतः आप हमेशा पूरे मन से उनसे पनाह माँगें ॥ ४३ ॥

आपको विश्वास दिलाने के लिए मैं एक उदाहरण देती हूँ। किसी हद तक एक छोटा-मोटा जागीरदार भी जब अपने नौकर की सच्ची खिदमत से खुश होता है तो उसकी हर ख्वाहिश पूरी करने की कोशिश करता है ॥ ४४½ ॥

परमात्मा तो समस्त भुवनों के स्वामी हैं। वे भक्तवत्सल हैं। फिर अपनी वफादारी से जो इन्हें खुश कर ले, उसे ये क्या नहीं दे सकते? आप ही बतलायें ॥ ४५½ ॥

निर्दयाश्च कृतघ्नाश्च तस्मात् तत् फलमस्थिरम् ।
परमेशो दयासिन्धुः कृतिज्ञः सुव्यवस्थितः ॥ ४७ ॥
अन्यथानादिसंसारे कुतोऽनिन्द्यत्वमाप्नुयात् ।
व्यवस्थिता जगद्धात्रा चापि वा स्यात् कथं वद ॥ ४८ ॥
अनवस्थस्य राज्यन्तु नष्टमालोक्यते यतः ।
तस्मादेव दयासिन्धुः सुव्यवस्थश्च कीर्त्तितः ॥ ४९ ॥
तमेव सर्वभावेन भक्त्याशु शरणीकुरु ।
श्रेयसि त्वां योजयेत् स त्वं न तत्परतां व्रज ॥ ५० ॥
उपासने बहुविधमार्त्त्यार्थार्थित्वतोऽपि च ।
निर्हेतुकन्तु क्वाचित्कं तत् सत्योपासनं भवेत् ॥ ५१ ॥
दृष्टमेतत् सर्वतो वै चार्त्तेनोपासितः प्रभुः ।
कदाचिद् दययाविष्ट आर्त्ति तस्यं विमोचयेत् ॥ ५२ ॥
उपेक्षेत कदाचिद्वोपास्तेर्वै तारतम्यतः ।
एवमेवार्थार्थिनोऽपि मितश्चानियतं फलम् ॥ ५३ ॥

दुनिया के धनीमानी लोग तो बेभरोसेमन्द, बेमुरौवत, पत्थरदिल और बे-एहसानमन्द होते हैं। अतः उनकी खुशी का फल टिकाऊ नहीं होता, किन्तु भगवान् तो दया के सागर हैं, नेकी को माननेवाले हैं। सब कुछ ठीक ढंग से निभानेवाले हैं ॥ ४६–४७ ॥

आप ही बतलाइए, यदि ऐसा न होता तो सब दिन से रहनेवाली इस दुनिया में लोग उसकी शिकायत क्यों नहीं करते ? उस स्रष्टा का सृष्टिविधान नियमित कैसे रहता ? ॥ ४८ ॥

क्योंकि यह देखा जाता है कि जिसका इन्तजाम ठीक नहीं रहता, उसका राज चौपट हो जाता है। अतः परमात्मा रहमदिल हैं और कायदे से काम करनेवाले हैं ॥ ४९ ॥

अतः सच्चे दिल से उनसे पनाह माँगिए। वे निश्चय ही आपको श्रेय पाने की राह दिखा देंगे। आपको इसके लिए साधन ढूंढने के पचड़े में पड़ने की जरूरत नहीं है ॥ ५० ॥

आराधना में कातरता या कष्ट और किसी खाश मतलब से सम्बन्ध रखनेवाले तथ्य के उद्देश्य से भी अनेक भेद हैं। प्रयत्नों के फल का मोह छोड़कर की गई आराधना तो विरलों की होती है, फिर भी यदि उपासना सच्ची आराधना है ॥ ५१ ॥

हर जगह प्रायः ऐसा ही देखा जाता है कि लोग विपद्ग्रस्त होकर ही भगवद्भजन करते हैं। कभी-न-कभी दयालु परमात्मा दयावश उसकी पीड़ा हर लेते हैं ॥ ५२ ॥

और आराधना में कमी रहने पर कभी उपेक्षा भी कर देते हैं। इसी प्रकार

निर्हेतुकोपासनस्य ज्ञात्वा निर्हेतुतां चिरात् ।
मितेश्वरोऽप्यव्यवस्थस्तदधीनो भवत्यलम् ॥ ५४ ॥
निर्हेतुकत्वज्ञानाय चिरं स्यादज्ञभावतः ।
एष सर्वेश्वरो देवो हृदयेशोऽखिलस्य तु ॥ ५५ ॥
सर्वं जानाति तत्काले फलं दद्याच्च सत्वरम् ।
आर्त्तमर्थार्थिनं देवस्तदर्थेनाभियोजितुम् ॥ ५६ ॥
स्वनियत्या कर्मपाकं प्रतीक्ष्य फलमादिशेत् ।
निर्हेतुकोपासकं स्वमनन्यशरणं विभुः ॥ ५७ ॥
ज्ञात्वा सर्वात्मना तस्य योगक्षेमवहो भवेत् ।
अप्रतीक्ष्यं कर्मपाकं नियतिं स्वां विधूय च ॥ ५८ ॥
तत्साधनं सम्प्रसाध्य द्रुतं संयोजयेत् फले ।
एतदेव महेशत्वं स्वातन्त्र्यमहतन्तु यत् ॥ ५९ ॥

सप्रयोजन आराधकों को मिलनेवाला फल भी सीमित और अनिश्चित ही होता है ॥ ५३ ॥

किन्तु कामनारहित जिसकी आराधना होती है, कालान्तर में जब उसकी इस निष्काम आराधना का पता चलता है तो संसार की सीमित सम्पत्ति के अनवस्थित स्वामी स्वतः इनकी अधीनता कबूल कर लेते हैं ॥ ५४ ॥

यद्यपि भगवान् सबके मालिक हैं, सबके दिल में समान रूप में मौजूद हैं; फिर भी अपनी अज्ञानता के कारण कामनारहित आराधक को पहचानने में उसे देर लगती है ॥ ५५ ॥

उसी समय भगवान् सब कुछ जान लेते हैं और निष्काम आराधक को उसका फल भी उसी पल दे डालते हैं । किन्तु कातर और याचक को अपने अदृष्ट के अनुसार कर्म की पूर्णता के पश्चात् ही फल देते हैं ॥ ५६–५७½ ॥

जिसे एकमात्र अपना शरणागत तथा कामनारहित अपना आराधक भगवान् मानते हैं, उसके जीवन के सम्पूर्ण दायित्व का निर्वाह स्वयं करते हैं ॥ ५७–५८½ ॥

विशेष—'योगक्षेम' का सामान्यतः कोषगत अर्थ होता है – १. नया पदार्थ प्राप्त करना और मिले हुए पदार्थ की रक्षा करना । २. जीवन-निर्वाह, कुशल-मंगल, राष्ट्र की सुरक्षा प्रभृति; किन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट अर्थ-सापेक्ष्य है । यहाँ योग का अर्थ है – साधन के अनुकूल परिस्थिति की प्राप्ति और क्षेम का अर्थ है – साधक के साधन में समागत विघ्नों से उसका बचाव ।

परमात्मा ऐसे साधक की आराधना की परिपक्वता या जन्मार्जित कर्मफल की प्रतीक्षा किये बिना, अदृष्ट की उपेक्षा कर उसके साधनों को जुटाकर शीघ्र ही उसे साधना का फल दे देते हैं । यही उनकी प्रभुता एवं आजादी है ॥ ५८–५९ ॥

प्रारब्धं नियतिर्वापि महेशविमुखं भवेत् ।
एतन्मृकण्डुतनयेऽत्यन्तमीश्वरतत्परे ॥ ६० ॥
सर्वैर्ज्ञातं महेशस्य नियत्यारब्धलङ्घनम् ।
अत्रोपपत्तिस्ते वक्ष्ये श्रृणु प्राणप्रियेरितम् ॥ ६१ ॥
यद्यप्यनुल्लङ्घनीये प्रारब्धनियती खलु ।
तथाप्यपौरुषाणां तत् प्रारब्धमनपोहनम् ॥ ६२ ॥
अत एव प्राणायामैः प्रारब्धं परिजीयते ।
न तान् दृष्टेषु दुःखेषु प्रारब्धं योजयत्यलम् ॥ ६३ ॥
प्रारब्धाहिनिगीर्णास्ते ये पौरुषपराङ्मुखः ।
एतन्नियति-सङ्क्लृप्तं तथैवानुभवान्ननु ॥ ६४ ॥
नियतिः स्यादीशशक्तिः सङ्कल्पैकस्वरूपिणी ।
सत्यसङ्कल्प एवेशोऽनुल्लङ्घ्या ह्यत एव सा ॥ ६५ ॥
कुण्ठिता सापि भवति परमेशपरायणे ।
अकुण्ठितापि भवति यतः सा तादृशी भवेत् ॥ ६६ ॥
तस्मात् कुतर्कं सन्त्यज्य महेशं शरणीकुरु ।
अहेतुकतया स त्वां नियोजयति श्रेयसि ॥ ६७ ॥

किस्मत और बंधेज अर्थात् पूर्वकृत कर्म का निश्चित परिणाम तो परमात्मा से मुँह फेरनेवालों के लिए ही है । भगवान् में बिलकुल तल्लीन रहनेवाले मुनि मार्कण्डेय के लिए महेश्वर ने भाग्य और कृतकर्म के फल को काट डाला है—इसे कौन नहीं जानता ? प्रियतम ! सुनिए मैं इसकी युक्ति भी बतलाती हूँ ॥ ६०–६१ ॥

यद्यपि किस्मत और तकदीर की काट निश्चय ही सम्भव नहीं है; फिर भी यह किस्मत का अतिक्रमण पुरुषार्थहीन लोगों के लिए ही है ॥ ६२ ॥

इसी से प्राणायाम अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति पर नियंत्रण रखकर किस्मत पर भी फतह पायी जा सकती है । ऐसे योगियों को तकदीर सांसारिक दुःख में नहीं फँसा सकता है ॥ ६३ ॥

पौरुषविहीन लोगों को ही भाग्यरूपी नाग डँसता है । यही नियति का निश्चय है और अनुभव से भी यही सिद्ध होता है ॥ ६४ ॥

नियति अर्थात् तकदीर उस परमात्मा की ताकत है जिसका स्वरूप केवल संकल्प है । परमात्मा सत्यसंकल्प हैं, अतः नियति की काट नहीं हो सकती है ॥ ६५ ॥

प्रभुपरायण पुरुषों के लिए वह मंद हो जाती है । किन्तु इससे भिन्न लोगों के लिए अकुण्ठित और कुण्ठित का भेद नहीं रह जाता है ॥ ६६ ॥

इसलिए बुरा तर्क छोड़कर परमात्मा की शरण में जाइए । निष्काम भाव से पनाह माँगिए । वे आपको परम कल्याण प्राप्त करा देंगे ॥ ६७ ॥

एतावदेव सोपानं प्रथमं क्षेमसौधकम् ।
एतद्विहाय चान्यत्र नास्तीषत्फलसम्भवः ॥ ६८ ॥
श्रुत्वेत्थं वचनं राम हेमचूडः प्रियोदितम् ।
पप्रच्छ भूयस्तां कान्तामतिहृष्टमनास्तदा ॥ ६९ ॥
प्रिये महेश्वरं ब्रूहि यः शरण्यो भवेन्मम ।
सर्वकर्त्ता स्वतन्त्रात्मा यच्छक्त्या नियतं जगत् ॥ ७० ॥
तं विष्णुमाहुः केचिद्वै केचिच्छिवगणेश्वरम् ।
तथा सूर्यं नृसिंहादीन् बुद्धं सुगतमेव च ॥ ७१ ॥
अर्हन्तं वासुदेवञ्च प्राणं सोमञ्च पावकम् ।
कर्म प्रधानमणव इत्यादि बहुधा जगुः ॥ ७२ ॥
जगत्कारणरूपं वै विचित्रमतभेदितम् ।
तत्र क्वेश्वरबुद्धिस्तु कर्त्तव्या तत् समीरय ॥ ७३ ॥
न ते ह्यविदितं किञ्चिद् भवेदिति हि निश्चयः ।
यतः स भगवान् व्याघ्रपादो दृष्टपरावरः ॥ ७४ ॥
अतस्ते योषितोऽप्येवं ज्ञानमेतद्विराजते ।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय प्रियामृतप्रभाषिणी ॥ ७५ ॥

परम कल्याण के प्रासाद पर चढने के लिए यही पहली सीढ़ी है । इसे छोड़कर किसी दूसरे साधन से थोड़ा भी फल प्राप्त नहीं हो सकता है ॥ ६८ ॥

हे परशुराम ! अपनी पत्नी की बात सुनकर हेमचूड़ ने. काफी सन्तुष्ट होकर उससे फिर पूछा ॥ ६९ ॥

प्रिये ! सबसे पहले मुझे उस महेश्वर का स्वरूप बतलाओ, जिनकी शरण में मैं हूँ । वे सब कुछ करनेवाले हैं, परम स्वतन्त्र हैं । उनकी शक्ति से ही यह संसार संचालित है ॥ ७० ॥

उन्हें कोई विष्णु, कोई शिव या गणपति कहते हैं तथा कोई सूर्य, नरसिंह, बुद्ध, सुगत, अर्हत्, वासुदेव, प्राण, सोम, अग्नि, कर्म, प्रधान या अणु प्रभृति कहते हैं ॥ ७१–७२ ॥

इस तरह विराट् विश्व के हेतुभूत परमात्मा के स्वरूप तरह-तरह के सम्प्रदाय की भिन्नता के कारण अनेक तरह के हो गये हैं । ऐसी स्थिति में किसे परमात्मा समझा जाय, यह मुझे समझा दो ॥ ७३ ॥

भगवान् व्याघ्रपाद लोक-परलोक और परमात्मा सबके बारे में सब कुछ जानते थे । उनकी पालित पुत्री होने के नाते तुम्हें भी इस सन्दर्भ में सब कुछ मालूम है— यह मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ ॥ ७४ ॥

यही कारण है कि नारी होने के बावजूद इस सम्बन्ध में तुम्हारी आँखें इतनी

पृष्टैवं सा हेमलेखा प्रियेण प्राह हर्षिता ।
नाथ ते सम्प्रवक्ष्यामि श्रृण्वीश्वरविनिर्णयम् ॥ ७६ ॥
ईश्वरो हि जगज्जालप्रलयोत्पादकृद् भवेत् ।
स विष्णुः स शिवो धाता स सूर्यः सोम एव च ॥ ७७ ॥
स एव सर्वथा सर्वः सर्वैरपि निरूपितः ।
न शिवो नापि विष्णुर्वा न धाता नान्य एव च ॥ ७८ ॥
एतत्ते सम्प्रवक्ष्यामि श्रृण्वत्यन्तसमाहितः ।
कर्त्तारं शिवमाहुस्ते पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ॥ ७९ ॥
स कर्त्ता घटकर्त्तेव चेतनः सशरीरकः ।
लोकेऽपि चेतनः कर्त्ता सशरीरो हि दृश्यते ॥ ८० ॥
अशरीरोऽचेतनो वा न कर्त्ता क्वचिदीक्षितः ।
तत्र मुख्यं हि कर्त्तृत्वं चेतनस्यैव सम्भवेत् ॥ ८१ ॥
यतः स्वप्नेष्वयं जीवो हित्वा स्थूलं शरीरकम् ।
चैतन्यमयदेहेन सर्वानभिमतान् सृजेत् ॥ ८२ ॥

साफ हैं। तुम अमृत की तरह मीठी, मनोहर और हितकर बातें करती हो। मैं तुम्हारे प्रति श्रद्धावनत हूँ। मुझे सारा रहस्य समझा दो ॥ ७५ ॥

प्रिय पति के इस तरह पूछने पर खुश होकर हेमलेखा ने कहा – स्वामी ! सुनिए, ईश्वर के सम्बन्ध में मैं अपना विचार सुनाती हूँ ॥ ७६ ॥

इस फरेबी दुनिया के हर रूप को मूल प्रकृति में लीन कर जो मिटाता और बनाता है, वह ईश्वर है। वही शिव, वही ब्रह्मा, वही सूर्य और चन्द्रमा भी है ॥७७॥

सब तरह से वही सब कुछ है। सब रूपों में उसी का विवेचन किया गया है। किन्तु वास्तव में वह न तो शिव है, न विष्णु ही, न ब्रह्मा है और न कुछ अन्य ॥७८॥

इस मर्म को मैं साफ-साफ समझाती हूँ, आप बिलकुल सावधान होकर सुनिए। शैव लोग पाँच मुँह तथा तीन आँख वाले शिव को ही संसार की रचना करने वाले मानते हैं ॥ ७९ ॥

घड़े बनाने वाले कुम्हार की तरह दुनिया बनाने वाला भी जीवधारी और देह-धारी है। क्योंकि इस दुनिया में भी हम देखते हैं कि जिन्दा देहधारी ही कुछ काम करता है ॥ ८० ॥

कहीं भी किसी को बिना देह और बिना जीवन के कुछ करते नहीं देखा गया है। खाशकर इनमें भी काम करने की सामर्थ्य मुख्यतः जीवधारी में ही रहना अधिक संभव है ॥ ८१ ॥

क्योंकि सपने में यह प्राणी स्थूल देह छोड़कर अपनी चिन्मय आत्मा से ही समस्त मनचाही बातों को पा लेता है ॥ ८२ ॥

अतः शरीरं करणं कार्ये कर्त्तुश्चिदात्मनः ।
जीवानां करणापेक्षा यतोऽपूर्णा स्वतन्त्रता ।। ८३ ।।
भगवांस्तु जगत्कर्त्ता पूर्णस्वातन्त्र्ययोगतः ।
अनपेक्ष्यैव यत्किञ्चित् सृजत्यविकलं जगत् ।। ८४ ।।
अतः शरीरं नास्त्येव ह्येष मुख्यविनिश्चयः ।
अन्यथा लोकवत्कर्त्तुरुपादानाश्रयो भवेत् ।। ८५ ।।
तथा च देशकालादिकारणप्रचयैर्युतः ।
जगत् सृजन्महेशानो जीव एव भवेत्तथा ।। ८६ ।।
पूर्णैश्वर्यं विहन्येत जगत्सृष्टेः पुरापि च ।
सिद्धचेत् तत्सर्वकर्तृत्वं विहतं स्यान्न संशयः ।। ८७ ।।

अतः किसी काम को करने में यह देह चिन्मय आत्मा का हथियार है, किन्तु किसी औजार की जरूरत तो प्राणी को ही होती है, क्योंकि उसे कुछ करने की पूरी आजादी नहीं होती है ।। ८३ ।।

भगवान् तो अपनी पूरी आजादी की वजह से कारण-जगत् के कर्त्ता हैं । वे किसी दूसरे की अपेक्षा किये बिना जैसा चाहते हैं वैसी रचना कर डालते हैं ।। ८४ ।।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमात्मा देह नहीं है । अतः सांसारिक जीवों की तरह उसे भी लोकरचना के लिए किसी-न-किसी औजार का सहारा लेना पड़ता है ।। ८५ ।।

और इस तरह देश-कालादि करण-समूह मिलकर संसार की रचना करने पर तो यह महेश्वर भी एक जीव ही हो जाता ।। ८६ ।।

यदि सृष्टि से पूर्व किसी अन्य वस्तु की सत्ता स्वीकार की जाय तो ईश्वर की पूरी ईश्वरता समाप्त हो जायेगी और असंदिग्ध रूप से उनका सर्वकर्त्तृत्व समाप्त हो जायेगा ।। ८७ ।।

विशेष—ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं । उनका सृष्टिकर्त्तृत्व अबाध है । उनसे पूर्व किसी पदार्थ अणु की सत्ता स्वीकार्य नहीं है । सृष्टि से पूर्व परमाणु या प्रकृति का अस्तित्व स्वीकार कर ईश्वर की अद्वितीयता, विभुता और सर्वशक्तिमत्ता को ठुकराना है । उनका जगत्कर्तृत्व पूर्ण प्रभुसत्ता युक्त है । उनसे पूर्व किसी वस्तु की सत्ता किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं है ।

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' । (पात० यो० २४ पृ० ६८) क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट पुरुष-विशेष ही ईश्वर हैं । इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुरुष-विशेष शब्दान्तर्गत पुरुष का अर्थ पुरुषतत्त्व नहीं है । यदि ईश्वर असंहत पुरुषतत्त्व मात्र होते तो यहाँ विशेष कहना व्यर्थ होता । अनादि-मुक्तचित्त तथा चित्तद्रव्य पुरुष—इन दोनों के समष्टिभूत पदार्थ का नाम ईश्वर है । ईश्वर प्रधान पुरुष के अधिष्ठाता हैं । सांख्ययोगमत के अनुसार प्रधान, पुरुष एवं

अतो हि दृश्यदेहाद्यमनपेक्ष्य जगत् सृजेत्।
नास्ति तस्मात् स्थूलदेहो वस्तुतः प्राणवल्लभ ॥ ८८ ॥
पररूपे ह्यदेहेऽस्मिन् मुह्यन्ति स्थूलबुद्धयः।
भक्तियुक्ताश्च तैर्ध्यातो यत्र यत्र यथा यथा ॥ ८९ ॥
तथा धत्तेऽनेकरूपं भक्तचिन्तामणिः स्वयम्।
अतश्चेतन एतेन तद्देहः स्याच्चितिः परा ॥ ९० ॥

ईश्वर परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। सांख्ययोगमत १।२३–२९ सूत्रों की व्याख्या में ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, उससे उपर्युक्त मत की अशास्त्रीयता सिद्ध होती है।

वैशेषिक मतावलम्बी परमाणुओं की नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं और ऐसा मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा से वे नित्य परमाणु ही मिलकर जगत् की रचना कर देते हैं। किन्तु किसी की इच्छा से कार्य करने के लिए प्रवृत्त होना जड़ परमाणुओं के लिए संभव नहीं है। ऐसी स्थिति में परमेश्वर के असीम सामर्थ्य का प्रभाव इसे मान ले तो भी प्रश्न यह उठता है कि अलौकिक सामर्थ्य से भी तो इन परमाणुओं की उपेक्षा कर भी सृष्टि-संरचना कर ही सकते हैं। ऐसी स्थिति में भी परमाणुओं की नित्य सत्ता मानकर उनकी अद्वितीयता और विभुता को फिर बाधित क्यों किया जाय? इसी प्रकार सांख्योक्त प्रकृति और मीमांसासम्मत कर्म भी मानवीय नहीं है। यदि कहें कि सृष्टि को कर्म-निरपेक्ष मानने पर तो जीवों के विभिन्न भोगों के कारण ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष आयेगा, तो इस विषय में यह समझना चाहिए कि दर्पण में प्रतीत होने वाले प्रतिबिम्ब के समान जिस प्रकार समस्त जगत् आभास मात्र है, उसी प्रकार ये कर्मादि भी केवल आभास मात्र ही हैं। इनकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वस्तुतः तो वे भी चिदेकरसस्वरूप होने के कारण ईश्वर से अभिन्न ही हैं।

बुद्ध ने कहा था—'खोया बहुत कुछ, पाया कुछ भी नहीं। वासना खोई, विचार खोये, सब भाँति की दौड़ और तृष्णा खोई और पाया वह जो सदा से पाया हुआ है। मनुष्य जिसे नहीं खो सकता है, वही तो है स्वरूप। मनुष्य चाहकर भी जिसे नहीं खो सकता वही है परमात्मा।' अतः परम पिता की सर्वोत्कृष्टता, सर्वशक्तिमत्ता और जगत्कर्तृत्व स्वतः सिद्ध है। सांसारिक प्रपंच खोते ही यह सत्य स्वतः उपलब्ध हो जाता है।

अतः मेरे प्रियतम! भगवान् देह जैसी वस्तु जो देखने में आ सके उसका खयाल किये बिना ही दुनिया बना डालते हैं। अतः उनका कोई स्थूल शरीर नहीं है ॥ ८८ ॥

किन्तु मोटी बुद्धि वाले सामान्य लोगों की भगवान् का रूप स्थूल देह को छोड़ कर भी कुछ हो सकता है—समझ में नहीं आती। अतः भक्तिपूर्वक जिसने उनका जैसा ध्यान किया, उसी तरह वे वैसा ही रूप धारण कर लेते हैं। क्योंकि वे स्वयं भक्तों के लिए चिन्तामणि अर्थात् एक कल्पित रत्न, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि

चितिरेव महासत्ता सम्राज्ञी परमेश्वरी ।
त्रिपुरा भासते यस्यामविभिन्ना विभिन्नवत् ॥ ९१ ॥
आदर्शनगरप्रख्यं जगदेतच्चराचरम् ।
तद्रूपैकत्वतस्तत्र नोत्तमाधमभावना ॥ ९२ ॥
अपरे तु स्वरूपे हि कल्पितं मुख्यतादि हि ।
तस्मात् प्राज्ञ उपासीत परं रूपं हि निष्कलम् ॥ ९३ ॥
असमर्थः स्थूलरूपं यद् बुद्धौ सङ्गतं दृढम् ।
तदुपास्या हेतुतस्तु श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ९४ ॥
नान्यथास्य गतिः क्वापि भवेद्वै कोटिजन्मभिः ॥ ९५ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने ईश्वरस्वरूप-
निरूपणं सप्तमोऽध्यायः ।

उससे जो अभिलाषा की जाय, वह पूर्ण कर देता है——के समान हैं। अन्यथा परम चैतन्य, चितिरूप आत्मा ही उनकी देह है ॥ ८९-९० ॥

और वह चितिरूपा महासत्ता ही भगवती त्रिपुरा हैं। जिसमें यह संसार उससे सम्बद्ध होकर भी असम्बद्ध की तरह दीख पड़ता है ॥ ९१ ॥

यह जड़ और चेतन संसार आईने में दीखने वाले नगर की तरह हैं। वह आईने में दीखने वाले चेतन भिन्न होकर भी एकरूप ही हैं। अतः उनमें उत्तम, अधम आदि भाव नहीं करना चाहिए ॥ ९२ ॥

(यदि यह कहें कि शास्त्रों में भी तो इनकी मुख्यता और गौणता का विवेचन किया गया है, तो उसका उत्तर यह है कि) ये मुख्यता प्रभृति भगवान् के इस अपर अर्थात् पूर्वरूप में ही कल्पित है। अतः विवेकी पुरुषों को तो उनके कलातीत स्वरूप की ही उपासना करनी चाहिए ॥ ९३ ॥

जो व्यक्ति ऐसी उपासना करने में समर्थ नहीं है, वह उन स्थूल रूपों में से किसी एक की उपासना करे, जिस रूप के प्रति उसकी दृढ़ आस्था हो; पर यह आराधना कामना रहित ही होनी चाहिए। इस आराधना से भी वह परम निःश्रेयस् पा सकता है। इसके सिवा करोड़ों जन्मों में भी इस कल्याण को पाने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है ॥ ९४-९५ ॥

सप्तम अध्याय समाप्त ।

अष्टमोऽध्यायः

एवं प्रियावचः श्रुत्वा ज्ञात्वा तत्त्वं महेशितुः ।
त्रैपुरं चिन्मयं हेमलेखावाक्येन निश्चितम् ॥ १ ॥
आश्वस्तचित्तस्त्रिपुरां गुणरूपां महेश्वरीम् ।
ज्ञात्वा गुरुभ्यः परमां माहेश्वर्यविभावितः ॥ २ ॥
तामेकभावानुगतो हेमचूडोऽभवद् दृढम् ।
एवं परोपासनेन व्यतीयुः केऽपि मासकाः ॥ ३ ॥
त्रिपुरा परमेशानी प्रसादमकरोद्धृदि ।
विषयाद्विमुखं चित्तं विचारपरमं बभौ ॥ ४ ॥
एतावद् दुर्लभं लोके परानुग्रहमन्तरा ।
विचारप्रवणं चित्तं यन्मुख्यं मोक्षकारणम् ॥ ५ ॥
राम यावन्न जायेत विचारपरमं मनः ।
न तावच्छ्रेयसा योग उपायानां शतैः क्वचित् ॥ ६ ॥
अथ भूयः स कस्मिंश्चिद्दिने रहसि वै तया ।
सङ्गतः प्रिययाऽत्यन्तविचारपरमानसः ॥ ७ ॥
आयान्तं स्वनिकेतं तं दूरात् कान्तं ददर्श सा ।
उत्थाय तं समानीय स्वासने विनिवेश्य च ॥ ८ ॥

आख्यायिका का स्पष्टीकरण

इस तरह अपनी पत्नी हेमलेखा की बातें सुनकर, परमात्मा के चिन्मय त्रिपुरा के रूप को जानकर हेमचूड़ का चित्त शान्त हो गया। फिर गुरुओं से उसने परम महेश्वरी भगवती त्रिपुरा के सगुण रूप को जाना और उस परमेश्वरी की अनुग्रह-शक्ति से सम्पन्न हो वह एकमात्र उसी के ध्यान में दृढता से तत्पर हो गया ॥ १–२ ॥

इस तरह उस पराशक्ति की आराधना में उसने कई महीने बिता दिये। तब कहीं भगवती त्रिपुरा ने उसके दिल में अपनी दया का संचार किया। इससे उसका कामोपभोग की ओर लगा उसका मन विचारपरायण हो गया ॥ ३–४ ॥

उस पराशक्ति की कृपा के बिना दुनिया में ऐसा होना दुर्लभ ही है। क्योंकि संसार से मुक्ति का प्रमुख कारण विचारोन्मुख मन ही तो है ॥ ५ ॥

हे पराशुराम ! मनुष्य का मन जब तक विचारपरक नहीं होता तब तक सैकड़ों उपायों के बावजूद परम पद नहीं पा सकता ॥ ६ ॥

इसके बाद एक दिन एकान्त में अपनी पत्नी से वह फिर मिला। उस दिन उसका मन बिलकुल विचारपरक था ॥ ७ ॥

पादप्रक्षालनाद्यैस्तं पूजयित्वा यथाविधि ।
प्रोवाचामृतनिष्यन्दसुन्दरं परमं वचः ॥ ९ ॥
प्रेष्ठ ! त्वामद्य पश्यामि चिराय ननु ते वपुः ।
नीरुजं कच्चिदासीद्वै यतो रोगास्पदं वपुः ॥ १० ॥
तन्मामाचक्ष्व वृत्तान्तं यतो नाहं स्मृता त्वया ।
ननु मामसमालोक्य चाप्रभाष्य कदापि ते ॥ ११ ॥
नात्यगाद्दिनभागोऽपि तदेवं कुत आस्थितम् ।
मन्येऽहं मेऽनभिमते वर्त्तनं नहि वर्त्मनि ॥ १२ ॥
स्वप्ने वापि कुतोऽन्यत्र कुत एवमभूद्वद ।
कथं रात्रिस्त्वया नीता चैकापि युगसम्मिता ॥ १३ ॥
विना मां च क्षणोऽप्येको युगकल्पः सुदुःसहः ।
इत्युक्त्वा सा समाश्लिष्य खिन्नेवाभूत् क्षणं ततः ॥ १४ ॥
सोऽपि प्रियासमाश्लिष्टो नेषद्विकृतिमाययौ ।
प्राह प्रिये न मामेवं विमोहयितुमर्हसि ॥ १५ ॥
ज्ञाता मयाऽसि सुदृढं नास्ति ते शोककारणम् ।
परावरज्ञा त्वं धीरा मोहस्त्वां वै कथं स्पृशेत् ॥ १६ ॥

हेमलेखा ने दूर से ही अपने पति को अपने ही घर की ओर आते देखा। उसके सम्मान में उठकर वह खड़ी हो गई, अगवानी कर भीतर ले गई। हाथ-पैर धुलवाकर सुन्दर आसन पर बिठलायी। विधिवत् उसकी अभ्यर्थना की। फिर मधु टपकाती मोहक किन्तु सारगर्भित बातें कहीं ॥ ८–९ ॥

प्रियतम ! बहुत दिनों के बाद आज मैं आपको देख रही हूँ। आप स्वस्थ तो हैं ? क्योंकि यह देह तो रोगों का घर ही है ॥ १० ॥

पहले आप मुझे अपनी बात बतलाइए। इतने दिनों तक आपने मुझे याद तक नहीं किया पहले तो आप मुझे बिना देखे या मुझसे बिना बोले तो दिन में एक पल भी नहीं रह पाते थे। फिर इस तरह आप इतने दिनों तक कैसे रह सके ? ॥ ११ ॥

मैं यह मानती हूँ कि जो मैं नहीं चाहती थी उस रास्ते पर आप जगने की तो बात छोड़िए, सपने में भी कभी नहीं चलते थे। मेरे बिना तो आपको एक पल भी युग या कल्प की तरह दूभर लगता था। फिर बतलाइए न, ऐसा हुआ कैसे ? आपने मेरे बिना युग की तरह एक रात भी कैसे काट ली ? इतना कहकर वह अपने पति से लिपट गई। फिर एक पल के लिए वह बहुत ज्यादे उदास हो गई ॥ १२–१४ ॥

इस तरह पत्नी के लिपटकर गले लग जाने के बावजूद उसके मन में किसी तरह की विकृति नहीं आई। उसने कहा — प्रिये ! इस तरह तुम्हें अब मुझे मोह में नहीं डालना चाहिए ॥ १५ ॥

मैंने तुम्हें ठीक ढंग से पहचान लिया है। तुम्हारे लिए गम की कोई वजह तो नहीं

तत्त्वां प्रष्टुं समायातो यत्तद्वक्ष्यामि संशृणु ।
यत् प्राक् स्ववृत्तं कथितं तत् स्फुटं मे समीरय ॥ १७ ॥
का सा ते जननी प्रोक्ता सखी वा तत्पतिश्च कः ।
तत् पुत्राद्या अपि च के मम वा ते क्व संवद ॥ १८ ॥
न तन्मया सुविदितं न तन्मन्ये मृषोदितम् ।
किन्तु त्वया निगदितं व्यपदेशेन सर्वथा ॥ १९ ॥
तद्विविच्य प्रकथय यथा ज्ञास्ये त्वहं स्फुटम् ।
अहं त्वां सुप्रसन्नोऽस्मि छिन्धि मे हृदि संशयम् ॥ २० ॥
एवमुक्ता हेमलेखा प्रसन्नवदनेक्षणा ।
मत्वा सुनिर्मलधियं परानुग्रहसंयुतम् ॥ २१ ॥
नूनमेषोऽतिविमुखो विषयेभ्योऽतिधैर्यतः ।
विष्णुशक्त्या महेशान्या फलितः पुण्यसञ्चयः ॥ २२ ॥
कालः प्रबोधने चायं बोधयामि ततस्त्विमम् ।
नाथ तेऽहो महाभाग्यं प्राप्तमीशकृपावशात् ॥ २३ ॥

दीखती, क्योंकि कार्य-कारण रूप जगत् से परे ब्रह्म को तुम पहचानती हो। तुम तो दृढ़ और शान्त चित्तवाली हो। मोह अर्थात् अज्ञान तुम्हें छू कैसे सकता है ? ॥ १६ ॥

पहले कभी तुमने अपने बारे में एक कहानी सुनाई थी। उसी के बारे में मैं इस समय तुमसे कुछ पूछने आया हूँ। सुनो, उसे पहले साफ-साफ मुझे समझा दो ॥१७॥

वह तुम्हारी माँ कौन थी, जिसके बारे में तुमने कहा था। तुम्हारी सहेली और उसके पति कौन थे ? उनके बेटे कौन थे ? और यह भी बतलाओ कि मेरे या तुम्हारे साथ उनका वास्ता था ? ॥ १८ ॥

उस समय मैं उस प्रसंग को ठीक-ठीक समझ नहीं पाया। क्योंकि तुमने यह सारी कहानी सांकेतिक भाषा में कही थी। मैं यह भी मानने को तैयार नहीं हूँ कि तुमने झठ कहा होगा ॥ १९ ॥

उन्हें सोचकर कहो ताकि मैं साफ-साफ समझ सकूँ। मैं तुमसे बहुत ज्यादे खुश हूँ, मेरे दिल में जो शक है, उसे दूर कर दो ॥ २० ॥

अपने पति की ऐसी बातें सुनकर हेममाला का चेहरा खुशी से खिल गया, आँखें चमक उठीं। उसने समझ लिया कि भगवान् की इन पर कृपा हुई है। अब इनकी बुद्धि अतीव शुद्ध हो गई है ॥ २१ ॥

निश्चय ही अब ये पूरे सब्र के साथ विषयों से विमुख हो चुके हैं। महामाया की परम कृपा से अब इनका पूर्वकृत पुण्यपुंज फलोन्मुख हो गया है ॥ २२ ॥

अब इन्हें यथार्थ ज्ञान पाने का समय आ गया है। अतः मैं इन्हें ज्ञान का उपदेश करूँगी। फिर उसने कहा — प्रियतम ! भगवान् की दया से आपके परम सौभाग्य का उदय हुआ है ॥ २३ ॥

अन्यथा नैव विषयवैरस्यं पश्यति क्वचित् ।
एतल्लक्षणमीशस्यानुग्रहे ज्ञेयमादितः ॥ २४ ॥
भोगवैरस्यमपरं विचारप्रवणं मदः ।
हन्त ते सम्प्रवक्ष्यामि वृत्तिं प्रोक्तां सदात्मनः ॥ २५ ॥
परा चितिर्मे जननी सखी बुद्धिर्मता मम ।
अविद्या त्वसती सोक्ता यया बुद्धिः सुसङ्गता ॥ २६ ॥
अविद्यायास्तु सामर्थ्यं लोके स्पष्टं विचित्रितम् ।
यद्रज्जौ सर्पमाभास्य महाभीतिं प्रयच्छति ॥ २७ ॥
महामोहस्तु तत्पुत्रो मनस्तस्य सुतोऽभवत् ।
तस्य पत्नी कल्पना स्यात्तत्सुताः पञ्च येऽभवन् ॥ २८ ॥
ज्ञानेन्द्रियाणि ते पञ्च तत्स्थानं गोलकं भवेत् ।
विषयाणां प्रमोषस्तु संस्कारो मनसो भवेत् ॥ २९ ॥
तद्भोगः स्वप्नभोगः स्यात् कल्पनायाः स्वसा तु या ।
महाशना भवेदाशा तस्य यौ तनुजावुभौ ॥ ३० ॥
क्रोधो लोभश्च तावुक्तौ तत्पुरन्तु शरीरकम् ।
मम यस्तु महामन्त्रः स्वरूपस्फुरणं हि तत् ॥ ३१ ॥

नहीं तो कहीं किसी को कामोपभोग में मजा न मिले। ऊपर वाले की दया जिस पर होती है, उसकी यह पहली पहचान है ॥ २४ ॥

इसकी दूसरी पहचान है--'विलास में विरसता' और मन का चिन्तनशील होना। आपसे मैंने जो आत्मा की स्थिति का वर्णन किया था, उसके रहस्य का खुलासा करती हूँ ॥ २५ ॥

पराचिति मेरी माँ है और बुद्धि सहेली, अविद्या सतीत्वहीन औरत है और बुद्धि के साथ उसकी मित्रता हो जाती है ॥ २६ ॥

अविद्या की अद्भुत ताकत से भला कौन परिचित नहीं है ? वह रस्सी में साँप का बोध करा कर लोगों को काफी डरा देती है ॥ २७ ॥

महामोह उसका बेटा है और इसके बेटे का नाम मन है। इसकी पत्नी का नाम कल्पना है। कल्पना को पाँच बेटे हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनसे जीवों को विषयों का बोध होता है। ये हैं क्रमशः आँख, कान, नाक, त्वचा और जीभ। इनकी जगह हैं पाँच इन्द्रियगोलक। इन इन्द्रियों के विषयों का सेवन ही मनुष्य के मन का संस्कार बन जाता है ॥ २८-२९ ॥

उन संस्कारों का आस्वादन ही सपने का व्यवहार है। बहुत ज्यादे खानेवाली 'महाशना' कल्पना की बहन आशा है। उसके दो बेटे क्रोध और लोभ हैं। उनका नगर है—मानव-शरीर और मेरा महामंत्र है—उनके स्वरूप का स्फुरण ॥३०–३१॥

प्राणप्रचार: सम्प्रोक्तो मनसस्तु प्रिय: सखा।
कान्ताराद्यास्तु नरका एवं सर्वं प्रकीर्तितम् ॥ ३२ ॥
मया बुद्धे: सङ्गमस्तु समाधिरभिधीयते।
मन्मातृलोकसम्प्राप्तिर्मोक्ष: प्रिय उदाहृत: ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्त: स्ववृत्तान्तस्त्वमप्येवंविधो ननु।
तद्युक्त्यैतत् सुविज्ञाय परं श्रेय: समाप्नुहि ॥ ३४ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने संसारा-ख्यायिकाविवरणे अष्टमोऽध्याय:।

'प्रचार' है मनुष्य का जीवन, जो मन का ही प्रिय मित्र है। जंगल नरक को कहा गया है। इस तरह इस प्रसंग के सारे रहस्य का खुलासा हो गया ॥ ३२ ॥

बुद्धि का मेरे साथ मिलाप समाधि है। प्रियतम ! मेरा माँ से मिलन ही मुक्ति है ॥ ३३ ॥

इस तरह मैंने अपनी कहानी आपको सुना दी। निश्चय ही आप भी कुछ ऐसे ही है। अत: विचारपूर्वक इन तथ्यों को समझिए और परम श्रेय को पाने की कोशिश कीजिए ॥ ३४ ॥

अष्टम अध्याय समाप्त।

नवमोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं प्रियया प्रोक्तं हेमचूडोऽतिविस्मितः ।
हर्षगद्गदया वाचा पुनर्वक्तुं प्रचक्रमे ॥ १ ॥
धन्या प्रियेऽसि निपुणा अहो ते ज्ञानवैभवम् ।
किं वर्णयामि यत् प्रोक्तमाख्यारूपतयाऽखिलम् ॥ २ ॥
एवंविधं स्ववृत्तं मे नाभवद्विदितं क्वचित् ।
त्वदुक्त्याऽहं सम्प्रति तत् करामलकवत् स्फुटम् ॥ ३ ॥
स्मराम्यनुभवाम्यन्तरहो लोकक्रियाऽद्भुता ।
का सा परा चितिर्माता कथं तस्यास्तु नो जनिः ॥ ४ ॥
के वा वयं स्वरूपं किमस्माकं तद् ब्रवीहि मे ।
इति पृष्टा हेमलेखा रामोवाच प्रियं प्रति ॥ ५ ॥
नाथ शृणु प्रवक्ष्यामि गूढार्थमिदमादरात् ।
विचारयात्मनो रूपं बुद्ध्याऽत्यन्तविशुद्धया ॥ ६ ॥
न दृश्यं नापि तद्वाच्यमतो वक्ष्यामि तत् कथम् ।
ज्ञातस्वात्मस्वरूपो वै ततो ज्ञास्यसि मातरम् ॥ ७ ॥

अपनी पत्नी का ऐसा तत्त्व-विवेचन सुनकर हेमचूड़ तो दंग रह गया। उसका गला भर आया। रुँधे कण्ठ से उसने फिर कहना शुरू किया ॥ १ ॥

प्रिये ! तुम धन्य हो, बड़ी चतुर हो। तुम्हारे ज्ञान की गहराई भी कमाल की है। तुमने कहानी के रूप में जो कुछ कहा, उसका वर्णन मैं क्या करूँ ? ॥ २ ॥

इस तरह मेरी अपनी बात, कभी मेरी जानकारी में नहीं आई। जब तुमने कहा तो हथेली पर रखे आँवले की तरह सारी बातें साफ झलकने लगीं ॥ ३ ॥

अब तो मुझे खुद अपने भीतर की उस दशा की याद आती है, जिसे मैं अभी भी महसूस कर रहा हूँ। हाय, यह संसार का व्यवहार भी कितना अजूबा है ? पर यह तो बतलाओ, मेरी जननी यह 'पराचिति' क्या है ? इससे हमारा जन्म कैसे होता है ? ॥ ४ ॥

मुझे तुम यह भी बतलाओ कि हम कौन हैं ? हमारा आकार अर्थात् शक्ल क्या है ? परशुराम ! इस तरह जब हमलेखा के प्रिय पति ने उससे पूछा तब उसने कहा ॥ ५ ॥

स्वामी ! सुनिए, मैं इस आत्मतत्त्व का गूढ़ रहस्य समझाती हूँ। आप आदरपूर्वक विशुद्ध बुद्धि से अपनी आत्मा के स्वरूप का विचार करें ॥ ६ ॥

यह आत्मा न तो देखने में आती है और न इसे शब्दों के माध्यम से बतलाया

न ह्यादेशस्वरूपेऽस्ति तत आदेष्टृवर्जितम् ।
स्वं रूपं स्वात्मना पश्य शुद्धबुद्धिसमाश्रयम् ॥ ८ ॥

ही जा सकता है। फिर इसका स्वरूप मैं आपको कैसे समझाऊँ? और जब तक आप अपनी आत्मा के रूप को ठीक ढंग से जान न लेंगे, तब तक अपनी माता को भी नहीं पहचान सकेंगे ॥ ७ ॥

इसकी बनावट के बारे में कोई नसीहत भी नहीं हो सकती, इसलिए इसकी कोई सीख भी नहीं दे सकता है। शुद्ध बुद्धि के सहारे टिकी उस आत्मा को आत्म-भाव से ही आप देख सकते हैं ॥ ८ ॥

विशेष — भगवान् को जानने के पूर्व अपने-आपको जानना अनिवार्य है। आत्मा को जानते ही जाना जाता है कि अब कुछ और जानने को शेष नहीं है। आत्मज्ञान की कुंजी पाते ही ईश्वर का दरवाजा स्वतः खुल जाता है। ईश्वर तो सब जगह है। सृष्टि की समग्र सत्ता में वही है, किन्तु उस तक पहुँचने की निकटतम राह अपने आपमें है। आत्मा की सत्ता ही चूँकि स्वयं के सर्वाधिक निकट है, इसलिए आत्मा की खोज में ही ईश्वर की खोज होनी चाहिए।

और जो स्वयं में ही खोजने में असमर्थ है, जो निकट ही नहीं खोज पाता तो दूर कैसे खोज पायेगा? दूर की खोज का विचार निकट की खोज से बचने का उपाय हो सकता है।

हेममाला अपने पति को समझाना चाहती है कि पदार्थज्ञान और आत्मज्ञान में भेद है। मनुष्य ने अणु-द्वयणुक तक का अनुसंधान कर लिया है, किन्तु आत्मानुसंधान नहीं कर पाया है। पदार्थज्ञान विषय और विषयी का सम्बन्ध है; आत्मज्ञान विषय विषयी का अभाव। पदार्थज्ञान में ज्ञाता है और ज्ञेय भी। आत्मज्ञान में न ज्ञाता है और न ज्ञेय ही। वहाँ तो मात्र ज्ञान है। वह शुद्ध ज्ञान है, क्योंकि वहाँ न कोई ज्ञेय है और न ज्ञाता। जो ज्ञान शेष रह जाता है वही है आत्मज्ञान। ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम ही आत्मज्ञान है। इस ज्ञान को पाने की विधि क्या है? मार्ग क्या है? द्वार क्या है?

श्रद्धापूर्वक इसका अनुभव करना होगा, क्योंकि मैं सबको जान सकता हूँ, लेकिन इसी भाँति अपने-आपको नहीं। शायद आत्मज्ञान जैसी सरल घटना कठिन और दुरूह बन जाती है।

मैं तो निरन्तर हूँ। सोते-जागते, उठते-बैठते, सुख में दुःख में — मैं तो हूँ ही। ज्ञान हो या अज्ञान — सबमें मेरा होना असंदिग्ध है। सब पर संदेह किया जा सकता है, लेकिन स्वयं पर तो संदेह नहीं किया जा सकता। लेकिन यह मैं कौन हूँ? यह 'मैं' क्या है? कैसे इसे जानूँ? यह हो सकता है कि मैं जो जानता हूँ वह सच न हो बल्कि झूठ हो, स्वप्न हो; लेकिन मेरा जानना — जानने की क्षमता — तो सत्य है। इन दोनों तथ्यों को जानना चाहिए, विचारना चाहिए और इन दोनों के आधार पर आत्मा को पहचाना जा सकता है और इसका कोई अन्य विकल्प नहीं है।

देवादितिर्यगन्तानां भान्तं भानैरभासितम् ।
भान्तं सर्वत्र सर्वस्य सर्वदा भानवर्जितम् ।। ९ ।।
कथं कुत्र कदा केन निरूप्येतापि लेशतः ।
मन्नेत्रं दर्शयत्येवमुक्तमेतत् प्रियाधुना ।। १० ।।
नात्राचार्यस्योपयोगो यथा नयनदर्शने ।
निपुणोऽपि महाचार्यः कथं नेत्रं प्रदर्शयेत् ।। ११ ।।
अतो गुरुरुपायोऽत्र तदुपायप्रदर्शनात् ।
तत्ते वक्ष्याम्युपायन्तच्छृणु संयतमानसः ।। १२ ।।
यावत् त्वमात्मनि ममेत्येवन्तु प्रतिपश्यसि ।
ततः परं निजं रूपं यन्ममेति न भाति ते ।। १३ ।।
गत्वैकान्ते विविच्यैतद्यद्युद्भाति ममत्वतः ।
तत्तत् परित्यज्य परं स्वात्मानमभिलक्षय ।। १४ ।।

ज्ञान जहाँ विषय-रिक्त है, वहीं वह स्वप्रतिष्ठित होता है । ज्ञान जहाँ ज्ञेय से मुक्त है, वही शुद्ध है और वह शुद्धता — शून्यता ही आत्मज्ञान है । चेतना जहाँ निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है, वही जो अनुभूति है, वही स्वयं का साक्षात्कार है । किन्तु इस साक्षात्कार में न कोई ज्ञाता है और न ज्ञेय ही । यह अनुभूति अभूतपूर्व है । इसके लिए शब्द असंभव है । यह शब्दातीत है । इसे खोजा नहीं जा सकता है, क्योंकि यही खोजनेवाला का स्वरूप है ।

यहाँ विषय-निर्मुक्त युक्ति को ही 'शुद्धबुद्धि' कहा गया है । आश्रय अधिष्ठानभूत इस आत्मतत्त्व को निखिल दृश्य रूप अनात्मा का निषेध कर देने पर 'आत्मभाव' से अर्थात् दृश्य और दृश्याभाव के साक्षी रूप से ही हम अनुभव कर सकते हैं । हम जिसे खो नहीं सकते वही हमारा असली स्वरूप है । हम जिसे खो नहीं सकते वही परमात्मा है ।

वह देवता से लेकर कीड़े-मकोड़े तक सबकी आत्मा के स्वरूप में मौजूद है । वह किसी अन्य के प्रकाश से प्रकाशित नहीं है । वह ज्ञान के रूप में हर जगह उद्भासित है । उसे किसी भी प्रमाण का विषय नहीं बनाया जा सकता है ।। ९ ।।

प्रियतम ! क्यों ? कहाँ ? कब ? किसने इसका थोड़ा भी निर्णय किया है; यह बात ठीक उसी तरह है, जैसे कोई कहे कि अब मुझे मेरी आँख दिखला दो ।। १० ।।

जैसे अपनी आँखों से आँखें दिखलाने में गुरु का कोई इस्तेमाल नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी दक्ष से दक्ष गुरु भला आँखों को कैसे दिखला सकता है ? ।। ११ ।।

इसलिए कोई गुरु तो 'आत्मदर्शन' के तरकीब बतलाने की वजह से ही फायदेमंद होते हैं । अतः मैं इसकी तदबीर बतलाती हूँ । आप पूरा सावधान होकर सुनें ।।१२।।

अपने-आप में जहाँ तक आप 'मेरा' महसूस करते हैं; आपका अपना रूप उससे कुछ भिन्न है जो आपको 'मेरा' इस रूप में नहीं दीखता ।। १३ ।।

यथाऽहं ते ममत्वेन भासनान्नात्मता मयि।
सम्बन्धमात्रादात्मीया न स्वरूपगता ह्यहम् ॥ १५ ॥
ममार्थमखिलं त्यक्त्वा यत्त्यक्तुं नैव शक्यते।
तथाऽऽत्मानं समालक्ष्य परं श्रेयः समाप्नुहि ॥ १६ ॥
इत्युक्तः प्रियया हेमचूड उत्थाय वै द्रुतम्।
ययावश्वं समारुह्य तत्क्षणे नगराद्बहिः ॥ १७ ॥
उद्यानं नन्दनसमं प्रविश्य क्षणमात्रतः।
वनान्तसौधमुन्नम्रं स्फाटिकं प्रविवेश ह ॥ १८ ॥

अब आप अकेले में बैठकर इस पर सोचिए और आपको जो कुछ 'मेरा' के रूप में दीख पड़े, उसे छोड़कर अपनी आत्मा को पहचानिए ॥ १४ ॥

आपको मैं जैसे अपने रूप में दीखती हूँ, अतः मुझसे आपका आत्मभाव तो नहीं हो सकता। केवल सम्बन्ध होने के नाते आपकी आत्मीय तो हूँ, पर आपके स्वरूप के भीतर नहीं हूँ ॥ १५ ॥

इसी तरह अपने कहे जाने वाले सब कुछ छोड़ देने के बाद जो शेष बच जाय, उसे ही आत्मा जानकर आप परम कल्याण प्राप्त करें ॥ १६ ॥

विशेष—हेममाला अपने पति को आत्मा के स्वरूप को समझाने की चेष्टा कर रही है। वह कहती है—जो जानी जा सकती है वह आत्मा नहीं हो सकती। जानना तो दूसरे का ही हो सकता है; स्व का नहीं। आत्मा तो वही है जो जानता है। आत्मा अनिवार्य रूप से ज्ञाता है। उसे किसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता है। ज्ञाता को जानने की चेष्टा क्या आँख को उसी आँख से देखने के प्रयास की भाँति नहीं है?

जगत् की समस्त वस्तुएँ ज्ञेय की तरह जानी जाती हैं। असल में जो ज्ञेय है, वही वस्तु है—जो जानता है, ज्ञाता है, वही है अवस्तु। ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है—पदार्थ-ज्ञान। किन्तु जहाँ न ज्ञेय है, न कोई ज्ञाता, क्योंकि जहाँ ज्ञेय नहीं वहाँ ज्ञाता कैसे होगा? वहाँ जो शेष रह जाता है, जो रूप शेष रह जाता है, वही है आत्मा का स्वरूप। सब कुछ खोकर जिसे पाया जा सकता है, वही है आत्मस्वरूप। जिसे किसी भी स्थिति में खोया नहीं जा सकता वही तो है स्वरूप। पदार्थ-ज्ञान खोते ही आत्मज्ञान उपलब्ध होता है। विचार के तटस्थ, चुनावशून्य निरीक्षण से विचार-शून्यता आती है। विचार तो नहीं रह जाते, केवल विवेक रह जाता है। पदार्थज्ञान तो नहीं होता, केवल चैतन्य मात्र रह जाता है। इसी क्षण में प्रसुप्त प्रज्ञा का विस्फोट होता है और आत्मा के द्वार खुल जाते हैं।

पत्नी के इस तरह समझाने पर हेमचूड़ उठ खड़ा हुआ और घोड़े पर सवार होकर उसी समय नगर से बाहर निकल गया ॥ १७ ॥

विसृज्यानुचरान् सर्वान् द्वारपालानशासयत् ।
न कोऽप्यत्र प्रविशतु मय्येकान्तविचारणे ॥ १९ ॥
राजामात्याश्च गुरवो राजा वाऽप्यत्र सङ्गतः ।
अप्रवेश्या एव यावदहमाज्ञां दिशामि वः ॥ २० ॥
इत्युक्त्वाऽऽरुह्य सौधाग्रचं नवमीं भूमिमाविशत् ।
तत्र वातायने चित्रे सर्वलोकावलोकने ॥ २१ ॥
आसने मृदुतूलाढचे विवेशान्यविवर्जितः ।
मनः समाधाय दृढं विचारमकरोत् तदा ॥ २२ ॥
नूनमेते जनाः सर्वे कथमेवं विमोहिताः ।
न कोऽप्यत्र विजानाति स्वात्मानं लेशतोऽपि च ॥ २३ ॥
सर्वोऽपि स्वात्मनो हेतोः करोति विविधाः क्रियाः ।
केचित् पठन्ति शास्त्राणि साम्नायानि च नित्यशः ॥ २४ ॥
केचिद्धनान्यर्जयन्ति केचिच्छासति चावनिम् ।
अन्ये युध्यन्ति रिपुभिरन्ये भोगैकलम्पटाः ॥ २५ ॥
कुर्वन्त्येतत् स्वार्थमेते स्वस्वात्मा कतमो भवेत् ।
नैनं जानाति कोऽप्यत्र कुत एवमयं भ्रमः ॥ २६ ॥

देवराज इन्द्र के उपवन की तरह सुन्दर अपनी वाटिका में बने सफेद बहुमूल्य काच की तरह पारदर्शी पत्थर के बने राजभवन में शीघ्र ही प्रवेश कर गया ॥ १८ ॥

अपने सभी सेवकों को उसने फाटक के बाहर ही छोड़ दिया। पहरेदारों से उसने कहा—'जब तक अकेले बैठकर मैं सोचता रहूँ, कोई भीतर घुसने न पाये' ॥ १९ ॥

गुरुजन हों या राजमन्त्री, यहाँ तक कि खुद महाराज भी आ जाय तो भी बिना मेरी आज्ञा उन्हें भी प्रवेश न दिया जाय ॥ २० ॥

महल में घुसकर वह नौवीं मंजिल पर चला गया। कोमल रुई के गद्दे पर वहाँ ठीक झरोखे के सामने बैठ गया। वहाँ से बाहर सब कुछ साफ-साफ दिखलाई पड़ता था। बिलकुल एकान्त में बैठकर, एकाग्र मन से विचार करने लगा ॥ २१–२२ ॥

सचमुच ये लोग अपने तन-मन की सुध क्यों भूले हैं ? ये थोड़ा भी अपनी आत्मा के स्वरूप को क्यों नहीं जानते ? ॥ २३ ॥

सब अपने-अपने सुख के लिए तरह-तरह के काम में लगे हैं। कोई शास्त्र का अध्ययन कर रहा है तो कोई हर दिन वेदपाठ में लगा है ॥ २४ ॥

कोई धन कमाने में मशगूल है तो कोई धरती पर शासन कर रहा है। कोई दुश्मन के साथ लड़ रहा है तो कोई भोगविलास में डूबा है ॥ २५ ॥

ये सारे-के-सारे काम अपने हित के लिए समझ कर किये जा रहे हैं। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि हम कौन हैं ? आखिर यह भूल कैसे हुई ? ॥ २६ ॥

अहो यथावदात्मानमविदित्वैव वै कृतम् ।
व्यर्थं स्वप्ने कृतमिव तदद्य विमृशामि तम् ॥ २७ ॥
गृहधान्यराज्यधनयोषित्पश्वादिकश्च न ।
न मे स्वरूपं भवति त्वनहन्ताश्रयत्वतः ॥ २८ ॥
मदर्थभूतताहेतोर्देहोऽहं स्यां हि सर्वथा ।
नूनं क्षत्रियदायादो गौराङ्गोऽहं न संशयः ॥ २९ ॥
अहन्तया समाक्रान्तास्तथैतेऽपि जनाः परे ।
इति निश्चित्य दध्यौ तं देहं राजकुमारकः ॥ ३० ॥
अथ देहस्य चात्मत्वं प्रतिषेद्धुं प्रचक्रमे ।
अहो कथं देह एष ममतायाः समाश्रयः ॥ ३१ ॥
रुधिरास्थ्यादिसङ्घातः प्रतिक्षणविकारवान् ।
मम रूपं भवेन्नूनं छिन्नमेतत्तु लक्ष्यते ॥ ३२ ॥
काष्ठलोष्ठसमत्वेन स्वप्नादौ चान्यथा स्थितः ।
नाहं देहोऽन्य एव स्यां प्राणोऽप्येष तथाविधः ॥ ३३ ॥
मनो बुद्धिश्च नाहं स्यां यत एतन्ममेरितम् ।
अतो देहादिबुद्ध्यन्तस्तदन्य एव न संशयः ॥ ३४ ॥

हाय, अपनी आत्मा को बिना पहचाने ये सारे-के-सारे काम तो सपने में किये गये काम की तरह बेकार हैं। अतः अब मैं उसी आत्मा का अनुचिन्तन करता हूँ ॥ २७ ॥

घर, अनाज, राजपाट, धन-दौलत, औरत और पशु तो मेरे स्वरूप नहीं हो सकते। ये मेरे हो सकते हैं, पर ये मैं नहीं हो सकता, क्योंकि ये मेरे आधार नहीं हैं ॥ २८ ॥

'मैं' शब्द का तात्पर्य बिलकुल मेरी देह से है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मैं क्षत्रिय कुल में जन्म लेनेवाला गौरवर्ण का राजपूत हूँ ॥ २९ ॥

ये सब लोग देह को 'मैं' मान रहे हैं। ऐसा निश्चय कर वह राजकुमार अपनी देह का आत्मबुद्धि से अनुचिन्तन करने लगा ॥ ३० ॥

'मेरी आत्मा का स्वरूप मेरी देह है' इस मान्यता का वह खुद वर्णन करने लगा। अब वह सोचने लगा—मेरी यह देह मेरी आत्मा का स्वरूप कैसे हो सकती है ? यह तो अपनापन का सहारा है। हाड़, मांस और लहू का समूह है। हर पल बदलने वाली है। काठ और पत्थर की तरह कट कर अलग होनेवाली है। इसके अलावा सपने आदि के समय इसकी दशा कुछ और ही होती है। इसलिए यह देह तो 'मैं' कभी नहीं हो सकती। बची जान, सो वह भी तो ऐसी ही है ॥ ३१–३३ ॥

इसी तरह मन और बुद्धि भी मैं नहीं हो सकते, क्योंकि इन्हें तो मेरा मन और मेरी बुद्धि कहे जाते हैं। इसलिए असंदिग्ध रूप से – देह से लेकर बुद्धि तक जो कुछ है, 'मैं' उससे अलग ही है ॥ ३४ ॥

अहं कदाचिन्नास्मीति भासनाभावहेतुतः ।
सर्वदाऽहं भासमानः स्थित एव न संशयः ॥ ३५ ॥
भासमानस्य तु मम केन भानमिति स्फुटम् ।
न हि जानामि तत् कस्मादेतन्न विदितं मया ॥ ३६ ॥
घटादिकं चक्षुराद्यैर्भासते भुवि नान्यतः ।
प्राणस्त्वचा विभात्येव मनो ज्ञानेन चेहितम् ॥ ३७ ॥
एवं बुद्धिः केन च मे भासनं नाविदं त्विदम् ।
अथैषां भासनादेव नात्मा भासेत मे यदि ॥ ३८ ॥
तर्हि नो विमृशाम्येतांस्ततो मे भासनं भवेत् ।
इति निश्चित्य मनसा जहौ मानसगोचरम् ॥ ३९ ॥
अथाऽपश्यदन्धकारं गाढं तत्क्षणमात्रतः ।
इदं ममाऽत्मनो रूपमिति निश्चितमानसः ॥ ४० ॥
प्रहर्षमतुलं लेभे चाऽथ भूयो व्यचिन्तयत् ।
नूनं पुनः प्रपश्यामीत्येवं चित्तं रुरोध वै ॥ ४१ ॥
चञ्चलं हठयोगेन निरुद्धं समवैक्षत ।
तेजःपुञ्जमनाद्यन्तं भास्वरं क्षणमात्रतः ॥ ४२ ॥

'मैं नहीं हूँ' ऐसा तो कभी नहीं लगता। इसलिए मैं तो हमेशा जान ही पड़ता हूँ। इसमें कतई सन्देह की गुंजाइश नहीं है ॥ ३५ ॥

लेकिन 'मैं हूँ' यह बोध किससे होता है? यह साफ-साफ जाहिर नहीं होता। आखिर इसका पता क्यों नहीं होता? ॥ ३६ ॥

इस दुनिया में घड़े आदि पदार्थों को तो हम आँखों से ही देखते हैं, किसी और से नहीं। चमड़ी के छूने से जान जानी जाती है। मन का ज्ञानात्मक काम से अन्दाज किया जाता है ॥ ३७ ॥

अपने निश्चयात्मक कर्म से बुद्धि का भी बोध होता है, किन्तु आत्मबोध कैसे होता है? मैं नहीं जानता, क्यों? यदि इनकी जानकारी की वजह से आत्मा की जानकारी मुझे नहीं मिलती हो तो इन पर अब मैं विचार करना ही छोड़ देता हूँ। तब संभव है मुझे आत्मा का बोध हो जाय। इस तरह मन में उठनेवाले सभी विचारों का उसने परित्याग कर दिया ॥ ३८–३९ ॥

विचारमुक्त होते ही थोड़ी देर के बाद उसने घोर अन्धकार देखा और यह समझ कर उसे अपार हर्ष हुआ कि आत्मा का यही स्वरूप है। फिर यह सोचकर कि अभी और कुछ देखना चाहिए; उसने अपने चंचल मन को हठयोग से वश में किया। चित्तनिरोध होते ही उसने एक पल में ही आदि-अन्त रहित अत्यन्त प्रदीप्त तेजः-पुञ्ज देखा ॥ ४०–४२ ॥

प्रबुद्धश्चिन्तयामास किमेतदिति विस्मितः ।
अहो पश्यामि विविधं किमात्मानं कथन्त्विदम् ॥ ४३ ॥
भूयः पश्यामि चेत्येवं रुरोध स्वमनस्तदा ।
विलीनं निद्रया चित्तं बभौ चिरतरं दृढम् ॥ ४४ ॥
तत्राऽपश्यत् स्वप्नजालं विचित्रानेकदर्शनम् ।
अथ प्रबुद्धोऽत्यन्तं वै चिन्तां प्राप महत्तराम् ॥ ४५ ॥
किमहं निद्रयाऽऽच्छन्नः स्वप्नान् समवलोकयम् ।
तमस्तेजश्चापि दृष्टमहो स्वप्नात्मको भवेत् ॥ ४६ ॥
स्वप्नस्तु मानसोल्लासस्तदेतं वर्जये कथम् ।
भूयो निगृह्य पश्यामीत्येवं निश्चित्य वै दृढम् ॥ ४७ ॥
रुरोध चित्तं तु हठात् तदेतदभवत् स्थिरम् ।
तदानन्दसमुद्रान्तर्निमग्न इव सोऽभवत् ॥ ४८ ॥
पुनश्चित्तप्रचलनात् प्रबुद्धोऽभवदञ्जसा ।
किमेष मेऽभवत् स्वप्नश्चाऽथ वा चित्तविभ्रमः ॥ ४९ ॥
आहोस्वित् सत्य एष स्यादविचिन्त्यं विभाति मे ।
नाऽन्वभूवं किञ्चिदपि सुखमाप्तं कथं मया ॥ ५० ॥
अहोऽस्य सुखलेशस्य तुल्यं नास्त्यत्र किञ्चन ।
अहं सुषुप्तवन्मूढः कथमेतत् सुखं स्थितम् ॥ ५१ ॥

होश आने पर चकित होकर वह सोचने लगा—यह क्या था ? अहो ! मैं अपनी आत्मा को इस तरह अनेक रूपों में क्यों देख रहा हूँ ॥ ४३ ॥

अच्छा, तो मैं फिर देखता हूँ। यह सोचकर उसने फिर मन का निग्रह किया। इस बार उसका चित्त बहुत देर तक गहरी नींद में खोया रहा ॥ ४४ ॥

इस हालत में उसने अपने में अनेक रंग-बिरंगे दृश्य देखें। मन से नींद की छाया हटते ही वह फिर गहरे सोच में डूब गया ॥ ४५ ॥

क्या नींद में मैंने ये सारे सपने ही देखे थे ? तब तो मैंने जो अन्धकार और प्रकाश देखे थे वे भी तो सपने ही होने चाहिए ॥ ४६ ॥

सपने तो मन की ही एक झलक है, तो फिर मैं इसे कैसे रोकूँ ? अच्छा, एक बार फिर मन को रोक कर तो देखूँ। ऐसा पक्का इरादा कर हठपूर्वक चित्त का निरोध किया। इस बार उसका मन स्थिर हो गया। वह मानो हर्ष के सागर में गोता लगाने लगा ॥ ४७–४८ ॥

फिर अन्तःकरण गतिशील होने के कारण स्वभाव से ही वह जगकर सोचने लगा। क्या इस बार भी मुझे सपना ही हुआ था या मेरे मन का भ्रम था अथवा यह सच था। मुझे तो सब कुछ बड़ा बेढब लगता है। मैंने तो कुछ भी अनुभव नहीं किया, फिर मुझे यह सुख कहाँ से महसूस हुआ ॥ ४९–५० ॥

नात्र हेतुं कञ्चिदपि लक्षये तत् कथं भवेत् ।
आत्मावगमनायाऽहं प्रवृत्तोऽप्यद्य नाऽविदम् ॥ ५२ ॥
आत्मानमन्यच्चान्यच्च पश्यामि किमिदं भवेत् ।
प्रकाशो वाऽन्धकारो वा सुखं वाऽन्यदथापि वा ॥ ५३ ॥
आत्मा भवेन्मम तथा क्रमिकैतत्स्वरूपकः ।
नाऽन्तमेम्यत्र भूयस्तां पृच्छामि विदुषीं प्रियाम् ॥ ५४ ॥
इति निश्चित्य द्वारेशमाहूयाज्ञां समाविशत् ।
स्वसन्निधानमानेतुं हेमलेखां नृपात्मजः ॥ ५५ ॥
अथ प्राप्ता मुहूर्त्तेन द्वारिकस्य निदेशतः ।
आरुरोह महासौधं मेरुमिन्दुप्रभेव सा ॥ ५६ ॥
अथाऽपश्यद्राजसुतं प्रियं शान्तात्ममानसम् ।
निश्चलं निर्विकारञ्च संहृतेन्द्रियमण्डलम् ॥ ५७ ॥
समीपमुपसृत्याशु तद्विष्टरमुपारुहत् ।
एकासनोपविष्टायां तस्यां स निमिषार्द्धतः ॥ ५८ ॥

अहो, इस सुख के छोटे-से-छोटा कण भर सुख की तुलना संसार के किसी सुख से नहीं हो सकती। मैं तो गहरी नींद में खोया था। मुझे फिर यह सुख कैसे मिला ? ॥ ५१ ॥

इसकी वजह तो मुझे कुछ दिखायी नहीं देती। फिर यह सब कैसे हुआ ? मैंने तो आत्मा का स्वरूप जानना चाहा था, सो तो अब तक जान ही नहीं सका ॥ ५२ ॥

इस आत्मा को तो मैं अलग-अलग रूपों में ही देख रहा हूँ। दरअसल यह है क्या ? अन्धकार, प्रकाश या सुख है अथवा कुछ और ही है ? ॥ ५३ ॥

अथवा मेरी आत्मा के ही सिलसिलेवार ढंग से ये सब रूप हैं ? इसके बारे में मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। मेरी पत्नी विदुषी है। उसी से चलकर पूछ लूँ ॥ ५४ ॥

ऐसा निश्चय कर राजकुमार ने पहरेदार को बुलाकर हेमलेखा को अपने पास बुला लाने का हुक्म दिया ॥ ५५ ॥

इसके बाद पहरेदार से सूचना पाकर पलभर में हेमलेखा वहाँ आ गयी और पर्वतराज सुमेरु के सुनहले शिखर पर चढ़ती चाँदनी की तरह उस भव्य राजमहल की नौवीं मंजिल पर चढ़ गयी ॥ ५६ ॥

वहाँ उसने अपने प्रिय पति राजकुमार को देखा। उसका शरीर और मन बिलकुल शान्त थे, प्राण स्थिर थे, काम-क्रोधादि विकार खत्म हो चुके थे तथा इन्द्रियाँ संयत थीं ॥ ५७ ॥

शीघ्र ही उसके पास पहुँचकर उसी के बिस्तर पर बैठ गयीं। एक ही आसन

उन्मील्य नयने पार्श्वे समालोकयदास्थिताम् ।
आलोकिता प्रियं शीघ्रं प्रणयात् परिषस्वजे ॥ ५९ ॥
ततः प्राहाऽमृतस्यन्दि सुन्दरं वचनं प्रिया ।
नाथ किं भवताऽऽहूता कच्चित्ते नीरुजं तनौ ॥ ६० ॥
वदाऽऽहूतौ कारणं मे यदर्थमहमागता ।
एवं प्रियानुयुक्तः स बभाषे स्वात्मनः प्रियाम् ॥ ६१ ॥
प्रिये त्वयाऽनुशिष्टोऽहं विविक्तेऽत्र समास्थितः ।
विचारपरमः स्वात्मरूपलक्षणहेतवे ॥ ६२ ॥
तत्परेणापि चित्तन्तु लक्षितं तत् पृथक् किमु ।
आत्मनः सर्वदा प्राप्तेर्भासमानत्वतोऽपि च ॥ ६३ ॥
असम्यग् भासनश्चान्यभासनस्य निमित्ततः ।
इति मत्वा निरुध्यान्यभासनं सुव्यवस्थितः ॥ ६४ ॥
अपश्यमन्धकारञ्च प्रकाशमन्यदेव च ।
क्वचित् सुखं महत् प्राप्तं किमेतद्वद मे प्रिये ॥ ६५ ॥
इदमेवात्मनो रूपमथवाऽन्यद्भवेत् क्वचित् ।
सम्यग् विविच्य कथय यथा तमभिलक्षये ॥ ६६ ॥

पर उसके बैठ जाने के बाद पलक झपकते आँखें खोलकर उसे बगल में बैठी देखा ॥ ५८½ ॥

हेमचूड़ की आँखें ज्यों ही उस पर पड़ी, उसने बड़े प्यार से उसे गले लगा लिया। फिर अमृत बरसाती मीठी वाणी में बोली ॥ ५९½ ॥

स्वामी ! आपने मुझे कैसे याद किया ? आपकी देह तो तन्दुरुस्त है न ? मुझे यहाँ बुलाने की वजह क्या है ? किसलिए मैं यहाँ आयी हूँ ॥ ६०½ ॥

पत्नी ने जब इस तरह पूछा तब उसने कहा – प्रिये ! तुम्हारा उपदेश सुनकर मैं यहाँ एकान्त में आत्मदर्शन के लिए विचार में लीन होकर बैठ गया ॥ ६१–६२ ॥

मैं बिलकुल आत्मचिन्तन में ही लगा था। आत्मा तो हमेशा साथ ही है। वह प्रकाशस्वरूप है, फिर मुझे उसके अनेक रूप क्यों दिखायी दिये ॥ ६३ ॥

फिर यह सोचकर कि यह गलत जानकारी दूसरी चीजों की जानकारी की वजह से ही हुई है, अतः मैं हर तरह के अनुचिन्तनों को रोककर बिलकुल स्थिर हो गया ॥ ६४ ॥

तब मैंने अन्धकार देखा, प्रकाश देखा और अनेक चित्र देखें। फिर मुझे काफी सुख भी मिला। अब प्रिये ! तुम्हीं बतलाओ, ये सब क्या थे ? ॥ ६५ ॥

क्या आत्मा का यही स्वरूप है या कुछ और ? ठीक ढंग से विवेचन कर यह बात मुझे समझा दो। ताकि मैं भी उसे महसूस कर सकूँ ॥ ६६ ॥

इत्युक्ता साऽब्रवीद्धेमलेखा ज्ञातपरावरा।
शृणु प्रिय प्रवक्ष्यामि समाहितधियाऽखिलम् ॥ ६७ ॥
यस्त्वया बाह्यसंरोधे व्यवसायः समेधितः।
स शुभः सम्मतः सर्वैः सुमुख्यश्चात्मवेदिभिः ॥ ६८ ॥
विना तेन न तत् प्राप्तं केनापि कुत्रचित् क्वचित्।
न तत् कारणतामेति तत्प्राप्तौ प्राप्तभावतः ॥ ६९ ॥
अप्राप्तावात्मता न स्यादात्मत्वेनाप्तता कुतः।
अप्राप्यः सर्वथैवात्मा प्राप्तिस्तस्य न विद्यते ॥ ७० ॥

इस तरह पूछे जाने पर परमात्मतत्त्व को जानने वाली हेमलेखा ने कहा—स्वामी ! मैं आपको सारा रहस्य समझाती हूँ, आप सावधान होकर सुनें ॥ ६७ ॥

आपने जो बाहरी चेष्टाओं को रोकने की कोशिश की वह तो बहुत ही अच्छा है और इसे ही सब आत्मज्ञानी प्रमुख साधन भी मानते हैं ॥ ६८ ॥

उसके बिना आज तक किसी को कहीं भी कुछ भी नहीं मिला है। किन्तु आत्मा को पाने का यह कारण नहीं है, क्योंकि आत्मा तो खोई नहीं, पायी ही है ॥ ६९ ॥

विशेष—हेममाला ने पति को समझाने के क्रम में कहा—खोज तो उसकी होती है जो कहीं खो जाता है। जो कभी खोया ही नहीं उसकी भला खोज कैसी ? आत्मा तो निरन्तर है; सोते-जागते, उठते-बैठते, सुख में, दुःख में—आत्मा तो है ही। ज्ञान हो या अज्ञान, आत्मा का अस्तित्व अबाध है, असंदिग्ध है। वस्तुतः उसे खोजा भी नहीं जा सकता, क्योंकि वह खोजने वाले का ही स्वरूप है। इस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। खोज को, सब भाँति की खोज को छोड़ते ही चेतना वहाँ पहुँच जाती है जहाँ वह सदा से ही है।

इन्द्रियों की पकड़ से ऊपर उठकर, विचारशून्य चित्त की स्थिति में जिसका साक्षात्कार होता है, वही अनन्त, असीम, अनादि आत्मा है।

जीव को अपनी अज्ञानता के कारण 'आत्मा की खोज' जैसी भ्रान्ति होती है। अतः किसी भी साधन से केवल अज्ञान की निवृत्ति की ही सम्भावना है। आत्मा तो सदा उसके साथ ही है। यदि किसी साधन के माध्यम से आत्मा की प्राप्ति मानी जाय तो फिर घट-पटादि की तरह जड़परिच्छिन्न और अनात्म ही सिद्ध होगा। अतः किसी साधन का उपयोग अज्ञान की निवृत्ति के लिए है, आत्मा की खोज के लिए नहीं।

इस आत्मा को जानने की आँखें शून्य हैं। यही शून्य समाधि है, यही योग है। चित्त की वृत्तियों के विसर्जन से बन्द आँखें खुलती हैं और सारा जीवन अमृत-प्रकाश से आलोकित और रूपान्तरित हो जाता है। वहाँ फिर पूछना नहीं होता कि आत्मा है या नहीं ? वहाँ केवल जाना जाता है; वहाँ केवल दर्शन है। विचार, वृत्तियाँ और चित्त जहाँ नहीं है, वहीं है—आत्मा का दर्शन।

अप्राप्तस्य भवेत् प्राप्तिरात्मत्वान्नाप्तिरस्त्यतः ।
तन्निरोधोऽपि नाप्त्यर्थस्त्वत्र पश्य निदर्शनम् ॥ ७१ ॥
अन्धकारसमाच्छन्नं किञ्चित् तस्य निरोधतः ।
दीपाद्यैराप्यते प्राप्तमिव लोके यथा तथा ॥ ७२ ॥
यथा कश्चिद् भ्रान्तचित्तः कश्चिद्विस्मृतनिष्ककः ।
अन्यचिन्तानिरोधेन समाहिततया पुनः ॥ ७३ ॥
आसादयति तन्निष्कं नष्टं प्राप्तं यथा तथा ।
न निरोधोऽत्र हेतुः स्यान्निष्काप्तौ तु यथा तथा ॥ ७४ ॥
आत्मलाभेन हेतुः स्यान्निरोधो बाह्यवस्तुनः ।
त्वया न लक्षितः स्वात्मा तत्र व्युत्पत्तिवर्जनात् ॥ ७५ ॥
यथा प्रकाशे व्युत्पन्नो रात्रौ राजसभां गतः ।
पश्यन् सभ्यांश्च दीपांश्च न जानाति प्रकाशकम् ॥ ७६ ॥
शृणु प्रिय निरोधान्ते ह्यन्धकारो विलोकितः ।
अन्धकारावलोकादौ शेषभावस्तव स्थितः ॥ ७७ ॥

आत्मा के साथ खोने या पाने की बात नहीं हो सकती। यदि वह खोयी है तो वह आत्मा नहीं हो सकती और यदि वह है तो कहाँ पायी जा सकती है ? अतः आत्मा कहीं भी पायी नहीं जा सकती है, उसका पाना सम्भव नहीं है ॥ ७० ॥

खोई वस्तु ही पायी जाती है। आत्मा खोती नहीं, इसलिए पायी नहीं जाती। मन की रोक भी इसे पाने का कारण नहीं बन सकती। एक उदाहरण लें ॥ ७१ ॥

जैसे अँधियारे घर में रखी वस्तु नहीं दीखती, दीपक जलते ही वह चीज दीखने लगती है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ७२ ॥

जैसे कोई भुलक्कड़ आदमी कहीं सोना रखकर भूल जाय और फिर बाहरी बातों पर गौर करना छोड़कर मन को उसी पर केन्द्रित कर सोचते ही वह मिल जाय तो वह सोना खोकर पाया हुआ माना जाता है। ठीक उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। जैसे गैर-गौरतलब बातों का खयाल छोड़ना सोना पाने की वजह नहीं है। उसी तरह आत्मा पाने में भी मन की रोक कारण नहीं है। आप आत्मा के रूप को नहीं जानते हैं; इसीलिए आप उसे महसूस नहीं कर पाते हैं ॥ ७३–७५ ॥

रोशनी से अनजान अगर कोई आदमी रात में किसी दरबार में हाजिर हो तो वहाँ वह दरबारियों और चिरागों को देखते हुए भी रोशनी करनेवाले को नहीं जान पाता ॥ ७६ ॥

प्रियतम ! सुनिए, आपने अन्तःकरण की अनुसंधानात्मक वृत्ति को रोकने के बाद अन्धकार देखा। किन्तु उस अन्धकार को देखने से पहले निर्विकल्पावस्था में सारे विषयों के अभाव में शेष रूप से तो आप ही रह गये थे ॥ ७७ ॥

विशेष—हमारा चित्त साधारणतः विषयों, विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म

तं भावं भावय सदा परमानन्ददायकम् ।
अत्र सर्वे महामोहग्रहग्रस्ताः पराग्दृशः ॥ ७८ ॥
अन्विष्यान्विष्य विहता न तां प्रापुश्च भावनाम् ।
सन्ति लोके शास्त्रविदः कुशलाश्च सुतार्किकाः ॥ ७९ ॥
अविदित्वा भावममुं शोचन्त्येव दिवानिशम् ।
शब्दार्थशिल्पमात्रेण न हि तत् पदमाप्यते ॥ ८० ॥
यावदन्वेषणं कुर्याद्विचारं वाऽपि पण्डितः ।
तावन्न प्राप्यते तद्वै यतो न ग्राह्यमेव तत् ॥ ८१ ॥
गत्वा दूरं न तत् प्राप्यं स्थित्वा प्राप्तं हि सर्वदा ।
न तद्विचार्य विज्ञेयमविचाराद्विभासते ॥ ८२ ॥

विचारों से आच्छन्न रहता है। इन अशान्त लहरों की क्रमशः एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दीवार हमें स्वयं के बाहर रखती है।

चित्त-विषयों के प्रति अनासक्ति उसके संस्कार बनने बन्द हो जाते हैं। चित्त-वृत्तियों के प्रति जागरूकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारंभ होता है और चित्तसाक्षी की स्मृति से स्वयं का द्वार खुल जाता है।

जो वस्तु जहाँ उद्गम पाती है, उससे ही अन्ततः लीन भी होती है। उद्गम-बिन्दु ही लयबिन्दु भी होता है और जो उद्गम है, जो लय है, वही स्व-स्वरूप भी है।

फलतः चित्तवृत्ति के निरोध काल में विषयों का सर्वथा अभाव हो जाने पर जो ज्ञानमात्र शेष रह जाता है, वही आत्मा का शेष भाव है। उसका किसी प्रकार निरोध नहीं हो सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रकाश है। ऐसी ही स्थिति में रन्ध्र-रन्ध्र उसकी अनुभूति से भर जाता है। चित्तवृत्तियों के विसर्जन से ही आत्मसाक्षात्कार संभव है।

उस अशेष सुख देनेवाला शेषभाव अर्थात् परम तत्त्व पर हमेशा गौर फरमाइए। सभी बहिर्मुख लोग यहाँ आकर ही महामोह में फँस जाते हैं। वे खोज-खोज कर थक जाते हैं, फिर भी इस भाव तक पहुँच नहीं पाते हैं ॥ ७८½ ॥

संसार में ऐसे अनेक शास्त्रवेत्ता एवं कुशल तार्किक हैं, जो इस प्रज्ञातत्त्व की सही जानकारी न मिलने के कारण दिन-रात शोकाकुल रहते हैं। केवल शब्दार्थ-ज्ञान से उस परम पद को जाना नहीं जा सकता ॥ ७९–८० ॥

कोई ज्ञानी व्यक्ति जब तक आत्मा की खोज या उसके विचार में लगा रहता है, तब तक उसे आत्मा नहीं मिलती। क्योंकि वह जानने लायक तो है ही नहीं ॥ ८१ ॥

विशेष—आत्मा को खोजने से पूर्व अपने-आपको जानना अनिवार्य है। अपने-आपको जानते ही जाना जाता है कि अब कुछ और जानने को शेष नहीं है। जो जाना जा सकता है, वह 'स्व' कैसे होगा? वह तो 'पर' ही हो सकता है। स्व तो वह है जो जानता है। वह तो ज्ञाता है, उसे ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता है।

धावन् स्वमूर्द्धच्छायेव न प्राप्यं क्रियया क्वचित् ।
यथा हि निर्मलादर्शे प्रतिबिम्बसहस्रकम् ॥ ८३ ॥
पश्यन् बालोऽपि नाऽऽदर्शं पश्यत्येवं जनः खलु ।
पश्यन् स्वात्ममहादर्शे प्रतिबिम्बं हि जागतम् ॥ ८४ ॥
स्वात्मानं न विजानाति तद्व्युत्पत्तिविवर्ज्जनात् ।
यथाऽपरिचिताकाशः पश्यन्नाकाशसंश्रितम् ॥ ८५ ॥
जगन्नावैति चाकाशं तथा स्वात्मस्वरूपकम् ।
नाथ सूक्ष्मदृशा पश्य ज्ञानज्ञेयात्मकं जगत् ॥ ८६ ॥
तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं तदभावे न किञ्चन ।
प्रमाणानां प्रमाणं तदप्रमाणं स्वतो भवेत् ॥ ८७ ॥
यतः प्रमाणानपेक्षमादिसिद्धमतस्तु तत् ।
सिद्धसाधकभावेन न तत्सिद्धिः कदाचन ॥ ८८ ॥

दूर तक चलकर उसे पाया नहीं जा सकता, वह तो हमेशा स्थिर रहने से ही मिलता है। विचार करने से उसकी अनुभूति नहीं होती, वह तो विचारशून्य स्थिति में ही जानी जाती है। जैसे अपने शिर की छाया दौड़कर पकड़ी नहीं जा सकती, उसी तरह किसी क्रिया से इसकी पकड़ संभव नहीं है ॥ ८२½ ॥

जैसे एक छोटा बच्चा साफ आइने में हजारों परछाईं देख लेता है, पर आईने को नहीं देख पाता; उसी तरह ये सामान्यजन आत्मारूपी आईने में संसार की परछाईं देखते हुए भी जानकारी नहीं रहने के कारण अपनी आत्मा को ही नहीं देख पाते हैं ॥ ८३–८४½ ॥

आसमान से अनजान आदमी आसमान में मौजूद सारी दुनिया को देखते हुए भी आकाश को नहीं जान पाता, उसी तरह जीव अपने ही स्वरूप को जान नहीं पाता ॥ ८५½ ॥

स्वामी ! आप जरा इस ज्ञान और ज्ञेय स्वरूप संसार को गहरी निगाह से परखिए। इसमें जो ज्ञान है वह तो अपने-आप में सिद्ध ही है। अगर वह न हो तो कुछ भी नहीं रह सकता ॥ ८६½ ॥

वह समस्त प्रमाणों का प्रमाण है, किन्तु खुद किसी प्रमाण का विषय नहीं है। क्योंकि अपनी सिद्धि के लिए उसे किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। अतः वह सबसे पहले सिद्ध है। वह किसी भी सिद्धि का साधक है। इस तरह भी उसकी कभी सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ८७–८८ ॥

विशेष––क्योंकि उससे भिन्न किसी की सत्ता नहीं रहने के कारण उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। वह न तो किसी का कर्त्ता है और न करण ही, जो किसी की सिद्धि का साधन या साधक बने।

तत्र विप्रतिपन्नस्य न प्रश्नो नापि चोत्तरम् ।
अनपह्नवनीयं तन्महादर्शतलं भवेत् ॥ ८९ ॥
तत्र सर्वं भासते वै दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
देशेन वापि कालेन परिच्छित्तिर्न विद्यते ॥ ९० ॥
तदन्तर्भासमानत्वात् कथं ताभ्यां परिच्छिदिः ।
परिच्छेदस्य भानन्तु गगने वस्तुभिर्यथा ॥ ९१ ॥
राजपुत्र सूक्ष्मदृशा तल्लक्षय निजं वपुः ।
यत्र सामान्यचैतन्ये जगदेतद्विराजते ॥ ९२ ॥
तत्समावेशसंसिद्धया सर्वकर्तृत्वमाप्नुयात् ।
तस्योपलब्धिं वक्ष्यामि यतः प्राप्नोति तत् पदम् ॥ ९३ ॥
निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदान्तरे तथा ।
मध्ये संविद्द्वयोश्च सूक्ष्मबुद्धयाऽभिलक्षय ॥ ९४ ॥
एतत् पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यसि ।
एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम् ॥ ९५ ॥
नात्र रूपं रसो वापि न गन्धस्पर्शशब्दकम् ।
न दुःखं न सुखं वा तु न ग्राह्यं ग्राहकञ्च न ॥ ९६ ॥

जिसे उस ज्ञान के होने में सन्देह है, उसका न कोई सवाल हो सकता है और न जवाब ही। एक महान् आईने की तरह उसका किसी तरह निषेध भी नहीं किया जा सकता ॥ ८९ ॥

आईने में परछाईं की तरह उसी में सब कुछ दिखलाई पड़ता है। किसी भी स्थान और समय से उसे अलग नहीं किया जा सकता है ॥ ९० ॥

क्योंकि ये जगह और समय भी तो उसी में दीख रहे हैं, फिर इससे उनका अलगाव कैसे संभव हो सकता है? इससे उनका अलगाव तो उसी तरह का है जैसे घटादि में आकाश के अलगाव का बोध होता हो ॥ ९१ ॥

राजकुमार! गहरी निगाह से आप जरा अपने उस रूप पर तो गौर करे। बिलकुल उस सामान्य चैतन्य ज्ञान पर ही सारी दुनिया टिकी है ॥ ९२ ॥

उस परम तत्त्व के साथ अभेद की अनुभूति पक्की हो जाने पर जीव परमात्मा के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेता है। मैं आपको उसे पाने की जगह बतलाती हूँ, ताकि आपको उस परम पद की प्राप्ति हो सके ॥ ९३ ॥

नींद और जागरण के बीच की अवस्था में, मन के एक विचार को छोड़कर दूसरे विचार पर जाने के बीच की स्थिति में और दो तरह के अनुचिन्तनों के बीच में आप सूक्ष्म बुद्धि से उस परमतत्त्व की अनुभूति पाने की चेष्टा करें ॥ ९४ ॥

यह स्थिति ही अपना असली रूप है, जिसे पा लेने पर जीव मोह में नहीं पड़ता। इसकी जानकारी के अभाव में ही विश्व के प्रपंच का प्रसार है ॥ ९५ ॥

सर्वाश्रयं सर्वरूपमपि सर्वविवर्जितम् ।
एष सर्वेश्वरो धाता विष्णुरीशः सदाशिवः ॥ ९७ ॥
पश्येषदन्तः संरुध्य स्वात्मानं स्वात्मना सता ।
त्यक्त्वा बहिः प्रसरतामन्तः प्रसरणोद्यतः ॥ ९८ ॥
त्यक्त्वा पश्यामीति भावमन्धवन्निश्चलात्मना ।
दर्शनादर्शने त्यक्त्वा योऽसि सोऽसि द्रुतं भज ॥ ९९ ॥
इत्युक्तः प्रियया हेमचूड आलक्ष्य तत् पदम् ।
चिरं विश्रान्तिमालभ्य बहिर्विस्मरणं ययौ ॥ १०० ॥

इति श्रीज्ञानखण्डे हेमचूडविश्रान्तिर्नवमोऽध्यायः ।

आत्मा के इस स्वरूप में न कोई रूप है, न रस; न कुछ गंध है और न स्पर्श; यह न कोई शब्द है, न सुख है और न दुःख; यह न तो ग्राह्य है और न ग्राहक ही ॥ ९६ ॥

यह सबका आधार और सब रूप में होने पर भी सबसे अलग है। यही सब का मालिक है, यही ब्रह्मा है और यही विष्णु तथा सदाशिव है ॥ ९७ ॥

अपनी मनःस्थिति को थोड़ा रोककर अपनी पवित्र आत्मा से ही अपनी आत्मा को तो देखें। चित्त के बाहरी फैलाव को रोककर उसे भीतर की ओर मोड़ने का प्रयास तो कीजिए ॥ ९८ ॥

'मैं देखता हूँ' इस विचार को छोड़कर बिलकुल अन्धे की तरह अचल चित्त होकर देखने और नहीं देखने के चिन्तन को भी छोड़कर आप जो कुछ हैं, शीघ्र उसी रूप में स्थिर हो जाँय ॥ ९९ ॥

विशेष—निर्विचार परम चैतन्य का साक्षात् ही आत्मा है। वही साधना सार्थक है जो निर्विचारणा की ओर है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तावस्था के विकल्पों को छोड़कर इन तीनों का साथी और इन तीनों से विलक्षण तथा तीनों में अनुगत जो सामान्य चैतन्य रूप तुरीय है, यही आप हैं। अतः उसी असली आत्मस्वरूप में आप स्थिर हो जाइए।

प्रिय पत्नी के इस तरह समझाने पर हेमचूड़ ने उस आत्मा के स्वरूप का स्पष्ट अनुभव किया। इन्द्रियग्राह्य बाहरी विषयों को वह बिलकुल भूलकर बहुत दिनों तक निर्विकल्प समाधि में लीन हो गया ॥ १०० ॥

नवम अध्याय समाप्त।

दशमोऽध्यायः

अथाऽपश्यद्धेमलेखा प्रियं प्राप्तपरस्थितिम् ।
न चालयत्परपदात् ततः सोऽपि मुहूर्ततः ॥ १ ॥
प्रबुद्ध उन्मील्य नेत्रे सोऽपश्यत्सप्रियं जगत् ।
भूयस्तत्पदविश्रान्तिमीहमानोऽतिवेगतः ॥ २ ॥
नेत्रे निमीलयद् यावदब्रवीत् तावदेव सा ।
प्रियं हस्ते समादाय सुधासुन्दरभाषिणी ॥ ३ ॥
नाथ किं ते व्यवसितं ब्रूहि नेत्रनिमीलनात् ।
उन्मीलनाद्वा किं स्यात्ते लाभालाभौ समीरय ॥ ४ ॥
उन्मील्य न प्राप्यते किं निमील्य प्राप्यते च किम् ।
तन्मे ब्रूहि प्रियतम श्रोतुमिच्छामि ते स्थितिम् ॥ ५ ॥
एवं पृष्टस्तया प्राह मदमत्त इवालसः ।
अनिच्छन्नपि वक्तुं तामालस्यभरमन्थरः ॥ ६ ॥
प्रिये विश्रान्तिमत्यन्तं प्राप्तवानस्मि वै चिरात् ।
न बाह्ये दुःखभूयिष्ठे विश्रमोऽस्ति क्वचिन्मम ॥ ७ ॥

(सभी तत्त्वज्ञ हो गये)

इसके बाद हेमलेखा ने देखा कि उसके पति को जब आत्मपद की स्थिति मिल गयी तब उसने भी उसे कुछ देर तक उस पद से विचलित नहीं किया ॥ १ ॥

फिर उसने बड़ी होशियारी से अपनी आँखें खोलकर पत्नी के साथ सारी दुनिया को देखा । किन्तु ज्यों ही वह फिर आँखें बन्द कर उसी परम पद में चैन पाने की चेष्टा करने लगा तब जल्द ही हेममाला ने उसका हाथ थामकर अमृत-घुली मीठी आवाज में कहा—॥ २–३ ॥

स्वामी ! बतलाइए, अब आपका विचार क्या हैं ? कहिए न, इस तरह आँखें मूँदने या खोलने से आपको क्या नफा या नुकसान होता है ? ॥ ४ ॥

प्रिय ! मैं आपके बारे में जानना चाहती हूँ । आँखें बन्द कर लेने पर आपको क्या सुख मिलता है और खुली रखने पर क्या नहीं मिलता है ? यह मुझे बतला दें ॥ ५ ॥

अलसाये मन के कारण उस समय वह कुछ सुस्त हो रहा था । पत्नी के सवाल का जवाब उस समय नहीं देना चाहते हुए भी एक मतवाले की तरह उसने कहा ॥६॥

प्रिये ! मुझे आज बहुत दिनों के बाद बड़ी शान्ति मिली है । अब मुझे दुःखभरी इस दुनिया के बाहरी जंजाल में कहीं सुख-चैन नहीं मिलता ॥ ७ ॥

अलं ऋजीषरोमन्थप्रायव्यवहृतैर्बहिः ।
दौर्भाग्यान्धो नाद्य यावदविदं स्वात्मसत्सुखम् ॥ ८ ॥
यथा कश्चिदटन्भिक्षां निधानं स्वं न वेद वै ।
तथाहं स्वसुखाम्भोधिमविदित्वा पुनः पुनः ॥ ९ ॥
सुखं वैषयिकं श्रेष्ठं दुःखसङ्घाभिसम्प्लुतम् ।
विद्युद्विलयनं मत्वा स्थिरं तत्परतावशात् ॥ १० ॥
दुःखैरभिहतो नूनं विश्रान्ति न तु लब्धवान् ।
अहो जना दुःखसुखविवेकज्ञानवर्जिताः ॥ ११ ॥
सुखार्थिनो दुःखसङ्घं सञ्चिन्वन्ति मुधा सदा ।
तदलं दुःखभोगेन स्वयत्नासादितेन वै ॥ १२ ॥
प्रिये कृपां मयि कुरु प्रार्थयामि कृताञ्जलिः ।
विश्रान्तिमभिवाञ्छामि चिरं स्वस्मिन्सुखात्मनि ॥ १३ ॥
अहो दैवहता भासि ज्ञात्वापि त्वमिदं पदम् ।
तद्विश्रान्ति परित्यज्य मुधा दुःखाय चेष्टसे ॥ १४ ॥
इत्युक्ता सा प्रियं प्राह स्मयित्वेषन्मनीषिणी ।
नाथ ते तन्न विदितं पदं परमपावनम् ॥ १५ ॥

दुनिया का यह बाहरी जंजाल गन्ने की छूंछी चूसने को तरह रसहीन है । इसकी अब मुझे कोई जरूरत नहीं है । अपनी बद-किस्मत की वजह से मैं तो अंधा हो गया था, इसी से आज तक आत्मस्थिति के इस सच्चे सुख की अनुभूति से वंचित रहा ॥ ८ ॥

अपने घर में रखे खजाने से अनजान कोई आदमी भीख माँगता हो, उसी तरह मैं अपने आत्मानन्दसागर को बिना जाने बार-बार आकाश में छिटकने वाली बिजली की तरह क्षणिक, दुनियावी दुःखद्वन्द्व से वासना-सुख को ही बहुत अच्छा और मजबूत समझता रहा और उसी के पीछे दिन-रात लगा रहने के कारण असली सुख या चैन नसीब न हो सका ॥ ९–१०½ ॥

ताज्जुब की बात है, बहुत सारे लोग भली-बुरी वस्तु का सही ज्ञान न होने की वजह से सुख पाने की चाह रहने के बावजूद बेकार ही बहुन सारी दुःखद वस्तुओं को ही इकट्ठा करते रहते हैं । अतः अपने ही प्रयास से प्राप्त दुःखभोगों की अब मुझे कोई जरूरत नहीं रह गयी है ॥ ११–१२ ॥

प्रिये ! मैं हाथ जोड़कर तुमसे विनती करता हूँ । मुझ पर तुम दया करो । अब तो मैं आत्मा के आनन्दसागर में ही दिन-रात गोता लगाये चैन से रहना चाहता हूँ ॥ १३ ॥

अरी ! तुम तो मुझे बड़ी बदकिस्मत जान पड़ती हो, क्योंकि तुम इस आत्मानन्द को जानकर भी इसके सुख को छोड़कर बेकार ही दुःख भोगने के लिए तुम दुनियादारी में लगी रहती हो ॥ १४ ॥

यत्र स्थिता न मुह्यन्ति पण्डिताः पावनाशयाः ।
तत्पदं दूरतस्तेऽस्ति भूस्थस्येव नभस्तलम् ॥ १६ ॥
त्वया किञ्चित्सुविदितं भवेदविदितोपमम् ।
निमील्योन्मील्य वा नेत्रे तत्पदं न समीक्ष्यते ॥ १७ ॥
अकृत्वा वापि कृत्वा वा न तल्लभ्येत कर्हिचित् ।
अगत्वा चापि वा गत्वा न तदासादयेत्पदम् ॥ १८ ॥
निमील्य कृत्वा गत्वा वा प्राप्तं पूर्णं कथं भवेत् ।
यवाष्टकमितेनैव पक्ष्मणोन्मीलितेन तु ॥ १९ ॥
अन्तर्हितं यदि तदा ननु पूर्णं भवेत्पदम् ।
अहो ते मोहमाहात्म्यमाश्चर्यं किमहं ब्रुवे ॥ २० ॥
यस्मिन् ब्रह्माण्डकोटीनां कोटयः कोणसंस्थिताः ।
पक्ष्मणोऽङ्गुलिमानस्योन्मीलनात् तत्तिरोहितम् ॥ २१ ॥
शृणु राजकुमारैतत्तत्त्वसारं वदामि यत् ।
यावद् ग्रन्थिविभेदो न न तावत्सुखमृच्छति ॥ २२ ॥
ग्रन्थयः कोटिशः सन्ति मोहरज्जुविवर्त्तिताः ।
तत्र स्वरूपासंवित्तिर्मोहरज्जुरुदीरिता ॥ २३ ॥

पति के ऐसा कहने पर भले-बुरे की सही पहचान रखने वाली उस बाला ने मुस्कराते हुए कहा—मेरे जीवन ! अभी आपको उस पवित्र पद के बारे में पता ही क्या चला है ? ॥ १५ ॥

पवित्रहृदय पण्डित जन जहाँ पहुँचकर पुनः मोहग्रस्त नहीं होते, वह पद तो आपके लिए अभी उतना ही दूर है जितना धरती पर के लोगों के लिए आकाश ॥१६॥

आपने जिसे ठीक समझा है, वह तो नहीं समझने के बराबर है । वह पद तो आँखों को खोलने या मूँदने से नहीं दीखता ॥ १७ ॥

कुछ करने या न करने से भी वह पद कभी नहीं मिलता अथवा कहीं जाने या न जाने से भी उस पद की प्राप्ति नहीं होती है ॥ १८ ॥

जो चीज आँखें मूँदने से, कुछ करने से या कहीं जाने से ही मिलती है उसे भला पूरा या भरपूर कैसे कहा जा सकता है ? आठ जौ की छोटी पलक खुलते यदि कोई वस्तु गायब हो जाय तब तो वह अच्छा 'पूर्णपद' हुआ ? ताज्जुब की बात तो यह है कि आपके मोह की महिमा भी विलक्षण है। इस विस्मय के बारे में मैं क्या बोलूँ ? ॥ १९–२० ॥

जिसके कोने में करोड़ों ब्रह्माण्ड छिपे हैं, वह परम पद मात्र एक छोटी पलक के खुलते ही हो जाता है ? ॥ २१ ॥

सुनिए राजकुमार ! असलियत क्या है ? मैं आपको बतलाती हूँ । जब तक दिल की गाँठ नहीं खुलती तब तक आतमा का आनन्द नसीब नहीं होता ॥ २२ ॥

यत्र ता ग्रन्थयः सन्ति विपरीतग्रहात्मकाः ।
तत्राद्या देहमुख्येषु भवेदात्मत्वनिश्चयः ॥ २४ ॥
यद्वशादेष संसार आततो दुष्प्रतिक्रियः ।
तथा जगत्यनात्मत्वबुद्धिर्भानसमाश्रये ॥ २५ ॥
एवं जीवेशभेदादिनिश्चया ग्रन्थयो मताः ।
एतच्चिरात्समुद्भूतं भूयः संवर्त्तितं च वै ॥ २६ ॥
ग्रन्थिरूपसमापन्नं पुरुषः पाशितस्ततः ।
तद्ग्रन्थिविस्रंसनतो बन्धान्मुक्तिः समीरिता ॥ २७ ॥
यत्त्वं निमील्य नेत्रे स्वे पदमासादयस्यलम् ।
तत्पदं निजरूपं ते शुद्धसंविदनुत्तरम् ॥ २८ ॥
तदेवाखिलसंसारचित्रादर्शतलं महत् ।
कदा क्व केन रूपेण नास्ति तन्मे निरूपय ॥ २९ ॥
यदा यद्रूपतो यस्मिन्नेति ब्रूयाः स्वसंविदम् ।
तर्हि तत्कालदेशादेर्वन्ध्यापुत्रत्वमेव हि ॥ ३० ॥

धोखे के इस धागे में करोड़ों गाँठें पड़ी हैं और अपनी आत्मा की सही पहचान न होने देने का कारण यही मोह की डोरी है ॥ २३ ॥

इसमें जो उलटी पकड़ वाली गाँठें हैं उनमें सबसे पहली है—देह को ही आत्मा समझने की भूल ॥ २४ ॥

जिसके कारण इस दुनिया का इतना बड़ा फैलाव है, जिससे छुटकारा पाना बड़ी मुश्किल है और यह तो आईने में परछाई की तरह केवल आभास के सहारे टिके इस दुनिया में अनात्मबुद्धि अर्थात् जड़त्व का बोध होना है ॥ २५ ॥

इसी तरह जीव और ईश्वर में भेदबुद्धि प्रभृति अनेक गाँठें मानी गयी हैं। अपने असली रूप की पहचान के बारे में यह नासमझी शुरू में ही पैदा हुई और बार-बार उलझकर गाँठें बन गयीं। इसी में आदमी बँधा है। इस गाँठ के कटने पर ही जीव की बन्धन से मुक्ति कही गयी है ॥ २६–२७ ॥

अपनी आँखों को मूँदकर आपने जो भी कुछ पाया है, वह तो आपका ही अपना रूप है। आपने आत्मा के समस्त निरोधी पदार्थों का वर्जन किया और उसके बाद जो कुछ शेष बचा वह खालिस चेतना ही तो है ॥ २८ ॥

यही चेतना सारी दुनिया की तसवीर को प्रतिबिम्बित करनेवाली विशाल आईना है। मुझे केवल आप इतना ही बतला दें, वह कब, कहाँ और किस रूप में नहीं है ? ॥ २९ ॥

आप जहाँ, जिस रूप में और जिस जगह अपनी इस चेतना की कमी बतलायेंगे वह जगह और समय तो अनहोनी बात की तरह झूठ ही सिद्ध होगी ॥ ३० ॥

प्रतिबिम्बो निरादर्शो यथा नाथ तथैव तत् ।
तस्मात् तत्पदसन्त्यागान्नास्ति कुत्रापि किञ्चन ।। ३१ ।।
तत्ते नेत्रोन्मीलनेन किमन्तरिततामियात् ।
यावदेवं विजानामीत्येवं ग्रन्थिर्दृढा भवेत् ।। ३२ ।।
तावन्न तत्पदं प्राप्तं यत्प्राप्तं स्यान्न तद्भवेत् ।
निमील्योन्मील्य वा नेत्रे यत्प्राप्तं मन्यसे पदम् ।। ३३ ।।
तन्न पूर्णपदं यस्मात् परिच्छेदात् क्रियादितः ।
कुत्र नाथ महासंविन्नास्ति कालानलप्रभा ।। ३४ ।।
स्वात्मीकरोति यानल्पकल्पनेन्धनसञ्चयम् ।
न ते कर्त्तव्यसंशेषो विज्ञाय परमं पदम् ।। ३५ ।।
त्यज ग्रन्थिं सन्निरुध्य पश्यामीति हृदि स्थिताम् ।
इदं नाहमिति ग्रन्थिमुन्मूलय परां दृढाम् ।। ३६ ।।

ओ मेरे मालिक ! जैसे आईने के बिना परछाई नहीं बन सकती, उसी तरह अपनी चेतना के बिना ये सब-के-सब झूठ हैं । अतः आत्मा के न रहने पर कहीं भी कुछ नहीं रहता । ऐसी स्थिति में आँखें खोलने या मूँदने से क्या अन्तर हो सकता है ।। ३१½ ।।

जब तक ये गाँठें मजबूत बनी है; जब तक आप यह सोचते रहेंगे कि इस प्रयास से मैंने अपनी आत्मा को पा लिया है तब तक वह नहीं मिल सकती है । क्योंकि जो किसी प्रयास से मिलती है, वह आत्मा नहीं हो सकती ।। ३२½ ।।

आँखें खोलने या मूँदने पे जिसे आप पाना समझते हैं वह पूर्ण पद नहीं हो सकता। क्योंकि उसका तो क्रिया-विशेष से विभाजन हो जाता है ।। ३३½ ।।

सब कुछ निगल जानेवाली कालरूपी आग की तरह यह विशाल चेतना भला कहाँ नहीं है नाथ, जो इस तुच्छ जलावन की ढेर को अपने में लीन कर लेती है ।। ३४½ ।।

विशेष--स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही महासंविद् है, पूर्ण या शुद्ध चेतना है । इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है और न ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है । उसका स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा या चेतना है । ज्ञान का यह स्वयं पर लौट आना मनुष्य-चेतना की सबसे बड़ी क्रान्ति है । इस क्रान्ति से ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके समक्ष उद्घाटन होता है । अर्थात् जब यह चेतना उदित होती है तो सारी दुनिया उसी की तरह प्रतीत होने लगती है । इससे अलग न कोई देश रहता है और न कोई काल; सब कुछ तन्मय हो जाता है ।

उस आत्मा को जान लेने के बाद अब आपको कुछ भी करने को बचा नहीं है । 'मैं अपनी चित्तवृत्ति को रोक कर हृदय में मौजूद उस आत्मतत्त्व से मुलाकात

पश्य सर्वत्र चात्मानमखण्डानन्दबृंहितम् ।
पश्यात्मन्यखिलं लोकं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ३७ ॥
सर्वत्राखिलमात्मानमिति भूयो न भावयन् ।
शेषमभ्युपगम्यान्तःस्वस्थो भव निजात्मना ॥ ३८ ॥
इति प्रियोदितं श्रुत्वा हेमचूडः सिताशयः ।
विदित्वा पूर्णमात्मानं सर्वत्र भ्रान्तिवर्जितः ॥ ३९ ॥
क्रमात् पूर्णसमावेशासादनात् स्थिरभावनः ।
विहरन् सर्वदा हेमलेखादियुवतीगणैः ॥ ४० ॥
शासन् राज्यं समृद्धं स्वं जित्वा शत्रुगणं रणे ।
शास्त्राणि श्रावयन् शृण्वन्नर्जयन् धनसञ्चयम् ॥ ४१ ॥
अश्वमेधराजसूयाद्यैर्यजन् क्रतुमुख्यकैः ।
वर्षाणामयुते द्वे वै जीवन्मुक्तो भुवि स्थितः ॥ ४२ ॥
जीवन्मुक्तदशासंस्थं निशाम्य तनयं नृपः ।
मुक्ताचूडश्च तद्भ्राता मणिचूडोऽप्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥
किमयं पूर्ववन्नेह लक्ष्यते सर्वथा किल ।
सुखे न हृष्यत्यत्यन्तं दुःखे नोद्विजते तथा ॥ ४४ ॥

कर रहा हूँ'—इस गाँठ को खोल दीजिए। 'मैं यह नहीं हूँ'—यह गाँठ भी बड़ी मजबूत है, इसे भी काट डालिए ॥ ३५–३६ ॥

हर जगह उस आनन्दमय अखण्ड आत्मा को ही देखिए। दुनिया के सारे जंजालों को आईने में प्रतीत होनेवाली परछाई की तरह अपनी आत्मा में चमकते देखिए ॥३७॥

हर जगह केवल आत्मा ही है—ऐसा खयाल भी मत कीजिए। इस तरह सारे विचारों को छोड़कर जो शेष रह जाय, उसे ही अपना असली रूप मानकर उसमें स्थिर हो जाइए ॥ ३८ ॥

अपनी पत्नी का भाषण सुनकर हेमचूड़ का मन बिलकुल पवित्र हो गया। आत्मा को सब जगह पूरा समझ कर उसके मन की सारी भूल दूर हो गई ॥ ३९ ॥

उस परवरदिगार के असली रूप में धीरे-धीरे उसके मन की स्थिति स्थिर हो गई। अब वह हमेशा हेमलेखा प्रभृति युवतियों के साथ रतिक्रीड़ा करते हुए, दुश्मनों को लड़ाई के मैदान में पराजित करते हुए, प्रभुत्वसम्पन्न राज्य का शासन करते हुए, शास्त्र सुनते-सुनाते हुए, संचित धन से अश्वमेध, राजसूय जैसे बड़े-बड़े यज्ञ करते हुए, बीस हजार साल तक जीवन्मुक्त अवस्था में इस धरती पर रहा ॥ ४०–४२ ॥

अपने बेटे को जीवित दशा में ही आत्मज्ञान द्वारा सांसारिक माया-बन्धन से छूटे, वीतराग देखकर राजा मुक्ताचूड़ ने और उसके छोटे भाई मणिचूड़ ने भी विचार किया ॥ ४३ ॥

लाभालाभौ शत्रुमित्रे साम्यात्पश्यति वै कुतः ।
करोति राजकार्याणि नटवद्रङ्गमण्डले ॥ ४५ ॥
कापिशायनपायीव सदा मत्तोऽभिलक्ष्यते ।
सदान्यत्र गतस्वान्त इव कृत्यङ्करोत्यलम् ॥ ४६ ॥
तत्केन हेतुना चेति तमासाद्य रहः क्वचित् ।
अपृच्छतां हेमचूडं कुत एवं भवानिति ॥ ४७ ॥
ततः स्वस्थितिमाचख्यौ हेमचूडस्तयोः क्रमात् ।
तावुभौ भ्रातृपितरौ हेमचूडेन बोधितौ ॥ ४८ ॥
आसादितपरतत्त्वौ जीवन्मुक्तौ बभूवतुः ।
अथ मन्त्रिगणोऽप्येवं राज्ञः श्रुत्वा जगद्गतिम् ॥ ४९ ॥
विचार्य स्वात्मनो भावं ज्ञातज्ञेयोऽभवत्तदा ।
एवं विशालनगरे क्रमेणैव परस्परम् ॥ ५० ॥
उपदेशाद्विदुः सर्वे तत्त्वमाबालगोपकाः ।
नरा नार्यो बालवृद्धा दासा दासीगणा अपि ॥ ५१ ॥
ज्ञातज्ञेयास्त्यक्तदेहाहम्भावा अभवन् खलु ।
न तत्र कस्यचित्कामः क्रोधो वा लोभ एव वा ॥ ५२ ॥

अब यह हेमचूड़ पहले की तरह बिलकुल दिखायी नहीं देता, इसकी वजह क्या है ? यह न तो सुख में ज्यादे खुश होता है और न दुःख में उदास ही होता है ॥४४॥

अब यह नफा-नुकसान और दोस्त-दुश्मन को बिलकुल बराबर की नजर से क्यों देखने लगा है ? आजकल राज्य का सारा काम यह रंगभूमि में नाटक के पात्र की तरह निभा रहा है ॥ ४५ ॥

यह एक शराबी की तरह हमेशा अपने-आप में मस्त दीखता है । यह अपने समस्त दायित्व का सही ढंग से निर्वाह करता है, पर लगता है जैसे इसका मन इससे भिन्न कहीं और टिका है ॥ ४६ ॥

इसकी वजह क्या है ? यह सोचकर एक दिन एकान्त में उसने हेमचूड़ से पूछा— ऐसी हालत तुम्हारी कैसे हुई ? ॥ ४७ ॥

हेमचूड़ ने उन दोनों को सिलसिलेवार ढंग से अपनी सारी स्थिति के बारे में तब समझा दी । हेमचूड़ के बोध कराने पर उसके पिता और चाचा दोनों ही उस परम तत्त्व को पाकर वीतरागी बन गये ॥ ४८½ ॥

इस तरह फिर मंत्रियों ने भी राजा से दुनिया के असली रहस्य को समझ लिया । उन्होंने भी आत्मतत्त्व पर विचार किया । फिर इस सम्बन्ध में जो कुछ जानने लायक बातें थीं, उन्हें जान लिया ॥ ४९½ ॥

इस तरह उस मशहूर शहर में बच्चे से लेकर ग्वाले तक क्रमशः सब एक-दूसरे से सीख लेकर आत्मतत्त्व को समझ गये ॥ ५०½ ॥

अनाहूतोऽस्ति बालस्य स्थविरस्यापि वा क्वचित् ।
आहूतक्रोधकामाद्यैर्व्यवहारपरायणाः ॥ ५३ ॥
बालं माता खेलयति परतत्त्वस्य वार्तया ।
दासा दास्यः स्वामिनं स्वं सदा परिचरन्ति वै ॥ ५४ ॥
परतत्त्वपरैर्वाक्यैर्व्याहरन्तः परस्परम् ।
नटा नाट्यं वितन्वन्ति पात्रैस्तत्त्वप्रसङ्गजैः ॥ ५५ ॥
विवेकवार्तापरमं वचो गायन्ति गायकाः ।
विदूषका दूषयन्ति लोकव्यवहृतिं सदा ॥ ५६ ॥
शास्त्राणि पाठयन्ति स्म विद्वांसः पाठकान् जनान् ।
परतत्त्वविचारार्हैरुदाहरणमण्डलैः ॥ ५७ ॥
एवं तत्र नरा नार्यो दासा दास्यो नटा विटाः ।
भृत्या भटा मन्त्रिणश्च शिल्पिनो वारयोषितः ॥ ५८ ॥
सर्वे वेदितवेद्यास्ते विशालनगरेऽभवन् ।
प्राक्संस्कारबलेनैव व्यवहारपरायणाः ॥ ५९ ॥
न संस्मरति संवृत्तं शुभं वाप्यशुभं तथा ।

औरत-मर्द, बच्चे-बूढ़े, नौकर-नौकरानी भी जानने लायक बातों को जानकर 'यह देह ही मैं हूँ' इससे छुटकारा पा लिये । वहाँ बच्चे से बूढ़े तक सब काम, क्रोध और लोभ से छुटकारा पा लिये । अपने काम-क्रोध को संयत रखकर ही ये सब दुनिया के व्यवहार का सम्पादन करते थे ॥ ५१–५३ ॥

माँ अपने-अपने बच्चों को उस परम तत्त्व की बातों से ही मन को बहलाती थीं । नौकर-चाकर भी उस आत्मतत्त्व की चर्चा करते हुए ही मालिक की सेवा में लगे रहते थे । अभिनेतागण तात्त्विक प्रसंग अर्थात् मोह, विवेक, ज्ञान जैसे पात्रों से ही अभिनय करवाते थे ॥ ५४–५५ ॥

गवैये विवेक से भरे गीत ही गाया करते थे । मसखरे लोकाचार की खिल्ली उड़ाया करते थे ॥ ५६ ॥

विद्वान् गुरु छात्रों को आत्मतत्त्व के विचार-पोषक उदाहरणों से भरे शास्त्रों का अध्ययन कराते थे ॥ ५७ ॥

इस तरह उस महानगरी के औरत-मर्द, नौकर-नारी, नट, मसखरे, सेवक, सिपाही, सचिव, कारीगर और वेश्याएँ जानने योग्य आत्मतत्त्व की जानकारी हासिल कर ली ॥ ५८½ ॥

अपने पूर्व संस्कारों के मुताबिक लोकाचार करते हुए भी उन्हें अपने-अपने कामों मे मंगल या अमंगल का बोध नहीं होता । अर्थात् उनकी सारी क्रियाएँ बच्चों के काम की तरह बिलकुल प्राकृतिक होती थीं ॥ ५९½ ॥

भविष्यं नानुसन्धत्तं हर्षशोकादिसाधनम् ॥ ६० ॥
वर्तमाने स्मर्यन् हृष्यन् खिद्यन् क्रुध्यन्निवान्वहम् ।
मधुक्षीब इवात्यन्तं व्यवहारपरो जनः ॥ ६१ ॥
एवंविधं तन्नगरं ऋषयः सनकादयः ।
प्रसिद्धविद्यानगरमित्याख्यमूचुरागताः ॥ ६२ ॥
यत्र कीराः पञ्जरस्था अपि वाचो वदन्ति वै ।
चितिरूपं स्वमात्मानं भजध्वं चेत्यवर्जितम् ॥ ६३ ॥
नास्ति चेत्यं चितेरन्यद् दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
चितिश्चेत्यं चितिरहं चितिः सर्वं चराचरम् ॥ ६४ ॥
यतः सर्वं चितिमनु भाति सा तु स्वतन्त्रतः ।
अतश्चितिं जनाः सर्वभासिनीं सर्वसंश्रयाम् ॥ ६५ ॥
भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य चितिमातं सुदृष्टयः ।
तिर्यञ्चोऽप्येवमत्यन्तं यत्र वाचो वदन्ति वै ॥ ६६ ॥
प्रसिद्धविद्यानगरं तदद्यापि प्रचक्षते ।
एवं तत्र पुरा हेमलेखया खलु बोधितः ॥ ६७ ॥
हेमचूडोऽभवद्विद्वाञ्जीवन्मुक्तस्तथेतरे ।
स्त्रीबालप्रमुखाः सर्वे जाता ज्ञातपरावराः ॥ ६८ ॥

ये उस होनी पर कभी सोचते ही नहीं जिसकी वजह से सुख या दुःख की कल्पना होती। मौजूदा समय में प्रसंग के अनुसार मुस्कराते, खुश होते, खिन्न होते, गुस्साते भी; पर मदहोश की तरह हमेशा काफी लोकाचार करते थे ॥ ६०–६१ ॥

एक बार सनकादि ऋषि उस महानगर में पधारे। उन्होंने यहाँ से प्रभावित होकर इसका नाम 'विद्यानगर' रख दिया ॥ ६२ ॥

वहाँ पिंजरे में बद्ध तोते भी पढ़ा करते—'चिन्तन-शून्य चिन्मात्र अपनी आत्मा को ही भज' ॥ ६३ ॥

आईने में परछाई की तरह चैत्य पदार्थ चिन्मात्र से भिन्न नहीं है। चिन्मात्र ही चैत्य है। चिति ही मैं हूँ। चिति ही अखिल ब्रह्माण्ड है। क्योंकि इन सबका बोध चिति से ही होता है और चिति स्वयं प्रकाश है ॥ ६४½ ॥

अतः लोगो ! भूल छोड़कर केवल चिति पर नजर रखते हुए सबको प्रभावित करनेवाली और सबका आधार चिति को ही भजो ॥ ६५½ ॥

जहाँ चिड़ियाँ भी इस तरह बोलती हैं, वह विद्यानगर आज भी देखा जा सकता है ॥ ६६½ ॥

इस तरह पहले यहाँ हेमलेखा द्वारा ज्ञान पाने वाला उसका पति हेमचूड़ नाम का तत्त्ववेत्ता वीतराग राजा हुआ। इसके बाद स्त्री और बालक तक दूसरे लोग भी उस परमतत्त्व को जान गये ॥ ६७–६८ ॥

तस्माच्छ्रेयोनिदानं तु सत्सङ्गः प्रथमं भवेत् ।
तस्माच्छ्रेयोवाञ्छने तु सत्संश्रयपरो भवेत् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे हेमचूडोपाख्याने दशमोऽध्यायः ।

अतः कल्याण का प्रमुख कारण है — भले लोगों की संगति । इसलिए जिन्हें आत्म-कल्याण की कामना हो, उन्हें साधुओं की संगति में रहना चाहिए ॥ ६९ ॥

दशवाँ अध्याय समाप्त ।

एकादशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं हेमचूडस्य कथामत्यद्भुतां तदा ।
भार्गवः सन्दिग्धमनाः प्रष्टुं समुपचक्रमे ।। १ ।।
भगवन् श्रीगुरो यत्ते प्रोक्तं ज्ञानं महाद्भुतम् ।
भाति मे विषमं ह्येतदसाध्यं चापि सर्वतः ।। २ ।।
कथमेतज्जगद्दृश्यं चितिमात्रस्वरूपकम् ।
अदृष्टं केवलं ह्येतच्छ्रद्धोपेयं न चान्यथा ।। ३ ।।
चितिश्चेत्यविनिर्मुक्ता नानुभाव्या कथञ्चन ।
नोपपन्नं सर्वथैतत्कथं चित्तं समारुहेत् ।। ४ ।।
कृपया बोधनीयोऽहमत्र सर्वात्मना खलु ।
इत्यापृष्टो दत्तगुरुरवदद्भार्गवं प्रति ।। ५ ।।
श्रृणु राम प्रवक्ष्यामि दृश्यतत्त्वं यथास्थितम् ।
एतद् दृश्यमशेषं तु दृशिमात्रं न चेतरत् ।। ६ ।।
अत्रोपपत्ति वक्ष्यामि श्रृणु सम्यक्समाहितः ।
एतद् दृश्यं कार्यभूतमुत्पत्तेरुपलम्भतः ।। ७ ।।

(संसार के स्वरूप का विवेचन)

हेमचूड़ की ऐसी विलक्षण कहानी सुनकर परशुराम के मन में कुछ संशय हुआ। उन्होंने इस पर सवाल पूछना शुरू किया ।। १ ।।

मान्य गुरुदेव ! आपने आत्मा के बारे में जो अभी विलक्षण जानकारी दी है, वह मेरी समझ में बिलकुल विकट और मुश्किल ही मालूम पड़ती है ।। २ ।।

जिस संसार को मैं अपनी आँखों से देखता हूँ, उसे भावनात्मक अर्थात् केवल महसूस करने लायक चेतना या ज्ञानस्वरूप कैसे मान लूं ? यह बात देखकर तो नहीं कही जा सकती है, केवल आस्था से मानी जा सकती है, अन्यथा नहीं ।। ३ ।।

देह से अलग आत्मा तो अनुभव में भी किसी तरह आ नहीं सकती । यह बात किसी भी तरह जँचती नहीं तो फिर मन में कैसे बैठ सकती है ? ।। ४ ।।

'गुरुदेव ! दया कर ये सारी बातें ठीक से मुझे समझाने का कष्ट करें ।' इस तरह पूछने पर गुरु दत्तात्रेय ने परशुराम से कहा — ।। ५ ।।

सुनो परशुराम ! मैं तुम्हें ठीक ढंग से इस नजारा का मर्म समझाता हूँ । यह सारा नजारा एक नजरभर भर है और कुछ नहीं ।। ६ ।।

मैं इसकी तरकीब समझाता हूँ, पूरे सावधान होकर सुनो । यह नजारा किसी का काम है; क्योंकि इसकी पैदाइश देखी जाती है ।। ७ ।।

उत्पत्तिर्नूतनाभासः प्रतिक्षणमिदं जगत् ।
नूतनत्वेनैव भाति तत्क्षणोत्पत्तिमज्जगत् ॥ ८ ॥
केचित् प्राहुर्जगदिदमखण्डैकक्षणोद्भवम् ।
अन्ये पदार्थसङ्घातमयं स्थिरचरात्मकम् ॥ ९ ॥
सर्वथा तु समुत्पत्तिमदित्येव विनिश्चितम् ।
तत्र स्वभाववादस्तु नोचितोऽतिप्रसङ्गतः ॥ १० ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणनिश्चयात् ।
संवादतः प्रवृत्तीनां कथमाकस्मिकं भवेत् ॥ ११ ॥
क्वचित्तु कारणेऽदृष्टेऽप्यदृष्टं कल्प्यमेव तत् ।
बहूनामनुरोधो हि न्याय्यः सर्वैरुदाहृतः ॥ १२ ॥
भूयो दृष्टं सपूर्वं हि कार्यं क्वचिददर्शने ।
दृष्टवत्परिकल्प्यं स्यादन्यथा सार्वलौकिकी ॥ १३ ॥
सम्प्रवृत्तिर्विरुध्येत तस्मात् सर्वं सकारणम् ।
अत एव कार्यहेतोः किञ्चित्कारणतत्परः ॥ १४ ॥

नये रूप में किसी वस्तु का प्रतीत होना ही उसकी पैदाइश कहलाती है और यह दुनिया प्रतिपल परिवर्तित ही नजर आती है । अतः यह हर पल पैदा होनेवाली हुई ।

कुछ लोग इस संसार को पल-पल पैदा होनेवाला, किन्तु अनादि काल से बेरोक वंश-परम्परा मानते हैं और कुछ लोग इसे अविनाशी और नाशवान् पदार्थों का समूह मानते हैं ॥ ९ ॥

पर हर हालत में इतना तो निश्चित है कि यह पैदा होनेवाला है और पैदाइश में स्वतः उत्पन्न होने की बात मानी नहीं जा सकती है ॥ १० ॥

विशेष — इतनी बात निश्चित है कि बिना उपादान कारण के किसी की उत्पत्ति संभव नहीं है । किसी-न-किसी विशेष उपादान कारण से किसी विशेष कार्य की उत्पत्ति होती है । यदि ऐसा न हो तो घट-पटादि की उत्पत्ति के उपादान कारण मिट्टी या धागा कैसे हो ?

अन्वय-व्यतिरेक से भी कार्य-कारणभाव का ही निश्चय होता है । इस नियम में कभी कोई अन्तर भी नहीं पड़ता है । ऐसी स्थिति में वह अनियमित कैसे हो सकता है ? ॥ ११ ॥

किसी कार्य में कारण दिखलाई नहीं पड़ता, वहाँ अनदेखे कारण का अनुमान कर लेना चाहिए । क्योंकि जिसका बहुमत होता है, उसे स्वीकार करना सबके लिए न्याय-संगत कहा गया है ॥ १२ ॥

अधिकांश कार्य के कारण तो स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं । पर कुछ कार्य ऐसे हैं जिनके कारण साफ-साफ दिखलाई नहीं पड़ते । ऐसी स्थिति में दूसरी जगह देखे गये कारण की तरह इसके कारण की कल्पना कर लेनी चाहिए । नहीं तो सर्वत्र प्रचलित प्रवृत्ति का विरोध होगा । अतः कारणपूर्वक कार्य सब तरह से मान्य है ॥ १३½ ॥

सर्वत्र दृश्यते लोकस्तस्मादेतन्न किञ्चन ।
केचिदाहुरसत्कल्पैरणुभिः कार्यमुद्यतम् ॥ १५ ॥
तेभ्योऽत्यन्तं विभिन्नं चाप्यसदत्यन्ततो भवेत् ।
असत्सतोरेकता हि विरुद्धा न कुतो भवेत् ॥ १६ ॥
न हि पीतमपीतं च प्रकाशं चाप्रकाशकम् ।
एकं भवेद्विरुद्धत्वात् साङ्कर्यादिप्रसक्तितः ॥ १७ ॥
ईश्वरेच्छादितो वापि कथमादिक्रियोद्भवः ।
गुणसाम्यप्रकृतिकं जगदित्यप्यसम्भवि ॥ १८ ॥
वैषम्यहेतोर्मृग्यत्वात् साम्यहेतोश्च हीनतः ।
चेतनेनानधिष्ठानाद् दृष्टान्तानुपलम्भतः ॥ १९ ॥
तस्माज्जागतकार्यस्य कारणं नोपलभ्यते ।
अदृष्टे तु श्रुतिर्मूलं नान्यमानसुसङ्गमः ॥ २० ॥

अतः जब किसी को कुछ काम करना होता है तो हर जगह पहले लोग साधन जुटाने में लग जाते हैं । अतः किसी के तासीर से कुछ नहीं होता ॥ १४½ ॥

कुछ के विचार में दुनिया का रूप अगर कार्य ही है तो फिर इसका निर्माण मूल प्रकृति एवं जड़ परमाणुओं से हुआ है । किन्तु संसार का रूप तो व्यक्त है, फिर अव्यक्त और व्यक्त तो दोनों बिलकुल भिन्न है । माना, संसार की भी अंतिम परिणति भी तो अव्यक्त ही है । फिर भी यहाँ तो सत् और असत् की एकरूपता बतलाई गई है, यह कैसे संभव है ? ॥ १५–१६ ॥

पीला और लाल या उजाला और अँधेरा कभी एक नहीं हो सकते, क्योंकि ये आपस में एक-दूसरे के विरोधी हैं । अगर ऐसा मान भी लिया जाय तो संकरदोष की संगति होगी ॥ १७ ॥

विशेष—एक ही वस्तु दो विरोधी तत्त्वों का अन्तर्मिश्रण सङ्करदोष है । यहाँ दो विरोधी धर्म सत्-असत्, रूप-अरूप और अस्तित्व-अनस्तित्व का साङ्कर्य दीख पड़ता है । दार्शनिकों ने परमाणुओं को निरवयव माना है । फिर निरवयव का सावयव की तरह संयोग होना संभव नहीं है । अतः यह कल्पना दुरूह एवं असंगत ही परशुराम को प्रतीत होती है ।

ईश्वर की इच्छा से शुरू में ही जड़ प्रकृति की क्रियाशीलता भला कैसे मानी जा सकती है ? यदि गुणों की सामान्य अवस्था रूप प्रकृति संसार का भाव है—तो यह बात भी मानने योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

इसके लिए संसार की उत्पत्ति काल में जो प्रकृति के गुणों में विरोध दीखता है, उसकी वजह ढूँढना होगा और विश्वास में जो उलट-पुलट दीखती है उसका भी तो कोई कारण नहीं दीखता है । फिर ऐसा कोई उदाहरण भी नहीं मिलता है कि चेतना के बिना भी किसी जड़ पदार्थ में कोई क्रिया उत्पन्न हो जाय ॥ १९ ॥

प्रमातृणामपूर्णत्वात्प्रमाणस्यानवस्थितेः ।
कार्यकर्तृवियोगस्य भूयोऽदर्शनहेतुतः ।। २१ ।।
सकर्तृकं जगदिदं सम्भवाच्चेतनो हि सः ।
कार्यस्याचिन्त्यरूपस्य कर्त्ता साधारणः कथम् ।। २२ ।।
तस्मादचिन्त्यशक्तिः स आगमस्तद्विमर्शनम् ।
पूर्णस्य त्वप्रतिहतं प्रमाणं सर्वतोऽधिकम् ।। २३ ।।
तत्रैकस्तु महेशानः पुरा सृष्टेरुदाहृतः ।
स्वतन्त्रो ह्यनुपादानः स्वातन्त्र्यभरवैभवात् ।। २४ ।।
स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रं विलासायावभासयत् ।
यथा स्वप्नमनोराज्ये कल्पितं स्वेन केवलम् ।। २५ ।।

इस तरह संसार रूपी कार्य का कोई कारण तो साफ-साफ दिखलाई नहीं पड़ता और अनदेखे कारण का फैसला करने में वेद के मूल प्रमाण के अलावा कोई दूसरा प्रमाण मान्य नहीं हो सकता है ।। २० ।।

क्योंकि जानकारी पानेवाला चेतन पुरुष तो अधूरा है। किसी भी सबूत की पहुँच भी उस अनदेखे कारण तक नहीं है और ऐसा कहीं भी देखा नहीं जाता कि काम करनेवाला तो कोई न हो, पर काम हो जाय। अतः यह दुनिया भी किसी बनानेवाले के द्वारा ही बनी है और संभव होने के कारण इस दुनिया को बनानेवाला भी कोई चेतन ही होगा। दुनिया का काम बड़ा ही विलक्षण है, अतः इसको बनानेवाला भी साधारण कैसे हो सकता है ? ।। २१–२२ ।।

इसलिए उसके पास बे-अन्दाज ताकत है और उसकी असलियत को बतलानेवाला है—वेदशास्त्र। यही उस असलियत को जाननेवाला बे-रोक सबसे बड़ा सबूत भी है ।। २३ ।।

विशेष—संसार के सभी बड़े-से-बड़े या छोटे-से-छोटे व्यवहार अपनी-अपनी जगह पर प्रश्न और प्रतिवचन ही हैं। प्रत्येक क्रिया का रूप तब तक प्रश्न है, जब तक वह पूरी होकर निरपेक्ष रूप में विश्रान्त न हो जाय। इसीलिए यहाँ सृष्टि के कारण को मुख्य प्रश्न नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि सृष्टि का कारण परोक्ष है और परोक्ष में इन्द्रियों की गति हो ही नहीं सकतीं। अतः इसे किसी भी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं बनाया जा सकता। जहाँ तक अनुमान का प्रश्न है, वह तो स्पष्टतः प्रत्यक्षमूलक ही होता है। अतः जहाँ प्रत्यक्ष नहीं है वहाँ अनुमान की कल्पना ही नहीं हो सकती है। अतः यहाँ वह अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न सत्ता किसी अन्य प्रमाण का विषय नहीं बन सकती है।

उस वेद में कहा गया है कि इस सृष्टि से पहले एकमात्र वे महेश्वर ही थे। उस बिलकुल बे-नियाज़ परवरदिगार ने बिना किसी दूसरी चीज की सहायता से अपनी स्वतन्त्रता की श्रेष्ठता की महिमा से ही केवल अपने मनोविनोद के लिए अपने ही स्वरूप की भीत पर इस संसार की तसवीर को खींच दिया है ।। २४½ ।।

अहन्त्वेनैव गृह्णाति देहं तद्वदयं जगत् ।
न ते रूपं यथा देहः स्वप्नव्यावृत्तिहेतुतः ॥ २६ ॥
तथास्य न जगद्देहो व्यावृत्तेः प्रलये ननु ।
देहादिव्यतिरिक्तस्त्वं यथा केवलचिन्मयः ॥ २७ ॥
एवं देवो जगच्छून्यचिदेकवपुरव्ययः ।
तेनेदं स्वात्मनि जगच्चित्रमुन्मीलितं ननु ॥ २८ ॥
क्वोन्मीलयेज्जगच्चित्रं स्वान्यस्य क्वाप्यसम्भवात् ।
ऋते चितिं कदाचिद्वा क्व किं भवितुमर्हति ॥ २९ ॥
यत्राभावश्चितेर्ब्रूयात्स देशो नैव सिध्यति ।
अभावश्च चितेः केन सिध्येदस्माच्चितिः परा ॥ ३० ॥
महासत्ता जगद्ग्रासशीला पूर्णाविभासते ।
समुद्रमन्तरा तोयं दिवानाथं विना प्रभाः ॥ ३१ ॥
यथा न सन्ति तद्वद् वै संविद्रूपं विना जगत् ।
तस्मादेष महादेवः शुद्धचैतन्यविग्रहः ॥ ३२ ॥
आसीत्सृष्टेः पुरा तस्मादुत्पन्नं तत्र संस्थितम् ।
तस्मिन्विलीयते चान्ते जगदेतच्चराचरम् ॥ ३३ ॥

जैसे सपने में मन की कल्पना में गढ़ी नकली देह को लोग अपना असली रूप मान लेते हैं, वैसी ही यह सारी दुनिया है ॥ २५½ ॥

किन्तु सपना टूटते ही जैसे मन की काल्पनिक देह स्वप्नद्रष्टा का अपना रूप नहीं रहता, उसी तरह प्रलय काल में दुनिया मिट जाने के कारण यह परमात्मा की देह नहीं रहती ॥ २६½ ॥

देहादि के अलावा जैसे तुम केवल चैतन्य रूप हो, ठीक उसी तरह भगवान् भी इस दुनिया से रहित एकमात्र कभी विनष्ट न होनेवाले चित्स्वरूप ही हैं। उन्होंने अपने पर ही इस संसार का खाका खींचा है ॥ २७–२८ ॥

उनसे अलग कहीं कुछ है भी नहीं, अतः इस दुनिया का खाका खींचा भी कहाँ जाता ? उस परमात्मा के सिवा कभी, कोई, कहीं क्या हो सकता है ? ॥ २९ ॥

उस चैतन्य के बिना कोई जगह साबित नहीं की जा सकती। क्योंकि बिना चैतन्य के उसके न होने की बात साबित कैसे होगी ? इसलिए चैतन्य ही परमात्मा है ॥ ३० ॥

इस तरह सारी दुनिया को अपना निवाला बनानेवाली वह महान् हस्ती ही तो हर जगह दीख रही है। जैसे समुद्र के बिना पानी और सूरज के बिना उजाले का अस्तित्व नहीं है, उसी तरह चिन्मात्र के बिना संसार की सत्ता नहीं है ॥ ३१½ ॥

इस दुनिया की पैदाइश के पहले पवित्र ज्ञान के रूप में परमात्मा ही तो थे। यह जड़ और चेतन संसार उन्हीं से उत्पन्न हुआ है, उन्हीं में मौजूद है और उन्हीं में विलीन हो जायेगा ॥ ३२–३३ ॥

इत्यागमप्रसिद्धोऽर्थस्तत्र विप्रतिपद्यते ।
अदृष्टार्थेषु संवादात्प्रमाणं ह्यागमो भवेत् ॥ ३४ ॥
दृश्यन्ते मणिमन्त्रादिसिद्धयः सर्वतो यतः ।
नाल्पप्रज्ञो विजानीयान्मणिमन्त्रमहाफलम् ॥ ३५ ॥
तस्मात्सर्वज्ञगदितो ह्यागमः सर्वदर्शनः ।
तत्रोक्तो देव एवादौ सृष्टेर्जगत आस्थितः ॥ ३६ ॥
निरुपादान एवादौ सृष्टवानखिलं जगत् ।
यस्मान्महेश्वरः पूर्णस्वच्छस्वातन्त्र्यसंयुतः ॥ ३७ ॥
चिदात्मभित्तावखिलं चित्रमुन्मीलयज्जगत् ।
न तज्जगत्सम्भवति बहिः क्वचिदवस्थितम् ॥ ३८ ॥
पूर्णत्वादीश्वरस्येह स्थानमन्यन्न विद्यते ।
अन्यस्थानस्थितं तच्च कथञ्चिन्नैव सिध्यति ॥ ३९ ॥
तथा च दर्पणाभोगे प्रतिबिम्बवदेव हि ।
जगदुन्मीलितं देवे चैवं सर्वं समञ्जसम् ॥ ४० ॥
जगदादेर्हि देवस्य योगीव जगतः क्रिया ।
सङ्कल्पनगरप्रख्या सृष्टिर्देवस्य सम्मता ॥ ४१ ॥

यही श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है । इसमें किसी तरह के संदेह की गुञ्जाइश नहीं है । क्योंकि जहाँ अनदेखी वस्तु के बारे में शंका होती है, वहाँ वेदवाक्य ही प्रमाण माना जाता है ॥ ३४ ॥

मणि और मंत्र से मिलनेवाली सिद्धियाँ तो हर जगह देखी जा सकती है । इनकी बेहतरी कोई कम अक्ल प्राणी भला कैसे जान सकता है ? ॥ ३५ ॥

अतः सब कुछ जाननेवाले उस परमात्मा का कहा हुआ वेद ही इसके बारे में सबसे बड़ा सबूत है । उसी वेद में यह उल्लेख मिलता है कि सृष्टि से पूर्व केवल परमात्मा का ही अस्तित्व था ॥ ३६ ॥

बिना किसी वस्तु का सहारा लिए ही उसने शुरू में संसार की रचना की, क्योंकि वह बेनियाज, बेनजीर और सर्वशक्तिसम्पन्न है ॥ ३७ ॥

उन्होंने अपनी ही चेतना स्वरूप देह की दीवार पर दुनिया का खाका खींचा है । अतः यह दुनिया उससे बाहर कहीं हो ही नहीं सकती ॥ ३८ ॥

क्योंकि परमात्मा ही पूर्ण है । उससे अलग तो कोई जगह है ही नहीं । उससे भिन्न स्थान की सिद्धि किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती ॥ ३९ ॥

इसलिए जैसे आइने में परछाई दीख पड़ती है, उसी तरह परमात्मा में संसार देख पड़ना'—ऐसा मान लेने पर सबका औचित्य समझ में आ जाता है ॥ ४० ॥

दुनिया का पहला कारण भगवान् का यह दुनियावी काम भी एक योगी की तरह है । योगी जैसे संकल्प मात्र से नगर की रचना करता है, वैसी ही यह दुनिया की भी रचना है ॥ ४१ ॥

राम ते मानसी सृष्टिर्मनोमय्येव केवला ।
अनेकमातृमेयादिप्रचुरा ह्यवभासते ॥ ४२ ॥
अनेकभेदभिन्नापि मनसोऽन्या न हि क्वचित् ।
उत्पन्ना मनसस्तत्र स्थिता तत्रैव लीयते ॥ ४३ ॥
सा केवलमनोरूपा यथा तद्वज्जगच्छिवात् ।
स शिवश्चितिमात्रैकरूपश्चितिरविग्रहा ॥ ४४ ॥
त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्यरूपिणी सर्वसाक्षिणी ।
सा चितिः सर्वतः पूर्णा परिच्छेदविवर्जनात् ॥ ४५ ॥
कालो देशश्च लोकेऽस्मिन्परिच्छेदकरः स्मृतः ।
तत्राकारमयो देशः कालस्तु स्यात्क्रियामयः ॥ ४६ ॥
यां चितिं समुपाश्रित्य स्यादाकारः क्रियापि वा ।
तस्याः परिच्छेदकत्वमनयोः स्यात्कथं वद ॥ ४७ ॥
कस्मिन्देशे च काले च चितिर्नास्तीह तद् वद ।
यत्र न स्याच्चितिः सोऽपि कथं स्यादिति वै भवेत् ॥ ४८ ॥

परशुराम ! तुम्हारे मन में जो काल्पनिक रचना है वह तो केवल तुम्हारे मन की ही रचना है, फिर भी उसमें अनेक प्रमाता एवं प्रमेय भी देखे जाते हैं ॥ ४२ ॥

इस तरह यह मन की कल्पना अनेक रूपों में अलग-अलग दीखती हुई भी यह मानसिकता के सिवा और कुछ नहीं होती । यह मन में ही पैदा होती है, मन में ही रहती है और मन में ही खत्म भी हो जाती है ॥ ४३ ॥

जैसे यह केवल मानसी होती है उसी तरह परम शिव से उत्पन्न यह सृष्टि चेतन मात्र ही तो है । शिव केवल चितिस्वरूप हैं और चिति की कोई देह नहीं होती ॥४४॥

बेहद और बेशुमार ताकत ही तो इसकी आकृति है । सब कुछ देखने वाली यह त्रिपुरा ही तो चिति अर्थात् चैतन्य हैं । इनका खण्ड नहीं हो सकता । ये हर ओर से परिपूर्ण हैं ॥ ४५ ॥

संसार में स्थान और समय ही विभाजक माने गये हैं । इनमें बनावट या सूरत वाला देश है तथा प्रयत्नमय काल है और इन दोनों का आधार शुद्ध चिति है । फिर तुम्हीं बतलाओ, अपने ही आधार के ये विभाजक कैसे बन सकते हैं ? ॥ ४६–४७ ॥

आप ही बतलाइए, इस दुनिया में ऐसी कौन-सी जगह, ऐसा कौन-सा समय है, जहाँ चिति अर्थात् चैतन्य ज्ञान नहीं है ? अतः चेतना-शून्य न कोई स्थान है और न काल ही । सत्ता रूप में चिति ही सब कुछ है ॥ ४८ ॥

विशेष—हमारा होना सागर पर लहरों के होने से भिन्न नहीं है । विश्व सत्ता से कोई सत्तावान् अलग नहीं है । सबके प्राणों का स्रोत उसी केन्द्र में है । उसे चाहे तो हम चिति कहें या और कुछ । नामों से कोई भेद नहीं पड़ता । सत्ता एक और अक्षय है । जैसे आइने के बिना परछाई और मिट्टी के बिना घड़े की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह चिति के बिना देश या काल की सत्ता अलग नहीं हो सकती ।

अस्तिता हि पदार्थानां प्रकाशो नापरः खलु ।
प्रकाशस्तु चितिः प्रोक्ता नाऽचितः स्यात्प्रकाशता ॥ ४९ ॥
प्रकाशस्तु सुमुख्यः स्याद्यः स्वतन्त्रः प्रकाशते ।
जडा न स्वप्रकाशा हि चितियोगप्रकाशनात् ॥ ५० ॥
अन्यानपेक्षणेनैव चितिः स्वस्मिन्प्रकाशते ।
जडाश्रितिं समाश्रित्य प्रकाशन्ते न चान्यथा ॥ ५१ ॥
अप्रकाशेऽपि वस्तूनामस्तिता चेत्तदा शृणु ।
अस्ति नास्तीति लोकेऽस्मिन् व्यवस्था न हि सेत्स्यति ॥५२॥
तस्माद्वस्त्वस्तिता लोके चित्प्रकाशो न चापरः ।
यथा हि प्रतिबिम्बानां सत्त्वं दर्पण एव हि ॥ ५३ ॥
तथा चितिर्जगत्सत्ता ततः सर्वं चितिर्भवेत् ।
अधिकं भासते यत्तु तन्नैर्मल्यमहत्त्वतः ॥ ५४ ॥
काठिन्यनिर्मलत्वाभ्यां प्रतिबिम्बावभासनम् ।
तयोस्तु तारतम्येन प्रतिबिम्बः स्फुटोऽस्फुटः ॥ ५५ ॥
दर्पणे च जले चापि स्पष्टमेतद्धि लक्ष्यते ।

अगर पदार्थ की सत्ता है तो उनका प्रकाशित होना भी उतना ही सत्य है। चिति ही प्रकाश है, क्योंकि जड़वर्ग प्रकाश रूप में आ ही नहीं सकता ॥ ४९ ॥

सूर्य की तरह स्वयं आलोकित होनेवाला आलोक ही असली आलोक है। जड़ पदार्थ तो स्वयं प्रकाशित होते नहीं, उनका आलोक तो किसी चेतन के द्वारा ही सम्भव है ॥ ५० ॥

किसी की अपेक्षा किये बिना केवल चिति ही आलोकित हो सकती है। जड़ पदार्थ तो इसी चिति के सहारे प्रकाशित होते हैं, अन्यथा बिलकुल ही नहीं ॥ ५१ ॥

यदि कहा जाय, आलोकित नहीं होने के बावजूद जड़ वस्तुओं का अस्तित्व तो रहता ही है, तो ऐसी स्थिति में इस लोक में अमुक व्यक्ति या वस्तु 'है' या 'नहीं है' इसमें अनवस्था पैदा हो सकती है ॥ ५२ ॥

अतः लोक में वस्तु की सत्ता का अर्थ है—चिति अर्थात् ज्ञान का उस रूप में आलोक और कुछ नहीं। जैसे परछाई की सत्ता आईने में है, उसी तरह चिति ही संसार की सत्ता है। अतः सब कुछ चिति ही है। घड़े या कपड़े जो खाश-खाश रूप में दीखते हैं, यह उसी चिति की स्वच्छता की महिमा है ॥ ५३–५४ ॥

आईना जितना अधिक साफ और सघन होगा, परछाई उतनी अधिक साफ दिखायी देती है। यह अन्तर आईने और पानी में साफ-साफ जाहिर होता है ॥५५½॥

विशेष—आईने की अपेक्षा पानी में सघनता और निर्मलता कम होती है। अतः पानी में पड़नेवाली परछाई आईने में पड़नेवाली परछाई की अपेक्षा कम साफ दिखलाई पड़ती है। यदि यह कहा जाय आईने में बिम्ब के अनुसार प्रतिबिम्ब

जडत्वाद्दर्पणदेस्तु स्वातन्त्र्यपरिवर्जनात् ॥ ५६ ॥
बिम्बापेक्षा चितेः स्वच्छस्वातन्त्र्यादनपेक्षता ।
निर्मलत्वं स्वतःसिद्धं चितेर्मालिन्यवर्जनात् ॥ ५७ ॥
अनेकरसतैव स्यान्मालिन्यं तच्चितेर्न हि ।
ऐकात्म्यरूप्याच्चिच्छक्तेरखण्डत्वाच्च सर्वथा ॥ ५८ ॥
अरिक्तात्मभावहेतोर्नैर्मल्यं सर्वतोऽधिकम् ।
अस्वतो भासमानस्य भानमन्यानुषङ्गतः ॥ ५९ ॥
प्रतिबिम्बस्वरूपज्ञाः प्रतिबिम्बं प्रचक्षते ।
जगदेतादृशं सर्वं सर्वैः समभिलक्षितम् ॥ ६० ॥
स्वतो न भासते क्वापि भासते च चिदाश्रयात् ।
अतो जगत्स्यादादर्शप्रतिबिम्बसुसम्मितम् ॥ ६१ ॥
चितिर्विचित्राऽन्यभावैरुपरक्तापि भासिनी ।
स्वरूपादप्रच्युतैवाऽऽदर्शवल्लेशतोऽपि हि ॥ ६२ ॥
दर्पणप्रतिबिम्बानां दर्पणानन्यता यथा ।
चिदात्मप्रतिबिम्बानां चिदात्मानन्यता तथा ॥ ६३ ॥

बनता है, पर चिति में बिना बिम्ब के ही संसार प्रतिभासित होता है तो इसका उत्तर यह है—

जड़ होने के कारण आईने में बिम्ब के बिना प्रतिबिम्ब बनाने की आजादी नहीं होती। किन्तु चिति को अपनी स्वच्छता और स्वतंत्रता के कारण प्रतिबिम्ब के लिए किसी बिम्ब की अपेक्षा नहीं होती है। चिति में मलिनता है ही नहीं, अतः उसकी स्वच्छता स्वतः सिद्ध है ॥ ५६–५७ ॥

अनेकरसता अर्थात् बहुत सारे पदार्थों की मिलावट ही तो मलिनता है। चिति एकरस और अखण्ड है, उसे किसी का साथ नहीं। उसमें किसी दूसरे के लिए गुंजाईश नहीं है, अतः उसकी सफाई बेहतर है ॥ ५८½ ॥

जो खुद आलोकित न हो प्रत्युत किसी दूसरे की सहायता से जिसकी प्रतीति हो, उसी को परछाई जानने वाली छाया कहते हैं। सारी दुनिया सबको ऐसी ही लगती है ॥ ५९–६० ॥

इसकी खुद कभी प्रतीति नहीं होती, यह तो चेतन के सहारे ही दीख पड़ती है। इसलिए यह दुनिया आईने में दीखने वाली परछाई की तरह है ॥ ६१ ॥

इसे आलोकित करनेवाली चिति भी बड़ी विलक्षण है। वह अलग-अलग खयालों में रंगी रहने के बावजूद भी आईने की तरह अपनी बनावट से थोड़ा भी अलग नहीं होती ॥ ६२ ॥

आईने की परछाई जैसे आईने से अलग नहीं होती, उसी तरह चिदात्मा में पड़ी परछाई चिदात्मा से अलग नहीं है ॥ ६३ ॥

दर्पणे प्रतिबिम्बो हि बिम्बहेतुर्निरूपितः ।
चितेः स्वातन्त्र्यहेतुः स्यात्प्रतिबिम्बो हि जागतः ॥ ६४ ॥
स्वसङ्कल्पाद्राम पश्य स्वात्मनि प्रतिबिम्बितान् ।
भावान् बिम्बविनाभूतान्निर्निमित्तावभासनान् ॥ ६५ ॥
सङ्कल्प एव स्वातन्त्र्यं चितेरुच्छूनमीर्यते ।
असङ्कल्पदशायां सा चितिः स्वच्छैकरूपिणी ॥ ६६ ॥
एवं चितेर्विशुद्धैकरूपायाः सृष्टितः पुरा ।
बृहत्स्वातन्त्र्यमभवत्सङ्कल्पात्मकमेव तत् ॥ ६७ ॥
तत एतत्समाभातं प्रतिबिम्बात्मकं जगत् ।
बृहत्सङ्कल्पसुस्थैर्याच्चिरमेतद्विभासते ॥ ६८ ॥
साधारणं जगद्भाति पूर्णस्वातन्त्र्यहेतुतः ।
अन्येषां तदपूर्णत्वाद्भात्यसाधारणात्मना ॥ ६९ ॥
अभ्यासान्मणिमन्त्राद्यैः स्वातन्त्र्यं तु यथा यथा ।
त्यजेत्सङ्कोचमात्मस्थं तथा तत्र हि भासनम् ॥ ७० ॥
पश्यैन्द्रजालिकं राम निरुपादानयोगतः ।
भासयन्तं जगच्चित्रं सङ्कल्पादेव सर्वतः ॥ ७१ ॥

आईने में जो परछाई दीखती है, उसकी वजह उसी परछाई की प्रतिमूर्त्ति कही जाती है। किन्तु यह संसार रूपी परछाई चिति की स्वतंत्रता के कारण ही दीख पड़ती है ॥ ६४ ॥

परशुराम ! तुम खुद अनुभव करके देखो, बिना किसी बिम्ब और प्रयोजन के ही केवल मन में इरादा करने से ही अनेक विचारों की परछाई नहीं उभरती क्या ? ॥६५॥

ऐसा आजाद इरादा ही उस चिति का स्थल रूप है। जब उसके मन में कोई इरादा नहीं होता है, तब वह शुद्ध चिन्मात्ररूपिणी रहती है ॥ ६६ ॥

इस तरह दुनिया की पैदाइश से पहले केवल शुद्ध चिति में, जो परम स्वतंत्र था, वही विश्व-रचना के पूर्व संकल्प बनकर स्थिर हो गया ॥ ६७ ॥

उसी परम स्वतंत्र के इरादा से परछाई रूप यह दुनिया दीखने लगी। उसका यह पक्का इरादा बड़ा ही मजबूत है। इसी से वह बहुत दिनों तक दीखती रहती है ॥ ६८ ॥

चिति की पूरी आजादी की वजह से ही यह दुनिया सबको समान रूप से दीखती है। दूसरे प्राणियों की आजादी तो पूरी है ही नहीं। यही कारण है कि उनके संकल्प से दीखने वाली वस्तुएँ आकस्मिक रूप से केवल उन्हें ही दिखलायी पड़ती है ॥ ६९ ॥

लगातार अनुशीलन, रत्नधारण अथवा मन्त्रजप से जैसे-जैसे व्यक्ति की स्वतंत्रता बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उसके भीतर दीखने वाले पदार्थों की जानकारी में भी खिंचाव या तनाव की कमी होने लगती है ॥ ७० ॥

साधारणं स्थिरं स्वार्थक्रियार्हं भूय एव तु।
स्वात्मन्युपसंहरेच्च जगदेवं विभासते ॥ ७२ ॥
योगिनः पश्य सृष्टिं तां पूर्णस्थैर्यसमावृताम्।
योगिनस्तु मितत्वेन सृष्टिर्बाह्या विभाविता ॥ ७३ ॥
अमितत्वात्सृष्टिरियं चिन्नाथस्यान्तरेव हि।
अत एव चिदात्मत्वव्यतिरेकादसत्यता ॥ ७४ ॥
जगतः प्रतिबिम्बस्यादर्शात्मत्वं विना यथा।
अत एव विचारेणासत्यतां याति नान्यथा ॥ ७५ ॥
सत्यं स्वभावं नो मुञ्चेदसत्यं तं परित्यजेत्।
जगत्पश्य भार्गवैतत् स्वभावादतिचञ्चलम् ॥ ७६ ॥
सत्यासत्ये विभागेन भासेते सर्वतोऽखिलम्।
प्रतिबिम्बादर्शभानमिव तत्प्रविचारय ॥ ७७ ॥
आदर्शो ह्यचलस्तत्र चलं हि प्रतिबिम्बकम्।
तथा जगच्चलं संविदचलं सर्वभावितम् ॥ ७८ ॥

देखो परशुराम ! एक बाजीगर कोई साधन या असबाब के बिना ही सिर्फ अपने पक्के इरादे से नई दुनिया की तसवीर दिखा देता है ॥ ७० ॥

जादूगर की वह तसवीर सबको दिखलायी पड़ती है। बिलकुल अटल जान पड़ता है। संसार की हर वस्तु की तरह उससे भी व्यवहार किया जा सकता है। फिर वह बाजीगर अपनी बाजीगरी को अपने-आप में समा लेता है। उसी तरह यह दुनिया भी दीख रही है ॥ ७२ ॥

इसी तरह योगियों के मन की काल्पनिक सृष्टि को भी देखो। वह तो पूरी स्थिरता के साथ रहती है। किन्तु योगियों का स्वरूप तो सीमित ही होता है। यही कारण है कि उनकी सृष्टि उनसे बाहर ही दिखलायी पड़ती है ॥ ७३ ॥

किन्तु चिन्मात्र परमात्मा का रूप तो निःसीम है। अतः उनकी जगत्-रचना उनके भीतर ही है। परछाई जैसे आईने का ही रूप होता है उसी तरह परमात्मा से भिन्न इस जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। ऐसे विचार से ही इसकी असत्यता सिद्ध होती है और किसी दूसरे ढंग से नहीं ॥ ७४–७५ ॥

हे परशुराम ! सच कभी बे-असर नहीं होता और झूठ का कोई असर नहीं होता। देखो, यह दुनिया अपनी आदत से बड़ी चुलबुली है ॥ ७६ ॥

हर तरह के सच और झूठ आईने और परछाई की तरह शान्त और शोख अलग-अलग महसूस होते हैं। इनका तुम खुद विचार करो ॥ ७७ ॥

आईना अटल होता है और परछाई चंचल। इसी तरह संसार चंचल है और चैतन्य अचल—इसे सब जानते हैं ॥ ७८ ॥

अत एव हि भावानां विचारासहरूपता ।
तथा हि सूर्यालोको हि वस्तूनामवभासकः ॥ ७९ ॥
उलूकादिदिवान्धानां विपरीतोऽन्धकारवत् ।
प्रकाशत्वान्धकारत्वे न विविक्तेऽनयोः स्फुटे ॥ ८० ॥
एवं विषं कस्यचित्स्यादविषं कस्यचिद्भवेत् ।
मनुष्यादेः प्रतीघातकरी भित्तिर्हि लक्ष्यते ॥ ८१ ॥
योगिनां गुह्यकादीनामप्रतीघातलक्षणा ।
कालो देशश्च दीर्घो यो मनुष्यादिप्रभावितः ॥ ८२ ॥
स एव विपरीतो वै देवानां योगिनामपि ।
दर्पणे भासमानस्य दूरादेर्दूरता यथा ॥ ८३ ॥
तथैवास्य स्वभावोऽपि विचारे न स्थिरी भवेत् ।
अत आश्रयरूपेण विना नास्ति हि किञ्चन ॥ ८४ ॥
यदस्तीति भाति तत्तु चितिरेव महेश्वरी ।
एवं जगच्चिदेकात्मरूपं ते सम्यगीरितम् ॥ ८५ ॥

इति श्रीमज्ज्ञानखण्डे जगत्तत्त्वनिरूपणे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इसी तरह दुनियाई वस्तु विचार के सामने टिक नहीं पाती। सूर्य की रोशनी में दिन में सबको सब कुछ दिखलायी पड़ता है, किन्तु विपरीतधर्मी उल्लू को यदि दिन में दिखलायी नहीं पड़ता तो इससे उजाला और अँधेरा का स्पष्ट निर्णय नहीं हो सकता ।। ७९–८० ।।

इस तरह एक के लिए जो जानलेवा जहर होता है वह दूसरे के लिए जहर नहीं भी होता है। जो वस्तु एक डरपोक आदमी के लिए रुकावट पैदा करनेवाली होती है, वही वस्तु एक योगी या गुह्यक योनि के लिए रुकावट नहीं पैदा करती है ॥ ८१½ ॥

जो जगह और समय आदमी को बहुत दूर दीखता है, वही स्थान और काल देवता और योगियों को वैसा ही महसूस नहीं होता ॥ ८२½ ॥

आईने में दिखायी देने वाली दूरी में जैसे कोई फासला नहीं होता, उसी तरह विचार करने पर इस दुनिया का स्वभाव भी स्थिर नहीं जान पड़ता। अतः उसका सहारा चेतन के सिवा और कुछ नहीं है ।। ८३–८४ ॥

संसार में जो है, जो कुछ दीख रहा है, वह सिर्फ महेश्वरी चिति का ही स्वरूप है। इस तरह संसार और चेतन की एकरूपता का इस अध्याय में विवेचन हुआ ॥ ८५ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।

द्वादशोऽध्यायः

एवं दत्तात्रेयमुखाज्जगत्तत्त्वं निशम्य तु ।
पप्रच्छ भार्गवो भूयः सन्देहकलिलान्तरः ॥ १ ॥
भगवन् संश्रुतं प्रोक्तं भवता जागतं ननु ।
यथा ब्रवीषि भगवंस्तत्तथैव न चाऽन्यथा ॥ २ ॥
तथापि कुत एतद्धि भाति सत्यात्मकं सदा ।
कुतो वाऽन्यैर्बुद्धिमद्भिः सत्यत्वेन विनिश्चितम् ॥ ३ ॥
त्वत्तः श्रुतं चापि भूयो भाति मे सत्यवत् कुतः ।
ब्रूह्येतत् कृपया नाथ यथा नश्येदयं भ्रमः ॥ ४ ॥
इत्यापृष्टो भार्गवेण दत्तात्रेयो महाशयः ।
जगत्सत्यभ्रान्तिमूलं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥
शृणु राम जगद्भ्रान्तेर्मूलमेतत् सनातनम् ।
वस्त्वविद्यापूर्वकं यद्धृदा भावनमेव तत् ॥ ६ ॥
पश्यात्मानमविज्ञाय स्वात्मबुद्धिं शरीरके ।
क्व मांसरुधिरास्थीनि क्व चिदात्माऽतिनिर्मलः ॥ ७ ॥

(शिलालोक का दर्शन)

इस तरह श्रीदत्तात्रेय के मुँह से विश्व की वास्तविक स्थिति सुनकर परशुराम का मन संदेह से भर गया। उन्होंने पूछा—॥ १ ॥

पूज्यवर ! संसार के बारे में आपने जो कुछ अपना विचार व्यक्त किया, उसे मैंने सुना। सचमुच इसके बारे में आपने जो कुछ कहा, असंदिग्ध रूप से यह वैसा ही है ॥ २ ॥

फिर भी यह संसार लोगो को सच क्यों लगता है ? तथा कई अन्य बुद्धिमानों ने इसे सच क्यों माना है ? ॥ ३ ॥

आप जैसे गुरु के मुख से मैंने सुना—'यह दुनिया झूठ है', फिर भी मुझे यह सच क्यों लग रही है ? हे नाथ ! कृपया इसकी वजह आप मुझे समझा दे, ताकि मेरा भ्रम भंग हो जाय ॥ ४ ॥

परशुराम के ऐसा पूछने पर गुरु दत्तात्रेय ने दुनिया को सच मानने की भूल के मूल का वर्णन करना शुरू किया ॥ ५ ॥

सुनो परशुराम ! दुनिया को सच मानने की भूल का मूल कारण अज्ञानता है, जिसे हृदय से लोगों ने बहुत दिनों से पकड़ रखा है ॥ ६ ॥

देखो, अपने-आप को न जानने की वजह से ही देह में आत्मबुद्धि हुई है। नहीं तो कहाँ ये मांस, हड्डी और लहू और कहाँ निर्मल चेतन आत्मा ॥ ७ ॥

केवलं भावनादार्ढ्याच्चिदात्मा देहकोऽभवत् ।
ज्ञातेऽप्यात्मनि चिद्रूपे भूयो भ्रान्तिः शरीरके ॥ ८ ॥
एवमेव भावनया सत्यं भाति जगत् खलु ।
विपरीतं भावयन् वै दृढं भ्रान्तिं निवर्तयेत् ॥ ९ ॥
यो यथा भावयेदेतज्जगत्तस्य तथा भवेत् ।
योगिनां धारणाध्यानैः पश्य तद्रूपसङ्गतिम् ॥ १० ॥
अत्र ते वर्णयिष्यामि पुनरावृत्तमद्भुतम् ।
अस्ति वङ्गे सुन्दराख्यं पुरं परमपावनम् ॥ ११ ॥
तत्राऽऽसीन्नृपतिर्धीमान् सुषेण इति विश्रुतः ।
तस्य भ्राता महासेनो यवीयान् प्रियकृत् सदा ॥ १२ ॥
शशास राज्यं नृपतिर्धर्मतः सर्वसम्मतः ।
कदाचिदश्वमेधैः सोऽयजद्देवं महेश्वरम् ॥ १३ ॥
तत्र राजकुमारास्तु महाबलपराक्रमाः ।
महत्या सेनया यज्ञाश्वं सर्वेऽह्यनुसंययुः ॥ १४ ॥
अश्वस्य रोधकान् सर्वान् विजित्य बलिनो बलात् ।
ययुरैरावतीतीरमन्वश्वं नृपतेः सुताः ॥ १५ ॥

केवल खयाल की मजबूती की वजह से यह देह चिदात्मा बन बैठी है। इस खयाल की मजबूती इतनी पक्की है कि आत्मा को जान लेने के बाद भी देह में आत्मबुद्धि समझने की भूल लोग करते हैं ॥ ८ ॥

ठीक इसी तरह पक्के विचार के कारण ही यह नकली दुनिया असली जान पड़ती है। अतः इसके विरोधी विचार का अनुशीलन कर इस पक्की भूल को भुला देना चाहिए ॥ ९ ॥

जो जैसी भावना करता है, उसके लिए यह दुनिया वैसी ही हो जाती है। देखो योगियों को, वे जैसा ध्यान करते हैं, उनकी अनुभूति भी वैसी ही होती है ॥ १० ॥

इसके बारे में मैं तुम्हें एक विस्मयकारी कथा सुनाता हूँ। बंगाल में सुन्दरपुर नाम का एक बड़ा पवित्र नगर है ॥ ११ ॥

वहाँ एक बुद्धिमान् राजा था। उसका नाम सुषेण था। उसके मन के मुताबिक काम करने वाला उसका एक छोटा भाई था। उसका नाम महासेन था ॥ १२ ॥

राजा नेकी के साथ प्रजा का पालन करता था। वह सबका प्यारा था। भगवान् महेश्वर की आराधना में उसने एक बार अश्वमेध यज्ञ किया ॥ १३ ॥

बड़े-बड़े बहादुर और ताकतवर राजकुमारों ने यज्ञ के घोड़े का अनुसरण किया। उनके साथ बड़ी भारी सेना भी चल रही थी ॥ १४ ॥

यज्ञ के घोड़े को रोकनेवाले सब बाहुबलियों को वीर राजकुमारों ने पराजित कर दिया। इस तरह घोड़े का अनुसरण करते हुए वे इरावती तट पर पहुँच गये ॥ १५ ॥

ददृशुस्तत्र राजर्षि तङ्गणाख्यं तपोनिधिम् ।
बलोद्धता अवज्ञाय तमसङ्गम्य ते ययुः ॥ १६ ॥
तद्वीक्ष्य तङ्गणसुतः पित्रवज्ञां रुषान्वितः ।
जग्राहाश्वं यज्ञीयं तं राजपुत्रान् हि भर्त्सयन् ॥ १७ ॥
अथ राजकुमारास्ते रुरुधुः सर्वतो हि तम् ।
तावत् तङ्गणपुत्रोऽपि गण्डशैलं पुरःस्थितम् ॥ १८ ॥
विवेशाश्वं समादाय पश्यत्सु राजसूनुषु ।
साश्वं शिलाविलीनं तं दृष्ट्वा राजकुमारकाः ॥ १९ ॥
विभिदुर्गण्डशैलं तं शस्त्रैरुच्चावचैः पृथक् ।
चूर्णिताद् गण्डशैलात् स महत्या सेनया वृतः ॥ २० ॥
निर्गत्य तङ्गणसुतो जिगाय युधि तान् क्षणात् ।
निहत्य सेनां सौषेणीं बध्वा राजकुमारकान् ॥ २१ ॥
प्रविवेश गण्डशैलं भूयस्तङ्गणसम्भवः ।
अथ सेनाभटाः शिष्टा गत्वा राज्ञे न्यवेदयन् ॥ २२ ॥
साश्वराजकुमाराणां हरणं गण्डशैलके ।
सुषेणो विस्मितोऽत्यन्तमुवाचाऽवरजं स्वकम् ॥ २३ ॥

वहाँ उन्होंने तङ्गण नामक एक तपोनिष्ठ ऋषि के दर्शन किये, किन्तु बलोन्मत्त होने के कारण उन्होंने उनकी उपेक्षा कर दी। उनसे बिना भेंट किये ही वे आगे बढ़ गये ॥ १६ ॥

अपने पिता की इस तरह अवहेलना होती देख मुनि तङ्गण के बेटे को गुस्सा चढ़ आया। उसने यज्ञ के घोड़े को पकड़ लिया और राजकुमारों को ललकारा ॥ १७ ॥

उसके बाद राजकुमारों ने भी उसको चारों ओर से घेर लिया। तब तक तंगण मुनि का बेटा भी राजकुमारों के देखते-देखते ही उनके सामनेवाले पहाड़ की कन्दरा में घुस गया ॥ १८½ ॥

राजकुमारों ने घोड़े के साथ उन्हें पहाड़ की कन्दरा में घुसते देख छोटे-मोटे हथियारों से उस गुफा को तोड़ डाला ॥ १९½ ॥

उस फूटी गुफा से तङ्गण का बेटा एक विशाल सेना के साथ बाहर निकला। पलक झपकते ही उसने लड़ाई के मैदान में राजकुमारों को जीत लिया ॥ २०½ ॥

महर्षि तङ्गण के बेटे नें सुषेण की सेना को मारकर राजकुमारों को बन्दी बना लिया। फिर उन्हें लेकर उसी गुफा में घुस गया ॥ २१½ ॥

बचे-खुचे सैनिकों ने भागकर राजा को घोड़े सहित राजकुमारों का अपहरण कर पहाड़ की गुफा में बन्दी बनाने की खबर दी। यह खबर पाकर राजा बड़ा ही अचंभित हुआ। उसने अपने छोटे भाई से कहा—॥ २२-२३ ॥

वत्साऽऽशु गच्छ तं देशं यत्राऽऽस्ते तङ्गणो मुनिः ।
तपस्विनोऽचिन्त्यवीर्या अजेया देवमानुषैः ॥ २४ ॥
तं प्रसाद्य सुतानश्वं चाऽऽसाद्याऽऽयाहि सत्वरम् ।
न कालोऽतिव्रजेदेष वसन्तो यज्ञसम्मतः ॥ २५ ॥
अभिमानो न कर्त्तव्यस्तपस्विषु कदाचन ।
क्रुद्धास्तपस्विनो लोकान् भस्मीकुर्युः क्षणेन वै ॥ २६ ॥
अतः प्रसादनपरो भूत्वा स्वार्थं प्रसाधय ।
इत्यादिष्टो महासेनस्तं देशं शीघ्रमाययौ ॥ २७ ॥
अपश्यत् तङ्गणं तत्र समाहितमतिं दृढम् ।
काष्ठकुड्यात्मतां प्राप्तं शान्तेन्द्रियमनोधियम् ॥ २८ ॥
निर्विकल्पदशाम्भोधिनिलीनस्वात्मभावनम् ।
प्रणम्य दण्डवद् भूयः कृताञ्जलिपुटस्तदा ॥ २९ ॥
तुष्टाव विविधैः स्तोत्रैर्महासेनो मुनीश्वरम् ।
तथा तस्य संस्तुवतो ह्यत्यगाद्वै दिनत्रयम् ॥ ३० ॥
अथाऽऽजगाम तत्पुत्रः सन्तुष्टः पितृसंस्तवात् ।
प्रोवाच तं महासेनं राजंस्तुष्टोऽस्मि संस्तवात् ॥ ३१ ॥

भाई ! तङ्गण मुनि जहाँ रहते हैं वहाँ जल्द-से-जल्द पहुँचो । तपस्वियों में बे-अंदाज ताकत होती है । देवता हो या आदमी, वे सबके लिए अजेय होते हैं ॥ २४ ॥

उन्हें खुश कर घोड़े के साथ राजकुमारों को लेकर जल्द-से-जल्द लौट आओ, ताकि यज्ञ के लिए यह उपयुक्त समय वसन्त कहीं बीत न जाय ॥ २५ ॥

तपस्वियों के सामने कभी घमण्ड नहीं करना चाहिए । क्योंकि तपस्वी अगर कहीं रंज हो जायँ तो फिर पल में प्रलय मचा सकते हैं ॥ २६ ॥

"अतः उन्हें खुश कर अपना काम बना लेना" । राजा का आदेश मिलते ही महासेन जल्द ही उस महर्षि के आश्रम में पहुँच गया ॥ २७ ॥

वहाँ उन्होंने तङ्गण ऋषि को अटल समाधि में लीन देखा । उनकी देह काठ की तरह कड़ी और दीवार की तरह बिलकुल अचल थी । उनकी इन्द्रियाँ, उनका चित्त तथा उनकी बुद्धि बिलकुल शान्त थीं ॥ २८ ॥

उनका अपनापन स्थिर-स्थिति-रूप सागर में डूबा था । उन्हें इस दशा में देखकर महासेन ने धरती पर डंडे की तरह लेटकर साष्टाङ्ग पहले प्रणाम किया । फिर हाथ जोड़कर उनकी महिमा का बखान करना शुरू किया । इस तरह अनेक स्तोत्रों से बन्दना करते उसे वहाँ तीन दिन बीत गये ॥ २९-३० ॥

अपने बाप की बन्दना सुनकर मुनि तङ्गण के बेटे ने खुश होकर महासेन से कहा—राजन् ! मैं तुम्हारी स्तुति से सन्तुष्ट हूँ ॥ ३१ ॥

ब्रूहि किं तेऽभिलषितं साधयाम्यविलम्बितम् ।
अहं पुत्रोऽस्म्यस्य विभोस्तङ्गणस्य महामुनेः ॥ ३२ ॥
नैतस्य मे पितुः कालो भाषणे श्रृणु भूमिप ! ।
समाहितस्वान्त एष द्वादशाब्दादनन्तरम् ॥ ३३ ॥
समाधितः समुत्तिष्ठेत् तत्र पञ्चाब्दका गताः ।
सप्ताऽवशेषा एवं हि समयोऽस्य पुरातनः ॥ ३४ ॥
तत्तेऽभिवाञ्छितं ब्रूहि यत्तस्मात् तत् करोम्यहम् ।
न मां बालं विजानीहि पितृतुल्यं तपस्विनम् ॥ ३५ ॥
नाऽसाध्यं विद्यते लोके योगिनां हि तपस्विनाम् ।
श्रुत्वा मुनिकुमारोक्तं महासेनोऽतिबुद्धिमान् ॥ ३६ ॥
प्राह तं तङ्गणसुतं प्रणम्य च कृताञ्जलिः ।
मुनिपुत्र ! प्रियं मेऽद्य करोषि यदि सत्यतः ॥ ३७ ॥
तत् पितुस्तेऽद्य वाञ्छामि समाधेर्व्युत्थितस्य वै ।
सह सम्भाषणं किञ्चिदेतदत्यन्तवाञ्छितम् ॥ ३८ ॥
अनुकम्प्यो यद्यहं ते द्रुतमेतत् प्रसाधय ।
श्रुत्वैतद्वचनं राज्ञः प्राऽऽह तापसजः पुनः ॥ ३९ ॥

अत्यन्त शक्तिशाली मुनि तङ्गण का मैं पुत्र हूँ । तुम क्या चाहते हो बतलाओ, मैं तुरन्त तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगा ॥ ३२ ॥

हे राजन् ! मेरे पिताश्री के बोलने का अभी समय नहीं है । इनका मन बिलकुल समाधि में लीन है । उनकी यह समाधि बारह साल के लिए है । अभी पाँच साल ही बीते हैं, सात साल और बाकी है । इसका संकेत इन्होंने पहले से ही दे रखा है ॥ ३३–३४ ॥

इसलिए आप जो इनसे चाहते हो, मुझे बतला दो । मैं ही तुम्हारी इच्छा पूरी कर दूँगा । बिलकुल मुझे बच्चा मत समझो । मैं भी अपने पूज्य पिता की तरह ही एक तपस्वी हूँ । तपस्वी और योगियों के लिए संसार में कोई बात असाध्य नहीं होती ॥ ३५½ ॥

ऋषिपुत्र की बातें सुनकर बुद्धिमान् महासेन ने उन्हें प्रणाम किया । फिर हाथ जोड़कर उनसे कहा ॥ ३६½ ॥

ऋषिकुमार ! यदि सचमुच आप मेरा कोई प्रिय करना चाहते हैं तो मैं समाधि से उठे आपके पिताश्री से कुछ बातें करना चाहता हूँ—यही मेरी बड़ी अभिलाषा है ॥ ३७–३८ ॥

यदि आप मुझे अपनी अनुकम्पा के योग्य मानते हैं तो जल्द-से-जल्द मेरी इच्छा पूरी कर दीजिए । राजा की विनती सुनकर मुनिकुमार ने फिर कहा ॥ ३९ ॥

राजन् न साध्यं ह्येतत्ते वाञ्छितं सर्वथा भवेत् ।
तथाऽपि ते करोमीति प्रतिश्रुत्याऽन्यथा कथम् ॥ ४० ॥
ब्रवीमि भूयस्तत् किञ्चित् प्रतीक्षस्वाऽभियाचितः ।
मुहूर्त्तमात्रं मे पश्य सामर्थ्यं योगसम्भवम् ॥ ४१ ॥
एष मेऽद्य गुरुः शान्तपदे परमपावने ।
संस्थितस्तं बाह्ययत्नैरपि को वै प्रबोधयेत् ॥ ४२ ॥
पश्याऽहं बोधयाम्येनं योगयुक्त्यैव सूक्ष्मया ।
इत्युक्त्वाऽथ समाविश्य समाहृत्येन्द्रियाण्यलम् ॥ ४३ ॥
प्राणेऽपानं सुसंयोज्य मुख्यप्राणेन निर्गतः ।
देहं पितुः प्रविश्याऽऽशु प्रलीनं तस्य मानसम् ॥ ४४ ॥
बोधयामास चाऽऽकृष्य प्रबोध्याऽऽशु विनिर्गतः ।
देहं स्वमाविशद् यावत् तावत् स बुबुधे मुनिः ॥ ४५ ॥
अपश्यदग्रगं भूपं स्तुवन्त प्रणतं तदा ।
किमेतदिति सञ्चिन्त्य सर्वं योगदृशाऽविदत् ॥ ४६ ॥
प्रसन्नचित्त आमन्त्र्य पुत्रं प्राह सुशान्तधीः ।
वत्स ! नैवं पुनः कार्यं क्रोधस्तु तपसो रिपुः ॥ ४७ ॥

राजन् ! तुम्हारी इस इच्छा की पूर्त्ति तो मेरे वश की नहीं है । फिर भी मैंने तुम्हें वचन दिया है, उससे मुकरना तो अब सम्भव नहीं है । कुछ पल रुको और एक योगी की ताकत देखो ॥ ४०–४१ ॥

इस समय मेरे गुरु अत्यन्त पवित्र शान्त पद में प्रतिष्ठित हैं । संसार का कोई बाहरी प्रयास इन्हें जगा नहीं सकता । देखो, मैं इन्हें योग की अत्यन्त सूक्ष्म प्रक्रिया से जगाता हूँ ॥ ४२½ ॥

इतना कहकर वह वहीं बैठ गया । फिर उसने अपनी सारी इन्द्रियों की गति को रोककर अपानवायु अर्थात् जो वायु तालु से पीठ तक और गुदा से पेडू तक फैली है, उसे प्राणवायु के साथ मिला दिया । फिर प्रधान प्राणवायु के रूप में अपनी देह से निकलकर समाधि में बैठे अपने पिता की देह में समा गया । फिर वहाँ उनके सोये मन को झकझोर कर जगा दिया । इस तरह उन्हें सजग कर बाहर निकलते ही अपनी निर्जीव पड़ी देह में घुस गया । उधर महामुनि भी समाधि से जग गये ॥ ४३–४५ ॥

जगते ही मुनि ने अपने सामने बड़े विनीत भाव से स्तुति करते राजा को देखा । ऊपरी निगाह से जब मामला उनकी समझ में नहीं आया तब योगदृष्टि से उन्होंने सारी बातें जान लीं ॥ ४६ ॥

फिर उन्होंने खुश होकर बड़े शान्त मन से बेटे को समझाते हुए कहा — बेटे ! ऐसी गलती फिर कभी मत करना । गुस्सा तो तप का दुश्मन है ॥ ४७ ॥

राज्ञा हि रक्षिते लोके तपो निर्विघ्नमेधते ।
यज्ञविघ्नक्रिया दैत्यस्वभावो न मुनेः क्वचित् ॥ ४८ ॥
प्रयच्छाऽश्वं राजपुत्रानप्यस्मै सुमना द्रुतम् ।
शीघ्रं यात्वेष यज्ञस्य न कालातिक्रमो भवेत् ॥ ४९ ॥
इत्युक्तो गण्डशैलं स प्रविश्य क्षणमात्रतः ।
साश्वान् राजसुतांस्तस्मै ददौ प्रीत्या गतक्रुधः ॥ ५० ॥
ततः साश्वान् भ्रातृपुत्रान् सम्प्रेष्य नगरं प्रति ।
महासेनस्तज्ज्ञणं तं प्रणम्यात्यन्तविस्मितः ॥ ५१ ॥
अपृच्छत् प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रसाद्य मुनिपुङ्गवम् ।
भगवन् ज्ञातुमिच्छामि साश्वा मे भ्रातृनन्दनाः ॥ ५२ ॥
कथं गण्डशैलगर्भे संस्थितास्तत् समीरय ।
एवं राज्ञानुयुक्तोऽथ तज्ज्ञणः प्राह भूपतिम् ॥ ५३ ॥
श्रृणु राजन् प्रवक्ष्यामि पुराऽहं पृथिवीपतिः ।
समुद्रवलयां पृथ्वीमन्वशासं चिरं खलु ॥ ५४ ॥
महादेवप्रसादेन ज्ञात्वा चितिमधीश्वरीम् ।
त्रिपुरां लोकसंस्थानं नीरसं विमृशंस्तथा ॥ ५५ ॥

राजा तो लोकरक्षक होता है। जिसके राज्य में सुव्यवस्था होती है, उसके राज्य में ऋषि-मुनियों की तपस्या बाधारहित होती है। उसमें सदैव बढ़ोत्तरी होती है। किसी के यज्ञ में विघ्न डालना तो दैत्यों का स्वभाव होता है, मुनियों का कभी नहीं ॥ ४८ ॥

तुम खुशी-खुशी घोड़े के साथ राजकुमारों को इन्हें सौंप दो। इन्हें जल्द जाना चाहिए। कहीं यज्ञ का शुभ अवसर हाथ से निकल न जाय ॥ ४९ ॥

पिता की ऐसी आज्ञा सुनकर बेटे का गुस्सा बिलकुल शान्त हो गया। उसने उसी क्षण गुफा में घुसकर घोडे के साथ राजकुमारों को बाहर निकालकर महासेन को सौंप दिया ॥ ५० ॥

महासेन ने घोड़े के साथ राजकुमारों को नगर की ओर भेजकर विस्मयविमुग्ध होते हुए मुनि तज्ज्ञण को प्रणाम किया तथा पूछा ॥ ५१½ ॥

पूज्यवर ! कृपया यह बतलाने का कष्ट करें कि इस छोटी गुफा में अपने घोड़े के साथ मेरे भतीजे कैसे रहे ? ॥ ५२½ ॥

महासेन का ऐसा सवाल सुनकर तज्ज्ञण मुनि ने कहा—सुनो राजन् ! पहले मैं भी राजा था। बहुत दिनों तक इस समस्त धरती पर मैंने एकछत्र राज्य किया है ॥ ५३–५४ ॥

भगवान् महादेव की दया से चौदह भुवनों की मालिका चित्स्वरूपा भगवती त्रिपुरा को जानकर संसार की हर वस्तु फीकी महसूस होने लगी। दुनियावारी

निर्विण्णो लोकयात्रायां न्यस्य राज्यं सुतेष्वथ ।
प्राविशं वनमेतं वै भार्या मामन्वगात् सती ॥ ५६ ॥
तस्याभितप्यतो मेऽद्य ययुरर्बुदवत्सराः ।
भार्यापि मत्सेवनेन परां सिद्धिमुपागता ॥ ५७ ॥
कदाचिदथ भाव्यर्थगौरवान्मे प्रिया सती ।
समाधावेव कामार्त्तमानसाभूत् ततस्तु सा ॥ ५८ ॥
मां दृष्ट्वा रतिमिच्छन्ती समाधिस्थं स्थिरान्तरम् ।
असहन्ती कामवेगं भावयामास मद्रतिम् ॥ ५९ ॥
गाढभावनया प्राप्य सम्भोगं तु मया सह ।
दधार गर्भं सुषुवे पुत्रमेतं पुरः स्थितम् ॥ ६० ॥
पुत्रं न्यस्य मदुत्सङ्गे मां समाधेः प्रबोध्य च ।
देहं भूतेषु सात्कृत्य परव्योमाऽऽत्मतां ययौ ॥ ६१ ॥
अथ दृष्ट्वोत्सङ्ग एनं ज्ञात्वा तस्या गतिं पराम् ।
दयाक्रान्तमना जातस्तेनायं वर्द्धितो मया ॥ ६२ ॥
श्रुत्वा कदाचिन्मत्तोऽयं राज्यशास्ति पुरा कृताम् ।
राज्यशासनकामोऽभूत् प्रार्थयामास मामनु ॥ ६३ ॥

से जी बिलकुल हट गया। फिर एक दिन अपना सारा राज्य बेटों को सौंप कर खुद इस जङ्गल में तप के लिए चला आया। मेरी साध्वी पत्नी भी मेरे साथ चली आई ॥ ५५–५६ ॥

यहाँ तप करते मुझे एक अरब साल बीत गये। मेरी सेवा करते रहने से मेरी पत्नी को भी परम पद मिल गया ॥ ५७ ॥

बाद में होनी के सामर्थ्य से मेरी पत्नी का मन समाधि में लीन मुझे देखकर एक दिन कामातुर हो उठा ॥ ५८ ॥

मुझे देखकर उसे सहवास की याद हुई। किन्तु उसने देखा कि मैं समाधि में लीन बिलकुल अन्तर्मुख हूँ। फिर भी कामवेग को सहन नहीं कर पाने से उसने मेरे साथ संभोग की प्रबल भावना की ॥ ५९ ॥

पक्की भावना की वजह से वैसी स्थिति में ही उसे मेरा सम्पर्क मिल गया। वह गर्भवती हो गई। फिर यह सामने जो बेटा खड़ा है, उसको उसने जन्म दिया ॥ ६० ॥

उसने इस बेटे को मेरी गोद में रखकर मुझे समाधि से जगा दिया और स्वयं इस पाञ्चभौतिक देह को छोड़कर परब्रह्म में लीन हो गई ॥ ६१ ॥

इसे अपनी गोद में देख और उसे परमपद में लीन जानकर मेरा दिल दया से भर आया। मैंने इसे पाल-पोष कर बड़ा किया ॥ ६२ ॥

एक बार इसने मुझसे मेरी पिछली शाहनशाही की बात सुनी। इसके मनमें भी बादशाहत का चाव जग गया। इसके लिए उसने मुझसे विनती की ॥ ६३ ॥

ततो मदुपदेशेन प्राप्य योगर्द्धिमुत्तमाम् ।
निर्माय भावनायोगात् लोकमस्मिन् महाऽश्मनि ।। ६४ ।।
समुद्रवलयां पृथ्वीं शास्ति नित्यं सुतस्त्वयम् ।
तल्लोकेऽश्वः सुता राज्ञो निरुद्धास्ते हि मोचिताः ।। ६५ ।।
इत्येतत् ते समाख्यातं गण्डशैलेऽवरोधनम् ।
इति श्रुत्वा मुनिवचो भूयः पप्रच्छ भूपतिः ।। ६६ ।।
श्रुतं त्वदुक्तमेतद्वै महाश्चर्यकरं परम् ।
तं लोकं द्रष्टुमिच्छामि कृपया मे प्रदर्शय ।। ६७ ।।
इति सम्प्रार्थितो राज्ञा मुनिः पुत्रं समादिशत् ।
वत्सास्मै दर्शय स्वीयं लोकं सर्वं यथेप्सितम् ।। ६८ ।।
इत्युक्त्वा तङ्गणो भूयः प्रविवेश समाहितिम् ।
अथ तं तङ्गणसुतः समासाद्य नृपं ययौ ।। ६९ ।।
गण्डशैलं प्रति ततः प्राविशन्मुनिदारकः ।
प्रवेष्टुं नाशकद् भूप आह्वयत्तं मुनेः सुतम् ।। ७० ।।
सोऽपि गण्डशिलान्तस्थो राजानं समुपाह्वयत् ।
अथ भूयो विनिष्क्रम्य प्राह भूपं मुनेः सुतः ।। ७१ ।।
नृपैष लोकस्तेऽसाध्यः प्रवेष्टुं खल्वयोगिनः ।
अयोगाद् गण्डशैलोऽयं घनः सप्रतिघोऽभवत् ।। ७२ ।।

तब मैंने उसे योग की शिक्षा दी। शीघ्र ही उसने उत्तम योगबल प्राप्त कर मन की दृढ़ संकल्पशक्ति से इस विशाल पहाड़ में एक अभिनव विश्व की रचना की। मेरा यह बेटा आसमुद्र उस धरती पर शासन करता है। उसी दुनिया में इसने तुम्हारे घोड़े और शाहजादों को कैद कर लिया था, जिन्हें अब इसने छोड़ दिया है ।। ६४–६५ ।।

'इस तरह मैंने तुम्हें इस पहाड़ के भीतर कैद करने की बातें बतला दीं।' मुनि तङ्गण की बातें सुनकर महासेन ने फिर पूछा ।। ६६ ।।

आपके मुँह से मैंने अजीबोगरीब कहानी तो सुन ली। अब मैं उस दुनिया को अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ। दिखलाने की दया तो करें ।। ६७ ।।

राजा की विनती सुनकर मुनि ने अपने बेटे से कहा—'बेटे! तुम अपनी दुनिया इन्हें दिखला दो' ।। ६८ ।।

इतना कहकर तङ्गण मुनि फिर समाधि में लीन हो गये। ऋषिकुमार महासेन को साथ लेकर उस पहाड़ के पास पहुँचा। वह तो भीतर घुस गया, पर राजा तो बाहर ही छूट गया। उसने मुनिकुमार को पुकारा ।। ६९–७० ।।

उधर पहाड़ के भीतर से उसने भी राजा को पुकारा। फिर बाहर निकलकर राजा से कहा ।। ७१ ।।

नेतव्यस्तं सर्वथैव पितुर्वचनगौरवात् ।
तदत्र देहं विन्यस्य कोटरे तृणसंवृते ।। ७३ ।।
मनोमात्रशरीरः सन् शैलं विश मया सह ।
इत्युक्तः प्राह नृपतिरशक्तो देहनिर्गमे ।। ७४ ।।
कथं मुने देहमिममुत्सृजामि समीरय ।
उत्सृजामि यदि बलान्नाशमेष्यामि सर्वथा ।। ७५ ।।
एवं वदन्तं नृपतिं प्रहस्याह मुनेः सुतः ।
अहो योगानभिज्ञोऽसि चाऽस्तु नेत्रे निमीलय ।। ७६ ।।
इत्युक्त्वा मीलिताक्षं तं प्रविश्य निमिषार्द्धतः ।
आकृष्य तल्लिङ्गतनुं क्षिप्त्वा श्वभ्रे च तत्तनुम् ।। ७७ ।।
योगसामर्थ्यतः शैले निविश्य नृपसंयुतः ।
सुषुप्तं देहवैकल्यात् स्वसङ्कल्पोत्थदेहके ।। ७८ ।।
संयोज्य बोधयामास प्रबुद्धो नृपतिस्तदा ।
गृहीतं मुनिनाऽपश्यत् स्वं महागगने तदा ।। ७९ ।।
ऊर्ध्वं विष्वक् च सम्पश्यन् नभो भीममनन्तकम् ।
भीतः प्राह मुनेः पुत्रं मुने मां न परित्यज ।। ८० ।।

राजन् ! तुम योगी तो हो नहीं, अतः इस पहाड़ में घुसना तुम्हारे लिए सम्भव नहीं है । योगी नहीं होने की वजह से ही यह पहाड़ तुम्हें सघन और अवरोधक जान पड़ता है ।। ७२ ।।

फिर भी मेरे पिताश्री की आज्ञा है । अतः किसी भी तरह तुम्हें ले ही जाना पड़ेगा । घास-फूस से ढके इस गड्ढे में तुम अपनी देह छोड़कर केवल मनोमय देह से तुम इस पहाड़ में मेरे साथ घुसो ।। ७३ ।।

यह सुनकर राजा ने कहा — मैं देह छोड़कर बाहर निकलने में बिलकुल असमर्थ हूँ । आप ही बतलाओ, इस देह को छोड़कर मैं कैसे बाहर निकलूँ ? यदि इसके साथ जबर्दस्ती करूँ तो मेरा तो सर्वनाश ही हो जायेगा ।। ७४–७५ ।।

यह सुनकर मुनिकुमार ने कहा—ठीक ही तो बोलते हो, तुम योग जानते कहाँ हो ? ऐसा करो, तुम अपनी आँखें बन्द कर लो ।। ७६ ।।

उसके ऐसा कहने पर महासेन ने आँखें बन्द कर लीं । फिर पलक झपकते ही उसके साथ मुनिकुमार उस विशाल पहाड़ में समा गया । पहले उसने राजा की सूक्ष्म देह को बाहर खींचकर स्थूल देह को गड्ढे में डाल दिया । फिर अपने योगबल से उसे साथ लेकर शिला में घुस गया । देह से अलग होते ही वह चेतनाशून्य हो गया । फिर इसकी संकल्पशक्ति-निर्मित देह पाते ही राजा सचेत हो गया । तब उसने देखा कि ऋषिकुमार उसे महाकाश में पकड़े ले जा रहा है ।। ७७–७९ ।।

अपने ऊपर-नीचे, अगल-बगल बड़ा डरावना और बेहद आकाश-ही-आकाश

परित्यक्तो विनश्यामि पतिष्येऽहं निराश्रये ।
इति भीतं नृपं दृष्ट्वा प्रहस्याऽऽह मुनेः सुतः ॥ ८१ ॥
परित्यज भयं भूप नोत्सृजामि निशामय ।
एनं शैलान्तरस्थानं लोकं धैर्येण सर्वतः ॥ ८२ ॥
अथ धैर्यं समालम्ब्य नृपः समवलोकयन् ।
अधो दूरे सनक्षत्रमभ्रमन्धतमोवृतम् ॥ ८३ ॥
प्रविश्य तं देशमपि ततोऽधस्तात् प्रपश्यत ।
चन्द्रमण्डलमास्फीतं तत्राऽऽगत्य जडीकृतः ॥ ८४ ॥
चन्द्रमण्डलशीतेन मुनिपुत्रेण रक्षितः ।
अथ प्राप्य सूर्यलोकं तत्करैरभितापितः ॥ ८५ ॥
मुनिपुत्रेण योगेन शिशिरीकृतदेहकः ।
अपश्यल्लोकमखिलं स्वर्लोकप्रतिबिम्बवत् ॥ ८६ ॥
अथ शृङ्गे हेमगिरेर्मुनिना सह संस्थितः ।
मुनिप्रदर्शितं सर्वमपश्यत् पृथिवीपतिः ॥ ८७ ॥
देशान्तरावलोकाय मुनिदत्तशुभेक्षणः ।
अपश्यद् वलयात्मानं लोकालोकाख्यपर्वतम् ॥ ८८ ॥

देखकर वह बुरी तरह डर गया और घबरा कर कहा—'मुनिकुमार ! आप मुझे छोड़ मत देना । आप अगर मुझे छोड़ दोगे तो मैं बेसहारा गिरकर मर जाऊँगा । इस तरह घबड़ाये राजा को देखकर हँसते हुए मुनिकुमार ने कहा—॥ ८०–८१ ॥

राजन् ! मत डरो । मैं तुम्हें छोड़ूंगा नहीं । यह तो उस पहाड़ के भीतर मौजूद खास ढंग का लोक है । इसे धीरज के साथ चारों ओर देखो ॥ ८२ ॥

अब राजा ने जब सब्र के साथ देखा तो उसे बहुत दूर अंधेरे में डूबा टिमटिमाते तारों से भरा आकाश दिखायी दिया ॥ ८३ ॥

उस नक्षत्रलोक में घुसकर जब इसने नीचे की ओर देखा तो इसे महाविशाल चन्द्रमण्डल दीख पड़ा । वहाँ पहुँच कर जब ये ठंड से अकड़ने लगा तब मुनिपुत्र ने इसे ठंड से बचाया ॥ ८४½ ॥

फिर जब यह सूर्यलोक पहुँचा तो वहाँ यह सूर्य की किरणों से झुलसने लगा । फिर यौगिक क्रिया से उसने इसकी देह को ठंडा कर दिया । उसे ये समस्त लोक स्वर्ग की परछाई की तरह दिखायी दिये ॥ ८५–८६ ॥

फिर वह उस ऋषिकुमार के साथ ही हिमालय की चोटी पर उतरा । वहीं से उस बालमुनि के दिखलाने पर सारी वस्तुएँ देखने लगा ॥ ८७ ॥

वहाँ से ही अनेक देश-देशान्तरों को देखने की उसे दिव्यदृष्टि दे दी । फिर उसने अपने चारों ओर गोलाकार लोकालोक नामक पहाड़ को देखा ॥ ८८ ॥

तद्बहिर्ध्वान्तसन्दोहमन्तःसौवर्णमेदिनीम् ।
समुद्रान् सप्तद्वीपांश्च नदीगिरिसमाकुलान् ॥ ८९ ॥
भुवनान्यपि सर्वाणि चेन्द्राद्यान् विबुधोत्तमान् ।
दैत्यान् मनुष्यान् रक्षांसि यक्षकिम्पुरुषादिकान् ॥ ९० ॥
तत्राऽपश्यत् सत्यलोके वैकुण्ठे राजते नगे ।
मुनिपुत्रं स्वमात्मानं ब्रह्मविष्णुशिवात्मना ॥ ९१ ॥
विभज्य संस्थितं सर्वलोकसृष्टयादिहेतवे ।
अथोऽपश्यद् भूविभागे कृत्वा रूपान्तरं तथा ॥ ९२ ॥
प्रशासनपरो भूमेः सार्वभौमत्वमास्थितः ।
एवं मुनिकुमारस्य दृष्ट्वा योगर्द्धिमुत्तमाम् ॥ ९३ ॥
विस्मितोऽभून्महासेनस्ततः प्राह मुनेः सुतः ।
राजन्नेतल्लोकजातं पश्यतः काल अत्यगात् ॥ ९४ ॥
अर्बुदानां द्वादशकमितोऽप्यत्र दिनात्मकः ।
गच्छावो बाह्यलोकं तं यत्रास्ते जनको मम ॥ ९५ ॥
इत्युक्त्वा भूभृता तेन सह भूयः समागतः ।
पूर्ववत्तं गण्डशैलान्निर्गत्याभ्याययौ बहिः ॥ ९६ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे गण्डशैललोकावलोकने द्वादशोऽध्यायः ॥

उसके बाहर की ओर घोर अन्धेरा था और भीतर की ओर सुनहली धरती थी। इसके अलावा उसने सारे समुद्र, नदियाँ और पहाड़ों से भरे सातों द्वीप, चौदहों भुवन, प्रमुख देवता, दानव, मानव, राक्षस, यक्ष और किन्नर सब कुछ देखें ॥ ८९-९० ॥

वहाँ उसने यह भी देखा कि यह मुनिकुमार ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में स्वयं को बाँटकर ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ और कैलाश में खुद मौजूद हैं ॥ ९१½ ॥

फिर उसने यह भी देखा कि धरती पर एक दूसरा रूप धारण कर सार्वभौम सम्राट् के रूप में शासन कर रहा है ॥ ९२½ ॥

मुनिकुमार की ऐसी योगशक्ति देखकर महासेन अचम्भित हुआ। तब मुनिपुत्र ने उससे कहा ॥ ९३½ ॥

राजन्! इन लोकों का उपभोग करते हुए मुझे बारह अरब साल बीत चुके हैं और यहाँ केवल एक दिन ही बीता है। अब हम बाहर चलें। वहाँ तप में लीन मेरे पिताश्री हैं ॥ ९४-९५ ॥

इतना कहने के बाद महासेन को साथ लेकर वह फिर लौट आया। जैसे पहाड़ में घुसा था उसी तरह फिर बाहर निकल आया ॥ ९६ ॥

बारहवाँ अध्याय समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

मुनिपुत्रः पुनः शैलान्महासेने विनिर्गते।
विधाय मूर्च्छितं लिङ्गदेहं संस्कारमात्रकम् ॥ १ ॥
समादाय विनिर्गत्य प्राक्षिपत्तच्छरीरके।
उत्थापयामास तु तं जीर्णदेहसुसङ्गतम् ॥ २ ॥
अथोत्थितो महासेनो बाह्यलोकं समीक्ष्य तु।
भुवं जनांस्तरून् स्रोतोह्रदादींश्चापि नूतनान् ॥ ३ ॥
बभूव विस्मितोऽत्यन्तं पप्रच्छ मुनिनन्दनम्।
कतमो वै महाभाग लोकोऽयं मे प्रदर्शितः ॥ ४ ॥
पुरादृष्टादपूर्वोऽयं समाचक्ष्वैतदद्भुतम्।
इत्यापृष्टो मुनिसुतो महासेनमुवाच ह ॥ ५ ॥
शृणु राजन्नयं लोकः पूर्वं योऽस्माभिरास्थितः।
स एव चिरकालेन परिणामान्तरं गतः ॥ ६ ॥
शैललोकगतानां नो दिनमेकं यदत्यगात्।
तावतैवाऽत्र कालेन द्वादशार्बुदवत्सराः ॥ ७ ॥
अतिक्रान्ता अतो लोकस्त्वयं रूपान्तरं गतः।
भिन्नां व्यवहृतिं पश्य भाषां चापि समन्ततः ॥ ८ ॥

महासेन को पहाड़ से बाहर निकालते समय उसकी लिङ्गदेह को मुनिपुत्र ने बेहोश कर दिया था। उसकी भावनात्मक देह को लेकर उसकी स्थूलदेह में डाल दिया। पहली देह में जगह पाते ही उसने उसे होश में ला दिया ॥ १–२ ॥

होश आने पर महासेन ने जब बाहरी दुनिया को देखा तब दंग रह गया। धरती, आदमी, पेड़, सोतें और सरोवर सब-के-सब नये ही रूप में दीखे। उसने ऋषिकुमार से पूछा—महाभाग ! आपने यह कौन-सा लोक मुझे दिखला दिया ॥ ३–४ ॥

मैंने पहले जिस देश को देखा था, उससे तो यह अलग है। यह तो बड़े ताज्जुब की बात है। ऐसा पूछने पर उस किशोर मुनि ने कहा ॥ ५ ॥

सुनो राजन् ! यह वही जगह है जहाँ हम लोग पहले रहते थे। केवल बहुत दिन बीत जाने की वजह से यह बदली नजर आती है ॥ ६ ॥

पहाड़ की दुनिया में घूमते हमें जो एक दिन बीता था, उतने में ही यहाँ बारह अरब साल निकल गये हैं। यह इसीलिए बदला हुआ नजर आता है। यहाँ का बरताव बदल गया है। यहाँ की बोली भी बदल गई है ॥ ७–८ ॥

एवमेव जनानां तु कालेन भिद्यते स्थितिः ।
एवं मया तु बहुधा दृष्टा भिन्ना जगत्स्थितिः ॥ ९ ॥
पश्यैवमेष भगवान् समाहितमतिः पिता ।
सोऽयं देशो यत्र पूर्वं त्वया मे संस्तुतः पिता ॥ १० ॥
एनं पश्य महाशैलं यत्र मे लोक ईक्षितः ।
त्वद्भ्रातुर्वंशपुरुषा अतिक्रान्ताः सहस्रशः ॥ ११ ॥
यत्ते परं वङ्गदेशे सुन्दराख्यं स्थितं पुरा ।
तत्राऽभूत् सम्प्रति वनं व्याप्तं श्वापदमण्डलैः ॥ १२ ॥
त्वद्भ्रातुर्वंशजः सद्यो वीरबाहुरिति श्रुतः ।
मालवेशो विशालाख्ये क्षिप्रातीरे पुरेऽस्ति हि ॥ १३ ॥
तद्वंश्योऽपि सुशर्माख्यो द्राविडेष्वभवन्नृपः ।
वर्द्धने नाम नगरे ताम्रपर्णीसरित्तटे ॥ १४ ॥
लोकस्थितिरियं चेत्थं सर्वदा परिवर्त्तते ।
अल्पकालेनैवमेतदभवन्नूतनं जगत् ॥ १५ ॥
इतोऽपि चिरकालेन नगा नद्यो ह्रदा भुवः ।
अन्यथाभावमायान्ति एवमेव जगद्-गतिः ॥ १६ ॥

इसी तरह समय के साथ लोगों की हालत में बदलाव होता रहता है । मैंने तो अनेक बार इस दुनिया की बदलती दशा देखी है ॥ ९ ॥

देखो, यह वही जगह है जहाँ मेरे परमादरणीय पिता समाधि में लीन हैं । यह वही जगह है जहाँ तुमने इनकी स्तुति की थी ॥ १० ॥

सामने फैले इस बड़े पहाड को भी देखो, जिसके भीतर तुमने मेरी करामात देखी । तुम्हारे भाई के खानदान में भी अब तक हजारों पीढ़ी-दर-पीढ़ियाँ निकल चुकी हैं ॥ ११ ॥

तुम्हारे बंगाल में जहाँ पहले सुन्दरपुर नाम का पहाड़ी खूबसूरत शहर बसा था, वहाँ अब जानलेवा जानवरों से भरा एक बड़ा जंगल है ॥ १२ ॥

तुम्हारे भाई के वंश में पैदा वीरबाहु नामक एक विख्यात राजा है । वह मालव-नरेश कहलाता है । क्षिप्रा नदी के किनारे विशाल नामक नगर में वह रहता है ॥ १३ ॥

उसी खानदान में पैदा हुए दक्षिण भारत के द्रविड़ देश में सुशर्मा नामक एक राजा है । ताम्रपर्णी नदी के किनारे वर्द्धन नामक शहर में उसकी राजधानी है ॥१४॥

दुनिया की यह दशा हमेशा इसी तरह बदलती रहती है । थोड़े ही समय में यह दुनिया नई नजर आने लगती है ॥ १५ ॥

बहुत दिन बीत जाने के बाद आगे भी ये पहाड, नदियाँ, तालतलैये और धरती सब-के-सब कुछ दूसरे ही ढंग के हो जायेंगे । दुनिया की यही चाल है ॥ १६ ॥

गिरयो निम्नतां यान्ति निम्नदेशा महोच्चताम् ।
मरुदेशास्त्वनूपाः स्युः पर्वता बालुकामयाः ॥ १७ ॥
कठिना भूः शिलाप्राया भवेदत्यन्तकोमला ।
कोमला भूरपि भवेत् पाषाणसदृशी क्वचित् ॥ १८ ॥
ऊषरा भूरुर्वरा स्यादुर्वरोषररूपिणी ।
रत्नानि शर्कराः स्युर्वै रत्नात्मानस्तु शर्कराः ॥ १९ ॥
क्षारं जलं स्वादुरसं मधुरं क्षारतां गतम् ।
कदाचिन्नरबाहुल्यं कदाचित् पशुसञ्चयम् ॥ २० ॥
कदाचित् कृमिकीटादिप्रचुरं जगदीक्षितम् ।
एवमेतज्जगत् कालभेदात् परिणतं पृथक् ॥ २१ ॥
तस्मादयं पुराऽस्माकं लोक एवेदृशः स्थितः ।
इत्याकर्ण्य मुनिसुतवाक्यं स च महीपतिः ॥ २२ ॥
महासेनोऽत्यन्तशोकाविष्टो मूर्च्छामुपागतः ।
मुनिपुत्रसमाश्वस्तः प्रज्ञामासाद्य भूपतिः ॥ २३ ॥
अत्यन्तशोकसंविष्टो विललाप सुदीनवत् ।
भ्रातरं भ्रातृपुत्रांश्च दारान् स्वात्मन एव च ॥ २४ ॥
पुत्रादींश्च पृथक् स्मृत्वा विललापाऽतिदुःखितः ।

पहाड़ गड्ढे में बदल जाते हैं । निचली धरती बहुत ऊपर उठ जाती है । रेगिस्तान जरखेज जमीन बन जाते हैं और पहाडियाँ बालू का ढेर बन जाती हैं ॥१७॥

पथरीली धरती मुलायम बन जाती है और कोमल धरती कंकरीली बन जाती है ॥ १८ ॥

खारी जमीन उपजाऊ बन जाती है और उपजाऊ धरती ऊसर बन जाती है । इसी तरह रत्न रोड़े में बदल जाते हैं और रोड़े रत्न की सकल ले लेते हैं ॥ १९ ॥

कभी खारा पानी मीठा बन जाता है तो कहीं मीठा पेय खारा बन जाता है । कहीं आदमी ज्यादे होते हैं तो कहीं जानवरों का झुण्ड दीखलाई पडता है ॥ २० ॥

एक समय ऐसा था जब इस धरती पर कीड़े-मकोड़े ही बहुत ज्यादे दीखते थे । इस तरह समय के साथ यह दुनिया बदलती रहती है ॥ २१ ॥

इसीलिए हमारी पहली जगह ही इस समय ऐसी लगती है । बालमुनि की ऐसी बातें सुनकर महासेन गमगीन होकर बेहोश हो गया ॥ २२½ ॥

उस बालमुनि के बहुत ज्यादे समझाने पर वह होश में आया । फिर वह गमगीन होकर कातर की तरह रोने लगा ॥ २३½ ॥

वह अपने भाई, भतीजे, बेटे और पत्नी को अलग-अलग याद कर बहुत दुःखी होकर रोने लगा ॥ २४½ ॥

अथ तं मोहतो भ्रातृमुखान् शोचन्तमञ्जसा ॥ २५ ॥
मुनिपुत्रो वचः प्राह बुबोधयिषया नृपम् ।
राजंस्त्वं बुद्धिमान्नूनं तत्किमर्थं हि शोचसि ॥ २६ ॥
बुद्धिमन्तो हि विफलं जातु कुर्वन्ति कर्म नो ।
अविमृश्य फलं यस्तु कर्म कुर्यात् स बालिशः ॥ २७ ॥
तत्त्वं शोचसि कं ब्रूहि किमर्थं वा हि शोचनम् ।
इत्युक्तः प्राह तं भूपो महासेनोऽतिदुःखितः ॥ २८ ॥
किं न पश्यसि शोकस्य स्थानं मम महामुने ! ।
सर्वं यस्य हृतं तस्य कारणं पृच्छसीह किम् ॥ २९ ॥
एकस्मिन्नपि शोकः स्याद्धते लोकस्य सर्वथा ।
कुतस्त्वं पृच्छसि पुनः सर्वनाशे ह्युपस्थिते ॥ ३० ॥
इत्युक्तो मुनिपुत्रोऽपि भूयः प्राह हसन्निव ।
राजन् ब्रूहि किमेतत्ते कुलधर्मः सनातनः ॥ ३१ ॥
यच्छोचनमकृत्वा तु प्रत्यवायो महान् भवेत् ।
अथवा शोचिते नष्टं प्राप्यते भूय एव तत् ॥ ३२ ॥
राजन् विमृश धैर्येण शोचिते किं फलं भवेत् ।
नष्टेषु बन्धुषु यदि शोचितव्यं तदा शृणु ॥ ३३ ॥

इस तरह उसे प्यार की वजह से आदतन अपने लोगों के लिए गमगीन होते देख उसे समझाने के लिए मुनिकुमार ने कहा ॥ २५½ ॥

राजन् ! तुम तो बड़े समझदार हो, फिर गम क्यों करते हो ? होशियार लोग तो कभी फिजूल काम नहीं करते । जो आदमी बिना नतीजा सोचे ही कुछ कर गुजरता है, वही मूर्ख है ॥ २६–२७ ॥

"अच्छा, तुम यह तो बतलाओ, तुम्हारी यह गमी किसके लिए है और क्यों है ?" इस तरह पूछने पर महासेन ने बहुत ज्यादे गमगीन होकर कहा ॥ २८ ॥

मुनिवर ! क्या आपको मेरी गम की वजह दीख नहीं पड़ती ? भला, जिसका सब कुछ लुट जाय उससे आप शोक का कारण क्यों पूछ रहे हैं ? ॥ २९ ॥

जिसका कोई एक रिश्तेदार मर जाता है, उसके गम का तो ठिकाना नहीं रहता, फिर मेरा तो सब-का-सब खत्म हो गया, आप इस तरह पूछ कैसे रहे हैं ? ॥ ३० ॥

इस तरह कहने पर मुनिकुमार ने हँसते हुए कहा—राजन् ! यह तो बतलाओ, किसी के मरने पर शोक मनाना क्या तुम्हारा अनादिकाल से होता आनेवाला खानदानी रिवाज है ? जिससे गम न करने पर कोई बहुत बड़ा नुकसान हो जायेगा ? या गम करने से तुम्हें खोयी वस्तु मिल जायेगी ? ॥ ३१–३२ ॥

राजन् ! थोड़ा धीरज के साथ सोचो कि इस तरह गम करने से क्या फायदा होगा ? यदि मरे हुए रिश्तेदारों के लिए गम करना जरूरी हो तो फिर गुजरे जमाने

अतीता बन्धवो नष्टाः पितामहमुखाः खलु ।
तत् सर्वदा शोचितव्यं कुतः सर्वं न शोचितम् ।। ३४ ।।
अथ ते बन्धवः कस्य बन्धुत्वं वा कुतस्तव ।
मातापित्रोः स्वस्य वाऽपि पुरीषक्रमयो हि ये ।। ३५ ।।
असङ्ख्याताः स्वदेहोत्था देहसम्बन्धिनोऽपि च ।
न ते स्युर्बन्धवः कस्मात् कुतो वा ते न शोचिताः ।। ३६ ।।
राजन् विमृश कस्त्वं वै कान् विनष्टान् प्रशोचसि ।
देहस्त्वं देहभिन्नो वा देहः सङ्घातरूपकः ।। ३७ ।।
सङ्घातस्यैकदेशस्य वा नाशान्नाश उच्यते ।
प्रतिक्षणं त्वेकदेशनाशो देहस्य भावितः ।। ३८ ।।
मूत्रोच्चारश्लेष्मनखकेशादेः सन्ततं च यः ।
सर्वात्मना तु सङ्घातनाशो न हि विभाव्यते ।। ३९ ।।
भ्रात्रादेस्तव देहांशः स्यात् पृथिव्यादिषु स्फुटम् ।
अन्ततो देहगगनमविनाश्यस्ति केवलम् ।। ४० ।।
न त्वं देहः किं तु देही मद्देह इति भाषसे ।
यथा मद्वस्त्रमित्येवं स देहस्त्वं कथं वद ।। ४१ ।।

में जो तुम्हारे सगे-सम्बन्धी मर चुके हैं, उनके लिए हमेशा शोक ही मनाते रहना चाहिए था, तो फिर उन सबके लिए तुमने गम क्यों नहीं किया ? ।। ३३–३४ ।।

अच्छा, तो तुम्हारे वे रिश्तेदार भी दरअसल किसके थे और तुम्हारे साथ भी उनका रिश्ता कैसे हुआ ? देखो, माँ-बाप या अपने भी पाखाने में जो बेशुमार कीड़े होते हैं, वे अपनी देह से ही तो पैदा होते हैं। फिर इस देह से उनके नातें भी तो हैं। इन्हें अपने रिश्तेदार क्यों नहीं मानते ? और इनके लिए तुम शोक क्यों नहीं करते ? ।। ३५–३६ ।।

हे राजन् ! जरा सोचो, दरअसल तुम कौन हो ? किन मरे हुए लोगों के लिए तुम शोक कर रहे हो ? तुम देह हो या देह के अलावा कुछ और ? देह तो पंचभूतों का समूह है ।। ३७ ।।

उस पाँचभौतिक समूह की या उसके एक हिस्से की बरबादी को ही बरबाद होना कहते हैं। और देह के एक-एक टुकड़े का छीनना तो हर पल माना ही जाता है। जैसे—पेशाब, पाखाना, कफ और नख-बाल तो लगातार छीनते ही रहते हैं। फिर इस समूह की बरबादी तो कभी मानी ही नहीं जाती ।। ३८–३९ ।।

तुम्हारे भाई जैसे रिश्तेदारों की देहों का हिस्सा तो इन पञ्चभूतों में साफ-साफ देखा जा सकता है। अगर इनका भी नाश मान लिया जाय तो कम-से-कम इस देह में रहनेवाली निखालिस आत्मा तो कभी खत्म होनेवाली नहीं है ।। ४० ।।

दरअसल तुम देह नहीं, इस देह का मालिक हो। जैसे 'यह मेरा कपड़ा' कहते

यदि त्वं देहभिन्नोऽसि सम्बन्धः कोऽन्यदेहकैः ।
यथा भ्रात्रादिवासोभिर्नास्ति सम्बन्धलेशकः ॥ ४२ ॥
अविशेषात्तच्छरीरैर्विनष्टैस्तैः कथं शुचा ।
मच्छरीरं मदक्षाणि मत्प्राणो मन्मनस्त्विवति ॥ ४३ ॥
वदन् भवान् किंस्वरूपो वद मे पृच्छते नृप ! ।
एवमुक्तो महासेनो मुहूर्तं सुविचार्यं तु ॥ ४४ ॥
अप्राप्य तं मुनेः प्रश्ने प्राह दीनतरस्ततः ।
न जाने भगवन् कोऽहमिति सर्वात्मनाऽप्यहम् ॥ ४५ ॥
स्वभावतस्तु शोचामि कारणं तत्र नाविदम् ।
प्रपन्नस्त्वामहं दीनः किमिदं भगवन् वद ॥ ४६ ॥
सर्वे शोचन्ति यत् कस्मिन्नपि बन्धौ मृते सति ।
न स्वात्मानं विजानन्ति नाऽन्यं शोचन्ति चैव हि ॥ ४७ ॥
एतन्मे ब्रूहि भगवन् शिष्याय तव वै स्फुटम् ।
इति पृष्टो मुनिसुतो महासेनमथाऽब्रवीत् ॥ ४८ ॥
राजन् श्रृणु महादेव्या मायया मोहिता जनाः ।

हो, उसी तरह 'यह मेरी देह' भी कहते हो । अब तुम्हीं बताओ, तुम देह कैसे हो सकते हो ? ॥ ४१ ॥

यदि तुम इस देह से भी अलग हो तो दूसरों की देह से भी तुम्हारा क्या नाता हो सकता है ? जैसे सगे-सम्बन्धियों के कपडे से तुम्हारा कोई लगाव नहीं है और देह तथा कपडों में यदि भेद नहीं है तो फिर देह के खत्म होने पर तुम्हें शोक क्यों होता है ? ॥ ४२½ ॥

राजन् ! मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ, बतलाओ; जब तुम 'मेरी देह', 'मेरी इंद्रियाँ', 'मेरी जान', 'मेरा मन' – इस तरह कहते हो तब तुम्हारा रूप क्या हुआ ? ॥ ४३½ ॥

इस तरह पूछे जाने पर कुछ देर तक महासेन सोचता रहा और जब उस बाल-मुनि के सवाल का कोई जवाब नहीं मिला तब गिड़गिड़ाते हुए वह बोला – 'पूज्यवर ! हर तरह सोचकर मैं थक गया, पर मैं यह जान नहीं सका कि मैं कौन हूँ ? मैं केवल आदतन गम कर रहा हूँ, पर इस गम की वजह समझ में नहीं आती । मैं दुखिया आपकी शरण में हूँ । पूज्यवर ! बतलाइए, यह सब क्या है ? ॥ ४४–४६ ॥

किसी भी नातेदार की मौत पर तो सब रोते-कलपते हैं । वे भी न तो अपने आपको जानते हैं और न वे दूसरों के सही रूप को पहचानते हैं । फिर भी दुःखी होते हैं ॥ ४७ ॥

श्रीमान् ! मैं तो आपका शिष्य हूँ, 'यह क्या है ?' साफ-साफ मुझे समझा दीजिए । इस तरह महासेन के पूछने पर मुनिकुमार ने कहा ॥ ४८ ॥

स्वात्मानमविदित्वैव व्यर्थं शोचन्ति सर्वदा ॥ ४९ ॥
यावन्न विदितं स्वात्मसतत्त्वं तावदेव वै ।
जनाः शोचन्ति विज्ञाय भूयः शोचन्ति न क्वचित् ॥ ५० ॥
यथा निद्रामोहितात्मा स्वमविज्ञाय शोचति ।
ऐन्द्रजालिकमन्त्रोत्थमायया मोहितो नरः ॥ ५१ ॥
तत्प्रकल्पितसर्पादिभीत्या यद्वद्धि शोचति ।
तथैव मायया मुग्धः स्वमज्ञात्वा प्रशोचति ॥ ५२ ॥
यथा स्वप्नात् प्रबुद्धो वा ज्ञातैन्द्रजालिकागमः ।
न शोचति क्वचिच्चान्याञ्शुचा युक्तान् हसत्यपि ॥ ५३ ॥
एवं स्वात्मविदो मायामुक्ताः शोचन्ति न क्वचित् ।
शोचतस्त्वादृशान् मायामूढान् प्रविहसन्ति च ॥ ५४ ॥
तत्त्वं विज्ञायात्मतत्त्वं मायामुत्तीर्य दुर्गमाम् ।
जहि शोकं महाबाहो ! मोहोत्थं सद्विमर्शनात् ॥ ५५ ॥
इत्युक्तः पुनरप्याह महासेनो मुनीश्वरम् ।
भगवन् यस्त्वया प्रोक्तो दृष्टान्तो विषमः स हि ॥ ५६ ॥
स्वाप्नो वा मायिको वाऽपि शून्यात्मा भासते परम् ।
अयं जाग्रत्प्रपञ्चस्तु सत्यः सर्वार्थसाधकः ॥ ५७ ॥

सुनो राजन् ! देवी महामाया के प्रभाव से आदमी अपना सही रूप बिना जाने-समझे ही बेकार ही दुःखी होते हैं ॥ ४९ ॥

जब तक आदमी अपनी आत्मा के सही रूप को नहीं जानता तभी तक वह शोक करता है । उसे जान लेने पर कभी दुःखी नहीं होता ॥ ५० ॥

वस्तुस्थिति से अनजान सपने में डरा हुआ आदमी जैसे दुःखी होता है तथा किसी जादूगर के जादू से प्रभावित आदमी उसकी बाजीगरी करिश्मे से बनाये साँप से डरकर बहुत ज्यादे घबड़ा जाता है; उसी तरह मायामुग्ध अपने से अनजान आदमी ही इस पर दुःखी होता है ॥ ५१–५२ ॥

जैसे सपने से जगा हुआ तथा जादू जानने वाला आदमी इससे कभी दुःखी नहीं होता, बल्कि इससे घबड़ाने वाले लोगों को देखकर हँसता भी है; इसी तरह आत्मा के स्वरूप को पहचानने वाले मायामुक्त महापुरुष कभी दुःखी होते ही नहीं, प्रत्युत तुम्हारे जैसे शोक करने वाले मायामोहित लोगों को देखकर हँसते हैं ॥ ५३–५४ ॥

इसलिए तुम इस आत्मा के रहस्य को जानकर औघट (दुर्गम) माया को पार कर लो और हे महाबाहो ! अविनाशी आत्मा को जानकर मोहजनित दुःख को दूर करो ॥ ५५ ॥

ऐसा कहने पर महासेन ने फिर उनसे पूछा — भगवन् ! आपने जो सपने और बाजीगरी का उदाहरण दिया, वह कुछ ठीक नहीं जँचता ॥ ५६ ॥

सपने और जादू का जो जंजाल है उसके पीछे तो कुछ नहीं है, किन्तु यह

अबाधितः स्थिरश्चापि कथं स्वाप्नसमो भवेत् ।
इत्युक्तः पुनराचख्यौ मुनिपुत्रोऽतिबुद्धिमान् ॥ ५८ ॥
शृणु राजन् ! यत्त्वयोक्तं दृष्टान्तो विषमस्त्विह ।
एष मोहो द्वितीयस्ते स्वप्ने स्वाप्नस्य यादृशः ॥ ५९ ॥
स्वाप्नवृक्षोऽपि तत्काले किं न साधयते हितम् ।
पान्थानां किं न हरति तापं छायाप्रदानतः ॥ ६० ॥
फलाद्यैः स्वाप्नमर्त्यादीन्न तर्पयति किं वद ।
स्वप्ने क्व बाधितः स्वाप्नः क्वास्थिरश्चोपलक्षितः ॥ ६१ ॥
अखिलं बाधितं जाग्रद्दशायामिति चेच्छृणु ।
जाग्रत्प्रपञ्चोऽपि सर्वः सुषुप्तौ किं न बाधितः ॥ ६२ ॥
न बाधितः परदिनेऽप्यनुवृत्तेस्तथेति चेत् ।
स्वाप्नस्यापि परदिने नाऽनुवृत्तिः क्व वा वद ॥ ६३ ॥
नाऽनुवृत्तिर्भाति स्वप्ने इति चेन्नृपते ! शृणु ।
जाग्रत्यपि क्वानुवृत्तिभासो नव्याऽवभासके ॥ ६४ ॥
नव्येऽनुवृत्त्यभानेऽपि भात्यन्यत्रेति चेच्छृणु ।

जाग्रत् प्रपंच तो सच्चा है; हर तरह के काम पूरा करने वाला है। इसमें तो किसी तरह की रुकावट नजर नहीं आती। यह स्थिर भी है, फिर यह सपने की तरह कैसे हो सकता है ? यह सुनकर बुद्धिमान् मुनिकुमार ने कहा ॥ ५७–५८ ॥

सुनो राजा, तुम ने जो कहा कि 'सपने और जादूगरी का उदाहरण यहाँ ठीक नहीं बैठता' यह तुम्हारी दूसरी भूल है। जैसे सपने में सपना देखने वाले को कोई दूसरी भूल हो जाय ॥ ५९ ॥

सपने में दीखने वाला पेड़ क्या सपने के समय फायदेमन्द नहीं होते ? क्या उस समय छाया देकर राही की थकावट दूर नहीं करते ? ॥ ६० ॥

या फल देकर सपने के आदमी को वे नहीं अघाते। क्या सपने की चीज कभी सपने में रोकी जा सकती है या डावाँडोल होती है ? ॥ ६१ ॥

यदि यह कहो कि सपने के सारे दृश्य जगने पर तो रुक ही जाते हैं। तो सुनो, जगे हुए का सारा जंजाल सपने में रुक नहीं जाता ॥ ६२ ॥

यदि कहो, दूसरे दिन भी तो वह दुहराती है, इसलिए उसकी रुकावट नहीं होती, तो फिर तुम्हीं बताओ, सपने में देखी गई वस्तु दूसरे दिन क्या याद नहीं आती ? ॥ ६३ ॥

यदि कहो सपने में पहले का दृश्य दुहराता नहीं तो सुनो जागने पर भी इस दुहराने का ज्ञान नहीं होता। उस अवस्था में भी तो नई-नई चीज ही दीखती है ॥ ६४ ॥

यदि कहो कि नये-नये पदार्थों की प्रतीति होने पर भी धरती प्रभृति पदार्थ तो

तथा स्वप्नेऽपि भात्येवाऽनुवृत्तिः स्थिरभासने ॥ ६५ ॥
मृषानुवृत्तिस्तत्रेति चेज्जाग्रत्यपि सा तथा ।
सूक्ष्मबुद्धया विमृश तद्वस्तु जाग्रति संस्थितम् ॥ ६६ ॥
देहवृक्षनदीदीपादिकं क्षणविभेदितम् ।
कथं तदनुवृत्तिर्वै भवेदवितथात्मिका ॥ ६७ ॥
अचलानामपि न हि द्वितीयक्षणसङ्गतम् ।
रूपमस्ति सर्वदैव निर्जरैर्भेदितात्मनाम् ॥ ६८ ॥
मूषकैरुपदीकाभिः शूकरैर्निर्झरादिभिः ।
सर्वतस्तु विभिद्यन्ते पर्वताः सर्वदैव हि ॥ ६९ ॥
पर्वताम्बुधिभूमुख्या अप्येवं क्षणभेदिनः ।
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि पश्य सूक्ष्मधिया नृप ! ॥ ७० ॥
परिच्छिन्नाऽनुवृत्तिर्हि समैव स्वाप्नजाग्रतोः ।
अपरिच्छिन्नाऽनुवृत्तिः कार्येष्वत्यन्तदुर्लभा ॥ ७१ ॥
अनुवृत्तिः कारणेन रूपेणास्ति हि सर्वदा ।
इति चेत्कारणं रूपं पृथिव्यादिमयं किल ॥ ७२ ॥
तच्चाऽनुवृत्तस्वप्नेऽपि पृथिव्यादेर्हि भासनात् ।

जैसे-के-तैसे ही रहते हैं, तो फिर सपने भी स्थायी पदार्थों के साथ कुछ चीजें तो दुहराती ही रहती हैं ॥ ६५ ॥

यदि तुम्हारे विचार से सपने का दुहराना झूठा है तो जगने पर भी तो वह स्थिति वैसी ही है । जगे हुए में उन स्थिर वस्तुओं के बारे में जरा सोचो तो ॥ ६६ ॥

देह, पेड़, नदी और दीये प्रभृति तो पल-पल में बदलते ही रहते हैं । फिर उनका दुहराना सच कैसे हो सकता है ? ॥ ६७ ॥

पहाड जैसे अचल माने जाने वाली वस्तु भी तो प्रकृति के प्रभाव में छीनते ही रहते हैं, वे भी तो जैसे-के-तैसे नहीं रहतें ॥ ६८ ॥

चूहे, दीमक, सूअर और झरनों की वजह से पहाड़ में हर जगह बदलाव होता है । इस तरह समुद्र और पहाड़ भी पल-पल बदलने वाले ही हैं ॥ ६९½ ॥

अब जो मैं कहता हूँ उस पर थोडा गौर करो । थोड़ी अनुरूपता तो सपने में और जगने में समान रूप से होती ही है । यों काम के समूह में अनुवृत्ति खोजना तो असंभव ही है ॥ ७०-७१ ॥

यदि कहा जाय, कारण रूप से तो जाग्रत् अवस्था में भी हमेशा पदार्थों की अनुवृत्ति होती ही रहती है । तो कारण का स्वरूप तो पृथ्वी आदि पंचभूतमय ही है । ये तो सपने में भी अनुवृत्त होते ही हैं, क्योंकि वहाँ भी पंचभूतों का बोध होता ही है ॥ ७२ ॥

यदि कहा जाय, सपने में दीखने वाली वस्तु तो जगने पर नहीं दीख पड़ती है ।

अथ स्वाप्नस्य बाधो हि जाग्रति ह्यनुभूयते ।। ७३ ।।
न जागरस्य बाधस्तु भासते कस्यचित् क्वचित् ।
इति चेच्छृणु वक्ष्यामि बाधो ह्यनवभासनम् ।। ७४ ।।
सुषुप्तौ सर्वजगतोऽप्यनुभूतं ह्यभासनम् ।
अथ बाधो ह्यप्रमाणदर्शनं चेत्तदा शृणु ।। ७५ ।।
अप्रमाणदृशिर्नास्ति भ्रान्तानां त्वादृशां खलु ।
ज्ञातविज्ञेयतत्त्वानामप्रामाण्यदृशिः स्फुटा ।। ७६ ।।
तस्मादिदं दृश्यजालं स्वाप्नदृश्यसमस्थितिः ।
दीर्घकालोऽपि च स्वप्ने भासते निर्विशेषतः ।। ७७ ।।
तस्मादबाधितो ह्यर्थक्रियाकारी स्थिरोऽपि च ।
स्वाप्नभावस्तेन तुल्यो जाग्रद्भावोऽपि सर्वशः ।। ७८ ।।
यथा जाग्रति जाग्रत्त्वं गृहीतं जागरे स्फुटम् ।
स्वप्नेऽपि जागरत्वं तु गृहीतं तद्वदेव हि ।। ७९ ।।
एवं स्थिते कुतो राजन् विशेषः स्वप्नजाग्रतोः ।
तत्स्वाप्नान्निजबन्धूंस्त्वं न हि शोचसि वै कुतः ।। ८० ।।
केवलं भावनामात्रात् सत्यता जगति स्थिता ।
शून्यताभावनेनाऽपि शून्यं निष्प्रतिघं भवेत् ।। ८१ ।।

किन्तु जगने की स्थिति का बाध कभी किसी को नहीं दीखता तो इसका जवाब है—'बाध' का अर्थ 'नहीं दीखना' सो तो सपने में सारी दुनिया का 'न दीखना' महसूस होता है ।। ७३-७४½ ।।

और 'बाध' का अर्थ तुम यदि 'अप्रमाण दर्शन' अर्थात् 'झूठ देखना' करो तो सुनो तुम जैसे भ्रान्त लोगो ! वह 'अप्रमाण दर्शन' की आँख नहीं है। जिस महापुरुष को ज्ञेयतल की पहचान होती है, उन्हें ही स्पष्टतः अप्रमाण दर्शन की दृष्टि होती है ।। ७५-७६ ।।

अतः यह दुनिया का जंजाल सपने की ही तरह है। सपने में भी समान रूप से लम्बे अरसे की प्रतीति होती ही है ।। ७७ ।।

अतः सपने में सपने की सृष्टि भी बाधित न होने वाली, प्रयोजन पूरा करने वाली और स्थिर ही है। संसार की सृष्टि भी बिलकुल उसी की तरह है ।। ७८ ।।

जगने पर जैसे 'यह दुनिया है' इसका साफ-साफ बोध होता है। उसी तरह सपने में भी लगता है कि यह जाग्रत् ही है ।। ७९ ।।

हे राजा ! बताओ, इस हालत में भला जगने और सपने में क्या फर्क है ? फिर तुम अपने सपने के नातेदारों के लिए शोक क्यों नहीं करते ? ।। ८० ।।

केवल विचार से ही दुनिया में सच्चाई दीख पड़ती है। यदि इसमें शून्यता की भावना की जाय तो यह शून्य एवं रुकावट रहित जान पड़ेगी ।। ८१ ।।

भावना ह्यप्रमाणत्ववैधुर्येण स्थिरीकृता ।
भवेत्तदात्मभावेन सत्यमेतन्महीपते ! ॥ ८२ ॥
निदर्शनं त्वत्र चेदं यज्जगद् दृष्टमेव ते ।
इमं शैलं परिक्रम्य यौ हि पश्याव सम्प्रति ॥ ८३ ॥
इत्युक्त्वा नृपतिं हस्ते गृहीत्वा परिचक्रमे ।
परिक्रम्य गण्डशैलं राज्ञा सह समेत्य तु ॥ ८४ ॥
पुनः प्राह महासेनं मेधावी मुनिनन्दनः ।
राजन् ! दृष्ट एष शैलः पादगव्यूतिमात्रकः ॥ ८५ ॥
दृष्ट एवास्य गर्भे ते लोकः सुविततः स्फुटः ।
एष जाग्रदुत स्वप्नः सत्यो मिथ्यात्मकोऽपि वा ॥ ८६ ॥
शैललोके यद्दिनैकं तदत्र द्वादशाऽर्बुदाः ।
वत्सरास्त्वनुभूतास्ते सत्यासत्ये विवेचय ॥ ८७ ॥
विवेचनं नास्य भवेत् स्वप्नयोर्भिन्नयोरिव ।
तस्मादेतद्विद्धि जगद्भावनामात्रसारकम् ॥ ८८ ॥
अभाव्यमानं चैतत्तु लीयेत क्षणमात्रतः ।
तस्माच्छोकं जहि नृपावेक्ष्य स्वाप्नसमं जगत् ॥ ८९ ॥
स्वाप्नचित्रभित्तिभूतं स्वात्मानं संविदात्मकम् ।
दर्पणप्रतिमं मत्वा संस्थितोऽसि यथा तथा ॥ ९० ॥

इस विचार में झूठापन की बुद्धि नहीं होने की वजह से यह खयाल मजबूत हो गया है । आत्मभाव होते ही यह सचमुच भावना ही तो जान पड़ेगी ॥ ८२ ॥

इस समय तुमने जो दुनिया देखी है, वह तो इसका एक उदाहरण मात्र है । यदि चाहो तो इस पहाड़ को घूमकर फिर देख लो ॥ ८३ ॥

इतना कहकर उस बालमुनि ने राजा का हाथ पकड लिया और पहाड़ के चारों ओर उसे घूमाकर फिर उससे कहा—॥ ८४ ॥

राजन् ! तुमने देखा, यह पहाड़ मुश्किल से एक मील अर्थात् आधा कोस है । पर इसके भीतर साफ तौर पर एक बहुत बड़ी दुनिया देखी है । यह जाग्रत् था कि सपना ? सच था या झूठ ? ॥ ८५–८६ ॥

पहाड़ के भीतर जो एक दिन था, वही यहाँ तुम्हारे विचार में बारह अरब साल हुए । इन दोनों अनुभव में सच और झूठ का तुम खुद निर्णय करो ॥ ८७ ॥

अलग-अलग दो सपने की तरह एक को सच और दूसरे को झूठ कहकर विवेचन नहीं किया जा सकता । मतलब, यह सारी दुनिया एक भावना मात्र है ॥ ८८ ॥

यदि भावना न हो तो यह एक पल में खतम हो जाय । अतः राजन् ! शोक छोड़ दो । इस दुनिया को भी एक सपना ही समझो ॥ ८९ ॥

जाग्रच्चित्रदर्पणं चावेह्यात्मानं चिदात्मकम् ।
परमानन्दितस्वान्तो भव शीघ्रं महीपते ! ॥ ९१ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे शैललोकदर्शनं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

संसार रूपी सपने की तसवीर की दीवार अपनी ही चित्स्वरूपा आत्मा है। उसे आईने की तरह इसका आधार मान कर तुम जैसे चाहो रहो ॥ ९० ॥

पृथ्वीपति ! अपनी चैतन्य आत्मा को जगी स्थिति की परछाई का दर्पण मान कर तुम अपने भीतर परमानन्द का अनुभव करो ॥ ९१ ॥

चतुर्दशोऽध्यायः

इत्याकर्ण्य मुनिवचो विचार्य शुभया धिया ।
जगत्स्थितिं स्वाप्नसमां ज्ञात्वा शोकं जहौ द्रुतम् ।। १ ।।
धैर्यमालम्ब्य निःशोको भूयोऽपृच्छन्मुनेः सुतम् ।
मुनिपुत्र ! महाबुद्धे ! त्वं पराऽवरदर्शनः ।। २ ।।
ततोऽप्यविदितं किञ्चिन्मन्ये स्यादिति लेशतः ।
पृच्छामि यदहं तन्मे कृपया वक्तुमर्हसि ।। ३ ।।
भावनाप्रभवं ह्येतत् सर्वं वदसि तत् कथम् ।
मया भूयो भाविते च न बहिः सर्वथा भवेत् ।। ४ ।।
त्वया तु भावनासिद्धया शैललोकः प्रकल्पितः ।
अथाऽपि देशः कालश्च युगपद् द्विविधः कथम् ।। ५ ।।
तत्राऽसत्यमन्यतरत् कतमं तन्ममेरय ।
इति पृष्टो मुनिसुतः प्रवक्तुमुपचक्रमे ।। ६ ।।
सङ्कल्पो भावना प्रोक्ता सिद्धाऽसिद्धेति सा द्विधा ।
सिद्धिर्विकल्पासम्भेदो (ऽ) विकल्पस्त्वेकनिष्ठितेः ।। ७ ।।

महासेन ने मुनिपुत्र की बातें सुनकर एक अच्छे अक्लमंद की तरह इस पर गौर किया और दुनिया के जंजाल को सपने की तरह मानकर उसी समय से गम करना छोड़ दिया ।। १ ।।

फिर सब्र के साथ शोकरहित होकर उसने मुनिकुमार से पूछा—हे मुनिकुमार ! आप तो बड़े ही अक्लमंद हैं, आगे-पीछे सब कुछ जाननेवाले हैं ।। २ ।।

फिर भी मुझे अभी थोड़ी-सी बातें अनजान जैसी जान पडती है, उसके बारे में कुछ सवाल करता हूँ । कृपया आप समझा दें ।। ३ ।।

आप कहते हैं ये सारी बातें भावना से हुई है, वह कैसे ? क्योंकि मैं जिनकी भावना करता हूँ, वह वस्तु तो बाहर बिलकुल दीखती ही नहीं ।। ४ ।।

भावना की सिद्धि की वजह से आपने निश्चय ही पहाड़ के भीतर मौजूद लोक की कल्पना कर ली है । फिर भी बाहर की दुनिया और पहाड़ के भीतर की दुनिया साथ होने पर भी इनमें देश और काल का भेद क्यों हैं ? ।। ५ ।।

दोनो दुनिया में कोई एक तो झूठ होगी ही, वह कौन है ? यह मुझे बतला दें । इस तरह पूछने पर मुनिपुत्र ने कहना शुरू किया ।। ६ ।।

पक्का इरादा को ही भावना कहते हैं और वह पक्का और कच्चा दो तरह का

ब्रह्मभावनया पश्य जातं जगदिदं ननु।
एतत् सर्वैः सत्यरूपं भावितं सुदृढत्वतः ॥ ८ ॥
तथा स्वसङ्कल्पभवे नास्ति कस्याऽपि भावना।
विकल्पसम्भेद एषोऽसिद्धा तस्माद्विभावना ॥ ९ ॥
भावनायाः सिद्धिरत्र बहुधा संस्थिता भवेत्।
जन्मना मणिना तद्वदौषधेन च योगतः ॥ १० ॥
तपसा मन्त्रसिद्ध्या च वरेण च भवेन्नृपः।
जन्मना ब्रह्मणः सा वै मणिना यक्षरक्षसाम् ॥ ११ ॥
औषधेन तु देवानां योगिनां योगतो भवेत्।
तपसा तापसानां सा मान्त्रिकाणां तु मन्त्रतः ॥ १२ ॥
विश्वकर्ममुखानां च वरप्राप्त्या हि साऽऽभवत्।
सङ्कल्पिते तथा भाव्यं पूर्वविस्मरणे सति ॥ १३ ॥
स्थिरं तावद्भवत्येवं यावत् पूर्वं न हि स्मरेत्।
एवमेव निर्विकल्पभावना यदि सुस्थिरा ॥ १४ ॥
अनिच्छया विकल्पस्य यावत् सम्भेदनं न हि।
तावत् सा भावना सिद्धा साधयेद्वै महाफलम् ॥ १५ ॥

होता है। ऐसे इरादे में संदेह की गुंजाइश नहीं होती। यह तो पक्का है, संदेह न होने का मतलब है—किसी एक में लग जाना ॥ ७ ॥

इस दुनिया को तुम विधाता की पक्की भावना से उत्पन्न जानो। काफी मजबूती की वजह से ही इसे हर व्यक्ति सच मान रहा है ॥ ८ ॥

और तुम्हारी अपनी भावना से उत्पन्न दुनिया में किसी और की सच्ची भावना नहीं होती। इसमें तुम्हारे विकल्प का ही मेल रहने के कारण यह भावना सिद्ध नहीं होती ॥ ९ ॥

राजन्! इस भावना की सिद्धि कई तरह से होती है। जन्म से, कीमती रत्न से, औषधियों से, योग से, तपस्या से, मन्त्र की सिद्धि से या किसी के वरदान से ॥१०½॥

जन्म से विधि को, रत्न से यक्ष और राक्षसों को, औषधि से देवता को, योग से योगी को, तप से तपस्वी को, मन्त्र से मांत्रिक को और वर से विश्वकर्मा आदि को यह सिद्धि मिली थी ॥ ११–१२½ ॥

इरादा इतना मजबूत हो कि पिछली सारी इच्छाएँ विस्मृत हो जाएँ। ऐसा संकल्प तब तक सुदृढ़ रहता है जब तक पूर्व संकल्प न स्फुरे ॥ १३½ ॥

इसी तरह बदलाव रहित मन की चाह जब बिलकुल स्थिर हो जाती है और फिर किसी तरह की इच्छा नहीं रहने की वजह से ही, जब तक उससे किसी तरह की भ्रान्ति का लगाव नहीं होता, तब तक वह सिद्ध भावना बड़ा ही शुभ फल देने वाली बनी रहती है ॥ १४-१५ ॥

सम्भेदात्तु विकल्पेन न सिद्धा तव भावना।
भावनां साधय क्षिप्रं यदि स्रष्टुं समीहसि ॥ १६ ॥
शृणु राजन् ! देशकालद्वैविध्यं वदतो मम।
अव्युत्पन्नोऽसि लोकस्य व्यवहारे ह्यतस्तव ॥ १७ ॥
एतच्चित्रं भासते वै शृणु सम्यग् ब्रवीमि ते।
जगद्भावस्वभावोऽयं विविधत्वेन भासनम् ॥ १८ ॥
एक एव हि सर्वस्य प्रकाशो द्विविधः स्थितः।
दिवान्धानामन्धकार इतरेषां तु भासकः ॥ १९ ॥
जलं मनुष्यपश्वादेः श्वासस्य प्रतिरोधकम्।
मत्स्यादीनां बहिः श्वासप्रतिरोधो जले न हि ॥ २० ॥
अग्निर्दहति मर्त्यादीँस्तं भक्षयति तित्तिरिः।
वह्निर्नश्यति तोयेन स जले ज्वलति क्वचित् ॥ २१ ॥
एवं सर्वे जागतास्तु भावा द्वैरूप्यतः स्थिताः।
एवं सेन्द्रियवृत्तान्तास्त्वन्ये केऽपि निरिन्द्रियाः ॥ २२ ॥
स्वभावतो विरुद्धा वै शतशोऽथ सहस्रशः।
अत्रोपपत्तिं वक्ष्यामि समाहितमनाः शृणु ॥ २३ ॥

भ्रान्ति का लगाव बने रहने की वजह से ही तुम्हारी भावना सिद्ध नहीं हुई है। फिर यदि तुम दुनिया का फैलाव चाहते हो तो शीघ्र ही अपनी भावना को सिद्ध करो ॥ १६ ॥

सुनो राजन् ! अब इस दुनिया और पहाड़ के भीतर की दुनिया के देशकाल के दोरूखापन का भेद बतलाता हूँ। क्योंकि तुम सही माने में दुनियादारी को नहीं समझते हो, इसीलिए तुम्हें यह बात विलक्षण ही लगती है। मैं तुम्हें साफ-साफ समझाता हूँ, सुनो। अनेक रूपों में दिखलाई पड़ना तो इस दुनिया की प्रकृति ही है ॥ १७-१८ ॥

सबके लिए उजाला का एक ही रूप है। फिर भी वह दोरूखा है। दिन में अन्धे की तरह उल्लू को नहीं दीखता, पर दूसरे जीवों को तो वह उजाला ही दीखता है ॥ १९ ॥

पानी आदमी और जानवर दोनों को साँस लेने में कठिनाई पैदा करता है। किन्तु उसी पानी में मछली आराम से साँस लेती है और वहाँ से बाहर उसका दम घुटता है ॥ २० ॥

आग आदमी तथा अन्य जीवों को जलाती है; जब कि तीतर उसे खाता है। आग बाहर पानी से बुझती है और कहीं पानी के भीतर जलती भी है ॥ २१ ॥

इस तरह संसार की सारी वस्तुएँ दोरुखी हैं। इनमें कुछ तो इन्द्रियग्राह्य हैं और कुछ इन्द्रियों की पकड़ से बाहर हैं ॥ २२ ॥

एते हि चाक्षुषा भावाश्चक्षुर्विकृतिमात्रकाः ।
न चाक्षुषादंशतोऽन्यद् दृश्यमस्ति क्वचिद्बहिः ॥ २४ ॥
यथा पित्तप्रदुष्टाक्षो बहिः पीतं प्रपश्यति ।
यथा तैमिरिकोऽन्यस्तु पश्यत्येकं द्विधा स्थितम् ॥ २५ ॥
एवं विचित्रदुष्टाक्षाः पश्यन्ति विविधं जगत् ।
अस्ति पूर्वसमुद्रस्य मध्ये करण्डकाह्वयः ॥ २६ ॥
द्वीपस्तत्र जना भावान् रक्तान् पश्यन्ति वै सदा ।
एवं रमणकद्वीपे सदा पश्यन्ति वै जनाः ॥ २७ ॥
व्यत्यस्तमूर्ध्वाधरतो निखिल भावमण्डलम् ।
एवमन्येषु द्वीपेषु विविधा भावमण्डलम् ॥ २८ ॥
जना नेत्रस्वभावेन पश्यन्ति खलु सर्वदा ।
तत्र तेषामन्यथा तु दृश्यते यदि कुत्रचित् ॥ २९ ॥
नेत्रं सुसाध्यौषधेन पश्यन्ति प्राग्वदेव हि ।
अतस्तु चक्षुषा यावद् दृश्यते जगतीतले ॥ ३० ॥
तावद्भवेच्चाक्षुषोंऽशः पीतवत् पीतचक्षुषः ।

इस तरह सैकड़ों-हजारों वस्तु आपस में एक-दूसरे के आदतन खिलाफ हैं। मैं इनकी पैदाइश बतलाता हूँ; सचेत होकर सुनो ॥ २३ ॥

इन आँखों से दीख पड़ने वाली वस्तु केवल आंखों की ही खराबी हैं। आँखों का तमाशा आँखों के विभाग से बाहर कुछ नहीं होता ॥ २४ ॥

पीलियारोगग्रसित आँखों को सारी दुनिया जैसे पीली-ही-पीली नजर आती है; उसी तरह रतौंधी रोग से पीड़ित आँखों वाले को एक ही वस्तु दो दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार तरह-तरह के नेत्रदोषों से दूषित आँखों वाले दुनिया को अनेक रूप में देखते हैं ॥ २५ ॥

पूर्वीय सागर में करण्डक नाम का एक टापू है। वहाँ की हर चीज हर हमेशा लाल-ही-लाल दिखलाई पड़ती है ॥ २६½ ॥

इसी तरह रमणक द्वीप में सारी-की-सारी चीजें हर आदमी को उलटी ही दीखती है। नीचे की ओर सिर तथा ऊपर की ओर पैर ॥ २७ ॥

इसी तरह हर द्वीप में हर आदमी अपनी आँखों की आदत के अनुसार हर चीज को अलग-अलग हमेशा देखा करते हैं ॥ २८½ ॥

वहाँ उन्हें यदि कोई चीज दूसरे तरह से दिखाई देती है तो औषधि प्रयोग से अपनी आँखों को ठीक कर उसे पहले ही की तरह देखने लगते हैं ॥ २९ ॥

अतः दुनिया में जो कुछ हम देखते हैं, वह पीलियारोगग्रस्त आँखों से दीखने वाले पीलेपन की तरह उस आँख का ही एक हिस्सा होता है ॥ ३० ॥

इसी तरह अच्छी या बुरी महक भी तो नाक का ही करिश्मा है। यह सारी

एवं घ्राणादीन्द्रियाणामंशा गन्धादयोऽपि हि ॥ ३१ ॥
मानसाश्च मनोमात्रास्तथैवाऽखिलजागताः ।
क्रमोऽप्यक्षस्वभावोत्थस्ततः किञ्चिद् बहिर्न हि ॥ ३२ ॥
शृणु राजन् ! बहिरिति यल्लोके भाति केवलम् ।
तदाद्यं सर्वजगतां जगच्चित्रस्थभित्तिवत् ॥ ३३ ॥
तस्य बाह्यस्य वक्तव्यमपादानं ध्रुवं ननु ।
शरीरं स्यादपादानं नेतरद्भवितुं क्षमम् ॥ ३४ ॥
तस्याऽपि बहिराभासादपादानं कथं नु तत् ।
पर्वताद् बहिरित्युक्ते पर्वतो न बहिर्भवेत् ॥ ३५ ॥
यथा घटो भासते हि प्राहुस्तद्वच्छरीरकम् ।
भासकाद् बहिरित्येवं वक्तुं वाऽपि न सम्भवेत् ॥ ३६ ॥
दीपसूर्यालोकबहिर्गतान्तं न हि भासनम् ।
अतस्तु भासकस्यान्तर्भास्यमस्तीति युज्यते ॥ ३७ ॥
भासकं तु न देहादिर्भास्यत्वात् पर्वतादिवत् ।
न सर्वथा यत्तु भास्यं भासकं तद्धि युज्यते ॥ ३८ ॥

दुनिया के जो मन की कल्पना से उत्पन्न विचार हैं, वे सब केवल मन ही तो हैं। देश-काल, बड़े-छोटे आदि का सिलसिला जो चल रहा है, वह भी इन इन्द्रियों की आदत के ही भीतर हैं ॥ ३१–३२ ॥

सुनो राजन् ! संसार में जो बाहर इस तरह दीख रहा है, वही सारी दुनिया की जड़ है। दुनिया रूपी तस्वीर की दीवार भी तो यही है ॥ ३३ ॥

किन्तु उस 'बाहर' का भी कोई निश्चित 'अलगाव' होना चाहिए। यह अपादान अर्थात् अलगाव तो शरीर ही है और कोई चीज तो हो भी नहीं सकती ॥ ३४ ॥

किन्तु यह देह भी तो बाहर ही दीखती है। ऐसी दशा में वह अपादान कैसे हो सकती है ? क्योंकि यदि हम 'पहाड़ से बाहर' कहें तो उससे बाहर पहाड़ तो नहीं माना जायेगा। पर यह शरीर तो जैसे कोई 'घड़ा' दीखता है, उसी तरह दीखने वाला कहा जाता है ॥ ३५½ ॥

ऐसा भी तो नहीं कह सकते कि वह 'प्रकाशक' से बाहर है। क्योंकि जो वस्तु दीपक या सूर्य के प्रकाश से बाहर होती है, वह तो प्रकाशित ही नहीं हो सकती। अतः यही कहना ठीक है कि प्रकाशित होने वाली वस्तु प्रकाशक के भीतर ही होती हैं ॥ ३६-३७ ॥

देह कभी प्रकाशक नहीं हो सकती। क्योंकि वह तो पहाड़ प्रभृति की तरह प्रकाशित होने वाली वस्तु है। प्रकाशक तो वही हो सकता है जो किसी प्रकार प्रकाशित न होने वाला हो ॥ ३८ ॥

विशेष—थोडी देर के लिए यदि प्रकाशक को प्रकाशित होने वाला मान भी

भासकस्याऽपि भास्यत्वे भासकस्याऽनवस्थितिः ।
स्वस्यैव भासकत्वं च भास्यत्वं न हि युज्यते ।। ३९ ।।
अतस्तु भासकं शुद्धं भासकैकस्वरूपकम् ।
तच्च भारूपमेवेह पूर्णमेकरसात्मकम् ।। ४० ।।
तेन व्याप्ता देशकाला भासनात्तस्य पूर्णता ।
अभारूपस्य चाऽभानाद्भारूपैकरसं हि तत् ।। ४१ ।।

लिया जाय तो फिर सवाल यह उठेगा कि वह प्रकाशित किससे होता है ? उसका यदि कोई प्रकाशक मानेंगे तो उससे भी प्रकाशित होने वाला मानना होगा और फिर उसके बारे में भी यही सवाल उठेगा। अतः फिर कोई भी चरम प्रकाशक सिद्ध न होने के कारण अनवस्था दोष होगा।

अतः यह कहना अनुचित नहीं होगा कि जो वस्तु जहाँ उद्गम पाती है, उसमें ही अन्ततः लीन भी होती है। उद्गम बिन्दु ही लयबिन्दु भी होता है और जो उद्गम है, जो लय है, वही अपना स्वरूप भी है।

यदि प्रकाशक प्रकाशित होने वाला भी बन जाय तो प्रकाशक का निर्णय करने में स्थितिहीनता का दोष दीख पड़ता है। कोई भी वस्तु खुद अपना प्रकाशक एवं अपना ही प्रकाश्य नहीं हो सकता ।। ३९ ।।

अतः जो प्रकाशक है, वह सिर्फ प्रकाशक ही है। वह केवल प्रकाशस्वरूप, पूर्ण और एकरसात्मक है ।। ४० ।।

उस प्रकाश रूप प्रकाशक के द्वारा देश और काल भी पूरित है, क्योंकि उसी की सत्ता से वे प्रकाशित होते हैं, इसी से उनकी पूर्णता सिद्ध होती है। जो प्रकाश रहित है, उसके अस्तित्व का तो बोध ही नहीं होगा। इसलिए वह एकरस एवं प्रकाशस्वरूप ही है ।। ४१ ।।

विशेष—प्रकाश और प्रकाश्य का सम्बन्ध ठीक सागर और लहर की तरह है। जैसे सागर की लहरें अन्ततः सागर में ही लय को प्राप्त हो जाती हैं। उसी तरह प्रकाश्य भी प्रकाशक में अपनी समस्त वृत्ति-तरंगों को शून्य कर उस परम चेतना में ही लीन हो जाते हैं।

प्रकाश्य और प्रकाशक का भेद घड़े और कपड़े के भेद की तरह स्थूल नहीं है। इनका भेद तो आईने और परछाई की तरह भिन्न होते हुए भी अभिन्ता हैं। जिस तरह आईने के बिना परछाई का अस्तित्व नहीं होता, उसी तरह चिन्मात्र आत्मा से अतिरिक्त दृश्य जगत् की सत्ता ही नहीं है। अतः दृश्य रूप से भी चिति ही प्रकाशित होती है। यही उसकी पूर्णता है।

प्रकाश के द्वारा ही प्रकाशक को जाना जाता है। इस बोध में न कोई ज्ञेय होता है और न कोई ज्ञान। स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना ही मनुष्य का ज्ञेय है। जीवन के प्रयोजन अर्थवत्ता का उसी प्रकाशक के अस्तित्व से उद्घाटित होता है। यही पूर्ण सच है। यह अनुभूतिगम्य है।

अन्तर्बहिर्वा यत् किञ्चिद्भारूपोदरसंस्थितम् ।
अतस्तन्नापादानं स्यात् शृङ्गस्येव हि पर्वतः ॥ ४२ ॥
एवंविधं हि भारूपं ग्रस्तसर्वप्रपञ्चकम् ।
भाति स्वतन्त्रतः स्वस्मिन् सर्वत्राऽपि च सर्वदा ॥ ४३ ॥
एतत् परा चितिः प्रोक्ता त्रिपुरा परमेश्वरी ।
ब्रह्मेत्याहुर्वेदविदो विष्णुं वैष्णवसत्तमाः ॥ ४४ ॥
शिवं शैवोत्तमाः प्राहुः शक्तिं शक्तिपरायणाः ।
एतद्रूपादृते किञ्चिद् यदि ब्रूयुस्तदल्पकम् ॥ ४५ ॥
तया व्याप्तं तु चिच्छक्त्या दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
तस्य भास्यकृतं भासकत्वं च न स्वतः स्थितम् ॥ ४६ ॥
भास्यं तु भाननिर्मग्नमादर्शे नगरादिवत् ।
दर्पणे नगरं यद्वद्दर्पणान्नातिरिच्यते ॥ ४७ ॥
तथा चिति जगद्भाति यत्तन्नैवातिरिच्यते ।

भीतर-बाहर जो कुछ है वह सब उस प्रकाशस्वरूप परमात्मा के पेट में ही है। इसीलिए जैसे एक पहाड़ अपनी चोटी से अलग नहीं हो सकता, उसी तरह यह संसार उस परमात्मा से अलग नहीं हो सकता ॥ ४२ ॥

विशेष—शरीर के अतिरिक्त और शरीर को अतिक्रमण करता हुआ अपने भीतर जो किसी भी सत्य का अनुभव नहीं कर पाते हैं, उनके जीवन पशु-जीवन से ऊपर नहीं उठ सकते। देह की मिट्टी के घेरे से ऊपर उठती हुई जीवन-ज्योति जब अनुभव में आती है तभी ऊर्ध्वगमन प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व जो प्रकृति प्रतीत होती थी, वही उसके बाद परमात्मा में परिणत हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि जैसे शिखर को पहाड़ से अलग या बाहर नहीं कहा जा सकता, उसी तरह जगत् के जंजाल को प्रकाशस्वरूप चैतन्य से भिन्न या अलग नहीं कहा जा सकता है।

इस तरह प्रकाशस्वरूप चैतन्य ने दुनिया के सारे जंजाल को अपने में निगल रखा है। यह हमेशा हर जगह पूरी आजादी के साथ अपने-आप में खुद प्रकाशित है ॥४३॥

यह पराचिति ही भगवती त्रिपुरा कही जाती है। वैदिक विद्वान् इसे ही ब्रह्म कहते हैं और वैष्णव विष्णु ॥ ४४ ॥

शैवधर्मावलम्बी इसे ही शिव कहते हैं और शाक्तजन शक्ति। इस चिति रूप से अलग जो कुछ कहा जायगा, वह अपूर्ण ही होगा ॥ ४५ ॥

परछाई जैसे आईने में परिपूरित है, उसी तरह यह सब उस चेतन शक्ति में परिपूरित है। इसकी चमक उसी के तेज के कारण है न कि अपने-आप ॥ ४६ ॥

आईने में दीखने वाले नगर जैसे आईने से अलग नहीं होते; उसी तरह सारा दृश्य अपने भासक से भिन्न नहीं हैं। आईने का नगर जैसे आईने से भिन्न नहीं होता, उसी तरह चिति से प्रकाशित दुनिया चिति से अलग नहीं होती ॥ ४७½ ॥

दर्पणात्मनि सम्पूर्णे निबिडे चैकरूपिणि ॥ ४८ ॥
यथा हि भिन्नं नगरं सर्वथा नोपपद्यते ।
तथा पूर्णेऽस्तु निबिडे चैकरूपे चिदात्मनि ॥ ४९ ॥
जगत् सर्वात्मना नैव ह्युपपत्तिं समश्नुते ।
आकाशस्त्ववकाशात्मा शून्यरूपत्वहेतुतः ॥ ५० ॥
द्वैतं जगत् प्रसहते सर्वत्रैव हि सर्वदा ।
सती चितिरशून्यात्मरूपिण्येकरसा कथम् ॥ ५१ ॥
द्वितीयलेशं प्रसहेदादर्शात्मवदञ्जसा ।
तस्मादादर्शवत् संवित् स्वातन्त्र्यभरवैभवात् ॥ ५२ ॥
भासयेदद्वितीये स्वे रूपे सर्वं चराचरम् ।
निमित्तोपादानहीनं द्वितीयमतिचित्रितम् ॥ ५३ ॥
यथाऽनेकरूपविधे भासमानेऽपि दर्पणे ।
एकत्वं भासते स्पष्टमविशेषाददूषितम् ॥ ५४ ॥
तथा विचित्रे जगति भासमानेऽप्यनेकधा ।
अनुसन्धानसंसिद्धमेकं दोषविवर्ज्जितम् ॥ ५५ ॥
राजन् स्वात्मनि सम्पश्य मनोराज्यदशास्थितिम् ।
अनेकवैचित्र्यवपुरपि चैतन्यमात्रकम् ॥ ५६ ॥

जैसि समान रंग-ढंग का सघन एवं पूरे आईने से अलग उसमें प्रतिबिम्बित नगर का अस्तित्व किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है; उसी प्रकार समान, सघन एवम् सम्पूर्ण चिदात्मा में संसार की अलग सत्ता किसी भी तरह नहीं हो सकती ॥४८–४९½॥

आकाश तो रिक्त एवम् निराकार है। अतः उसमें हमेशा हर जगह द्वैत अर्थात् दोनों ही रूप संसार का आसानी से समा सकता है ॥ ५०½ ॥

किन्तु सत्स्वरूपा चिति, जो अशून्यात्मा, एकरूपिणी और एकरसा है, स्वभाव से ही आईने की तरह किसी प्रकार लेश मात्र द्वैत को भी सहन कर सकती है ॥५१½॥

वह चित् शक्ति अपने बेनियाज और बेहद ताकत के बल से आईने की तरह अपने ही बेजोड़ रूप में इस सारे जड़-चेतन संसार के द्वैत को, जिसका कोई हेतु या ऐसा कारण जो स्वयं कार्य रूप में परिणत हो जाय, नहीं है और जो परस्पर अत्यधिक विलक्षण है, प्रकाशित हो रही है ॥ ५२–५३ ॥

जैसे परछाई के कारण अनेक रूप दीखने वाले आईने की तरह अपने-आप में सामान्य रूप से बेरोक उसका एक रूप साफ झलकता है, उसी तरह जाग्रत् अवस्था के कारण यह विचित्र संसार अनेक रूपों में दीखने के बावजूद इसमें किसी तरह भी बाधित न होने वाला एक तत्त्व तो सिद्ध है ही, क्योंकि इसकी विभिन्न अवस्थाओं का एक ही के द्वारा स्मरण होता है ॥ ५४–५५ ॥

सृष्टौ वा प्रलये वाऽपि निर्विकल्पैव सा चितिः ।
प्रतिबिम्बस्य भावे वाऽप्यभावे वेत्र दर्पणः ॥ ५७ ॥
एवंविधैकरूपाऽपि चितिः स्वातन्त्र्यहेतुतः ।
स्वान्तर्विभासयेद्बाह्यमादर्शे गगनं यथा ॥ ५८ ॥
एषा हि प्रथमा सृष्टिरविद्या तम उच्यते ।
पूर्णस्यांशेनेव भानं बाह्याभासनमुच्यते ॥ ५९ ॥
पूर्णाहम्भावविच्छेदादनहम्भावरूपता ।
एषैवाऽव्यक्तमित्युक्ता जडशक्तिश्च कथ्यते ॥ ६० ॥

राजन् ! तुम अपने में ही अपने मनोराज्य की स्थिति पर विचार करो। वह अनेक रूपों में होने पर भी चैतन्य मात्र एक ही तो है ।। ५६ ।।

यह चिति सृष्टि हो या विनष्टि हर हालत में निर्विकल्पा ही रहती है। जैसे परछाई हो या न हो, आईना तो आईना ही रहता है ।। ५७ ।।

इस तरह यह चिति एकरूपा होने के बावजूद अपनी बेनियाजी की वजह से आईने में आकाश की तरह अपने भीतरी रूप को ही बाहर झलकाती रहती है ।।५८।।

संसार की यह पहली उत्पत्ति ही अविद्या (मिथ्याज्ञान) और तम (अज्ञान) कही जाती है। उस पूर्णतत्त्व का एक छोटे हिस्से की तरह बोध होना ही बाहरी बोध समझा जाता है ॥ ५९ ॥

परिपूर्ण आत्मतत्त्व में अहंभाव न रहने पर जो अनहंभावरूपता आती है वही अव्यक्त कही जाती है और उसी को जड़शक्ति कहते हैं ॥ ६० ॥

विशेष—इस श्लोक में 'अहम्' के माध्यम से 'आत्मतत्त्व' का एक विलक्षण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार चित्त और चित्तवृत्तियों के समग्र संस्थान का केन्द्र अहंकार है। उसके विलीन होने से वह भी विसर्जित हो जाता है। तब जो शेष रहता है और जिसकी अनुभूति होती है, वही आत्मा है।

कहने का तात्पर्य आत्म अज्ञान का केन्द्रीय लक्षण अहम् है। 'मैं' सब कुछ हूँ और शेष जगत् मेरे लिए हैं। 'मैं' अनन्त सत्ता का केन्द्र और लक्ष्य हूँ — इस अहंभाव से पैदा हुआ शोषण ही अनर्थकारी है। आत्मज्ञान का केन्द्रीय लक्ष्य सबके प्रति समान भाव ही तो है।

जहाँ अहम् शून्य होता है, वहीं प्रेम पूर्ण होता है। जगत् में दो ही प्रकार की चेतन-स्थितियाँ हैं — अहम् की और प्रेम की। अहम् संकीर्ण और अणु स्थिति है, प्रेम विराट् और ब्रह्म। अहम् का केन्द्र 'मैं' है, प्रेम अर्थात् सबके प्रति समान भाव का कोई केन्द्र नहीं है या 'सब' उसके केन्द्र है। अहम् केवल अपने लिए जीता है, प्रेम सबके लिए जीता है। अहं शोषण है और प्रेम सेवा है। सबके प्रति समान भाव आत्मिक उत्कर्ष और जीवन की उपलब्धि का श्रेष्ठतम फल है। जो उसे पाये बिना समाप्त हो जाते हैं वे जीवन को बिना जाने ही समाप्त हो जाते हैं।

या चितिश्चाऽत्र विच्छिन्नाभासिनी बहिरात्मनः ।
शिवतत्त्वमिति प्रोक्ता शक्तिस्तद्भासनं भवेत् ॥ ६१ ॥
बहीरूपं महाशून्यं कल्पितं यत्तदेव तु ।
अहम्भावाऽऽच्छादनेन सदाशिवमयं स्मृतम् ॥ ६२ ॥
तदेव जाड्यमुख्यत्वे ईश्वराख्यं प्रचक्षते ।
अनयोः संवेदनं तु भेदाऽभेदविमर्शनम् ॥ ६३ ॥
शुद्धविद्येति सम्प्रोक्तमेतावच्छुद्धमुच्यते ।
भेदशक्तेरप्ररूढ्या चाऽभेदात्माऽवभासनात् ॥ ६४ ॥

क्योंकि आत्मतत्त्व तथाकथित जीवन की विरुद्ध दिशा में है। यही कारण है कि अहम् के अर्थ में सामान्य जन आत्मा को समझते हैं। प्रलयकाल में यह आत्मा निर्विकल्प स्थिति में चिति रूप में ही रहती है। अपनी बेनियाज ताकत के बल से जब उसकी इच्छा सविकल्प होती है तब उसका अहंभाव मिट जाता है। फिर उसमें सबके प्रति समभाव जग जाता है। इसी को वेदान्त-दर्शन में मायाशक्ति कहा गया है। फिर जब यह विकल्प की स्थिति में आती है तब इसमें सीमित एवं व्यक्तिनिष्ठ 'अहम्' की स्फूर्त्ति होती है। इसी स्थिति को अविद्या या जड़शक्ति कहते हैं। इस तरह परमात्मा की चित् शक्ति या उनके विग्रहस्वरूप उनकी स्वतंत्रता ऊपर वर्णित तीन अवस्थाओं को प्राप्त करती हैं। नीचे के तीन श्लोकों में इन्हीं तीन अवस्थाओं का वर्णन है।

जो चिति इस दुनिया में विभक्त होकर अपने को बाहरी भाव से प्रकट करती है, उसे शिवतत्त्व कहा जाता है। बाहर जसका जो रूप दिखलायी पड़ता है, वही उसकी शक्ति है ॥ ६१ ॥

विशेष – पूर्ण चैतन्य अर्थात् परमात्मा, जो सभी प्रकार की संवेदनाओं का स्रोत और सब प्राणियों का मूल स्रोत समझा जाता है, उसमें कोई बाहरी झलक नहीं होती। इस अवस्था में उसे परम शिव कहा जाता है। फिर दुनिया की उत्पत्ति काल में अनेक सीमाओं में जो एक सामान्य निर्विकल्प चेतन अनुगत रहता है, उसका नाम 'शिवतत्त्व' है और उस निर्विकल्प चेतन का कटा हुआ अंश अहं रूप से 'झलकना' शक्ति है। इस तरह जो सृष्टि से पहले परम शिव कहा जाता है, वही सृष्टि काल में सामान्य चिति रूप से 'शिवतत्त्व' तथा अहम् रूप से 'शक्तितत्त्व' या जीव है।

जो महाशून्य बाहरी रूप से कल्पित हुआ है, वही जब 'यह मैं हूँ' इस तरह 'अहम् भाव' से ढकता है तो उसे ही 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ६२ ॥

वही जड़ता की प्रमुखता होने पर 'ईश्वर' नाम का चौथा तत्त्व कहलाता है। इस सदाशिव और ईश्वर तत्त्व का 'यह मैं हूँ' और 'मैं यह हूँ' इस तरह भेद और अभेद रूप से झलकना ही 'शुद्ध विद्या' नामक पाँचवा तत्त्व कहा जाता है। शिव-तत्त्व से लेकर यहाँ तक ये पाँचों तत्त्व जड़ता का विकास न होने से तथा अभेद-स्वरूप आत्मतत्त्व की ही झलक होने के कारण शुद्ध कहे जाते हैं ॥ ६३–६४ ॥

अथ चित्स्वातन्त्र्यभरात् प्ररूढे भेदभावने ।
जडशक्तिर्धर्मिभावं चितिर्धर्मात्मतां ययौ ॥ ६५ ॥
तदा सा जडशक्तिस्तु मायातत्त्वं प्रचक्षते ।
माया विभेदबुद्धिस्तु भेदप्रचुरभावनात् ॥ ६६ ॥
भेदप्रचुरसंवीता चितिः सङ्कुचितात्मिका ।
पञ्चकञ्चुकसंव्याप्ता पुरुषत्वं प्रपद्यते ॥ ६७ ॥
कलाविद्यारागकालनियतिः पञ्चकञ्चुकम् ।
कला किञ्चित्कर्त्तृता स्याद्विद्या किञ्चिज्ज्ञता भवेत् ॥ ६८ ॥
रागस्तृष्णा परिच्छित्तिरायुषा काल उच्यते ।
नियतिः परतन्त्रत्वमेतैर्युक्तस्तु पूरुषः ॥ ६९ ॥
चितिशक्तिमधिष्ठाय विचित्राऽनादिकर्मणाम् ।
जनानां वासनापिण्डः स्थितः प्रकृतिरुच्यते ॥ ७० ॥
फलं तु त्रिविधं यस्मात् कर्मणां सा त्रिरूपिणी ।
अस्या अवस्थाभेदो हि चित्तमित्यभिधीयते ॥ ७१ ॥

विशेष—'मैं कौन हूँ' यह जान लेना ही सत्य को जान लेना है। इस बोध के साथ ही मनुष्य का दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख आत्म-अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं अपने को जानते ही आनन्द का अधिकारी हो जाता हूँ। वह जो सबके भीतर है—वही पराशक्ति है, वही ईश्वर है। उसी की अनुभूति आनन्द है। 'मैं यह हूँ' इसमें 'मैं' चिति का रूप है और 'यह' महाशून्य जड़तत्त्व है। जब मैं की प्रधानता होती है तब 'सदाशिव' और जब 'यह' की प्रधानता होती है तब 'ईश्वर-तत्त्व' होता है। 'मैं' और 'यह' में तत्त्व की दृष्टि से अभेद सम्बन्ध है और उल्लेख की दृष्टि से भेद है। इस तरह इसका बोध भेदाभेद रूप से होता है।

फिर जब उस पराशक्ति की बेनियाज ताकत के प्रभाव से भेदभाव बढ़ने लगता है, तो जडशक्ति धर्मी बन जाती है और चिति उसका धर्म बन जाती है ॥ ६५ ॥

तब वह जड़शक्ति ही मायातत्त्व कहलाती है। माया भेदबुद्धि का नाम है, क्योंकि माया में भेद-प्रधान भावना रहती है ॥ ६६ ॥

भेदभाव की अधिकता से भरी चिति सिकुड़ जाती है तथा ऐसे पाँच ढक्कनों से ढककर वह पुरुषत्व को प्राप्त करती है ॥ ६७ ॥

ये पाँच आवरण हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। कुछ कर सकना कला है, कुछ जान सकना विद्या है, राग सांसारिक सुखों की चाह है, आयु की सीमा काल है और पराधीनता नियति है। इन पाँच केंचुलों से जो ढका है, वही पुरुष है ॥ ६८–६९ ॥

भले-बुरे अनेक तरह के सब दिन से चल रहे कामों की कामना का जो समूह चितिशक्ति को आधार मानकर मौजूद है, वही तो प्रकृति है ॥ ७० ॥

सुषुप्तौ प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्ते चित्तमुच्यते ।
वासनापिण्डसहिता चितिश्चित्तमुदीरितम् ॥ ७२ ॥
अव्यक्तमेतदेवोक्तं वासनापिण्डभावतः ।
पुरुषाणां विभेदेन चित्तं बहुविधं भवेत् ॥ ७३ ॥
जीवानामविभेदेन सुषुप्तावेकधा हि तत् ।
प्रकृतित्वं समायाति तदन्ते चित्ततामियात् ॥ ७४ ॥
एतदेव पुमान् प्रोक्तश्चितिप्राधान्यहेतुना ।
अव्यक्तप्राधान्यतस्तु चित्तप्रकृतितामियात् ॥ ७५ ॥
क्रियाभेदात् तत्त्रिविधमन्तःकरणमुच्यते ।
अहङ्कारबुद्धिमनोरूपेण नृपसत्तम ! ॥ ७६ ॥
ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां तु पञ्चकं स्यात्ततः पृथक् ।
शब्दादिगगनादीनि भूतानि स्थूलसूक्ष्मतः ॥ ७७ ॥
एवं सा परमा संविद् बाह्याभासप्रपूर्वकम् ।
क्रीडां करोति सृष्ट्यादिक्रमेण सर्वसाक्षिणी ॥ ७८ ॥

मनुष्य जो कुछ करता है उसका परिणाम तीन तरह का होता है—सुख, दुःख और मोह। अतः यह प्रकृति भी सत्त्व, रज और तमो गुणवाली तीन तरह की होती है। इसी का एक अवस्था भेद चित्त कहलाता है ॥ ७१ ॥

गहरी नींद में यह 'प्रकृति' है और जगने पर चित्त। वासनाओं के साथ जो चिति है वही 'चित्त' कहलाती है ॥ ७२ ॥

वासना-समूह से घिरे रहने के कारण यह चित्त ही 'अव्यक्त' भी कहलाता है। पुरुष भेद के कारण ही इस चित्त के भी अनेक भेद हैं ॥ ७३ ॥

किन्तु गाढ़ी नींद में पुरुषों का भेद नहीं रहता। इसलिए उस समय वह एक ही प्रकार का होता है। उस स्थिति में वह प्रकृतिभाव में चला जाता है। उसका अन्त होने पर ही वह चित्त रूप में आ जाता है ॥ ७४ ॥

चिति की प्रमुखता के कारण यह चित्त ही पुरुष कहलाता है और अव्यक्त की प्रमुखता की वजह से यहीं चित्त प्रकृति के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ७५ ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! क्रियाभेद से यही चित्त अहङ्कार, बुद्धि और मन—इन तीन रूपों में 'मन' कहलाता है ॥ ७६ ॥

इस त्रिगुणात्मक अहंकार से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा शब्दादि सूक्ष्म एवं आकाशादि स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं ॥ ७७ ॥

विशेष—१. ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच—कान, नाक, आँख, जीभ और त्वचा।

२. कर्मेन्द्रियाँ पाँच—हाथ, पैर, वाणी, गुदा तथा मूत्रद्वार।

३. सूक्ष्मभूत पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध।

४. पाँच स्थूलभूत तन्मात्राएँ—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी।

तत्राऽऽद्यया श्रीत्रिपुराशक्त्या सृष्टौ प्रभावतः ।
हिरण्यगर्भो यो ब्रह्मा तस्यैतद्भावनोत्थितम् ॥ ७९ ॥
जगत् तत्र तु या संवित्त्वमहंरूपभासिनी ।
सा परैव हि चिच्छक्तिस्तद्भेदो न तु विद्यते ॥ ८० ॥
भेदस्त्वौपाधिको भाति ह्युपाधिर्ब्रह्मभावितः ।
तद्भावनोपसंहारे नास्ति भेदस्य भासनम् ॥ ८१ ॥
चितो या भावना शक्तिर्माययिया ते समावृता ।
तदावरणहाने तु तव सा सिद्धिमेष्यति ॥ ८२ ॥
देशः कालोऽथवा किञ्चिद् यथा येन विभावितम् ।
तया तत्तत्र भासेत दीर्घसूक्ष्मत्वभेदतः ॥ ८३ ॥
मयैकदिनरूपेण भावितं तद्दिनैककम् ।
ब्रह्मणा तावदेवाऽत्र द्वादशाऽर्बुदरूपतः ॥ ८४ ॥
भावितं तेनैवमेतच्चिरशीघ्रत्वभासनम् ।
ब्रह्मणा निर्मिते शैले पादगव्यूतिसम्मिते ॥ ८५ ॥
मयाऽनन्तप्रदेशस्य भावितत्वादनन्तता ।
एवं च द्वयमप्यत्र सत्यं चाऽसत्यमेव च ॥ ८६ ॥

इस तरह सब काम के चश्मदीद गवाह वह परमा चिति बाहरी छाया के साथ सृष्टि, स्थिति और विनष्टि क्रम से खेलती रहती है ॥ ७८ ॥

इस उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि में सबकी उत्पत्ति का हेतु यही त्रिपुराशक्ति है। उसी की भावना से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मा के ही संकल्पशक्ति से इस दुनिया की पैदाइश हुई है। इसमें जो 'मैं' और 'तुम' रूप से देखनेवाली चेतना है, वह 'परा' ही चित् शक्ति है। इसमें कोई भीतरी छिपाव नहीं है ॥ ७९–८० ॥

फर्क पहचान की वजह से दीख पड़ता है और यह पहचान ब्रह्मा की भावना से हुई है। अतः उसकी भावना का अन्त होने पर इस फर्क का भी बोध नहीं होता ॥ ८१ ॥

तुममें जो चैतन्य की भावना है, वह माया से ढकी है। इस आवरण के हटते ही वह तुम्हारे लिए प्रकट हो जायेगी ॥ ८२ ॥

स्थान, समय या कोई दूसरी चीज हो, उसके बारे में जिसकी जैसी भावना है उसी के अनुसार वह उसे कम या ज्यादे दीख पड़ता है ॥ ८३ ॥

अपनी दुनिया में मैंने केवल एक दिन की भावना की थी। अतः वहाँ एक दिन हुआ। किन्तु उतने समय की ब्रह्मा ने बारह अरब साल की भावना की। इसी से यह एक ही काल में इतने लम्बे अरसे और इतनी छोटी अवधि का फर्क महसूस हुआ ॥ ८४½ ॥

विधि-निर्मित आधे मील के इस पहाड़ में मैंने असीम देश की भावना की, इसलिए

त्वमप्यन्तःक्रोशमितं देशं कालं कलात्मकम् ।
विभाव्य भूयस्तत्रैव भावयाऽनन्तयोजनम् ॥ ८७ ॥
असङ्ख्यकालमपि च भासेद् यावद्धि भावनम् ।
तस्माद्भावनमात्रात्मरूपमेतज्जगद्बहिः ॥ ८८ ॥
चिदात्मरूपे व्यक्ते वै भासते मनुजाऽधिप ।
तस्माद् बाह्यात्मकाऽव्यक्तभित्तौ चित्रमयं जगत् ॥ ८९ ॥
अव्यक्तभित्तिमात्रं स्याद् सा स्वभित्तिचिदात्मिका ।
अत एव चिराद् गम्यो दूरदेशोऽपि योगिनः ॥ ९० ॥
क्षणेन गत्वा पश्यन्ति करामलकवद् ध्रुवम् ।
तस्माद् दूरं समीपं वा चिरं शीघ्रमथाऽपि वा ॥ ९१ ॥
भावनामात्रसंसिद्धं चिद्दर्पणसमाश्रितम् ।
निश्चित्यैवं त्यज भ्रान्तिं शुद्धचिद्भावनक्रमात् ॥ ९२ ॥
ततस्त्वमप्यहमिव स्वतन्त्रस्तु भविष्यसि ।
इति श्रुत्वा मुनिसुतवचनं मुनिसत्तमः ॥ ९३ ॥
परित्यज्याऽखिलभ्रान्तिं ज्ञातज्ञेयः शुभाशयः ।
समाध्यभ्यासयोगेन संसाध्य निजभावनाम् ॥ ९४ ॥

इसमें निःसीमिता दीख पड़ी । अतः यह अनुभूति दो तरह की है—व्यावहारिक दृष्टि से सच तथा पारमार्थिक दृष्टि से झूठ भी ॥ ८५–८६ ॥

तुम भी यदि अपनी संकल्पभूमि में पहले दो मील लम्बे और मात्र एक पल समय की कल्पना करके फिर उसमें बेहद लम्बी-चौड़ी धरती और बेशुमार समय की कल्पना करो तो जैसी तुम्हारी भावना होगी उसी तरह तुम्हें दीखेगा । इसलिए राजन् ! यह भावनात्मक बाहरी दुनिया चिदात्मक अव्यक्त पर ही दिखाई पड़ रही है । अतः बाहरी अव्यक्त रूपी दीवार पर दीखनेवाली दुनिया रूपी तसवीर अव्यक्तमात्र ही तो है और वह अव्यक्त दीवार चिद्रूपिणी ही है ॥ ८७–८९½ ॥

यही कारण है कि योगीजन बहुत अरसे में पहुँचने लायक बहुत दूर की धरती को भी पलक झपकते निश्चयपूर्वक हाथ में रखे आँवले की तरह देख लेते हैं ॥ ९०½ ॥

अतः दूर या पास, थोड़े या ज्यादे समय केवल भावना से ही सिद्ध हुए हैं । ये सब चेतन रूप आईने पर आधारित हैं । ऐसा निश्चय कर तुम शुद्ध चेतन की भावना करो । भूल करना छोड़ो और मेरी तरह स्वतन्त्र हो जाओ ॥ ९१–९२½ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ परशुराम ! उस बालमुनि की ये बातें सुनकर महासेन की सारी भ्रान्ति दूर हो गई । जानने लायक रहस्य को पहचान कर उसका अन्तःकरण पवित्र हो गया । लगातार समाधि साधने से उसने अपनी भावना को सिद्ध कर लिया । फिर बेनियाज आध्यात्मिक ताकत पाकर बहुत दिनों तक इस धरती पर विहार करता रहा । फिर

स्वातन्त्र्यमधिगम्याऽथ चिरकालं विहृत्य तु ।
देहाभासमथोन्मूल्य महागगनसंश्रयः ॥ ९५ ॥
निर्वाणं परमं प्राप्तो महासेनोऽपि भार्गव ।
एवं जगत् सत्यभावभावनामात्रहेतुतः ॥ ९६ ॥
भाति सत्याऽऽत्मरूपेण विमृश्यैतद् भृगूद्वह ।
विचारेण शमं यायाद् भ्रान्तिस्ते चित्तसंश्रया ॥ ९७ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे शैललोकाख्यानं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

उसने अपनी देह की भी देखभाल करना बिलकुल ही छोड़ दिया। इसके बाद निर्विकल्प पराचिति का सहारा लेकर परम निर्वाण पद पा लिया ॥ ९३–९५½ ॥

अतः हे परशुराम ! केवल सच्चाई की भावना की वजह से ही यह सारी दुनिया सच नजर आती है—ऐसा सोचो। विचार करने से ही तुम्हारे मन की भ्रान्ति मिटेगी ॥ ९६–९७ ॥

चौदहवाँ अध्याय समाप्त ।

पञ्चदशोऽध्यायः

इति श्रुत्वा शैललोकाख्यानमत्यद्भुतं तदा ।
भूयोऽत्यन्तं विस्मितोऽभूद्रामो भृगुकुलोद्वहः ॥ १ ॥
विमृश्य गुरुणा प्रोक्तं बुद्धया निश्चित्य शुद्धया ।
दत्तात्रेयं पुनर्गत्वा नत्वा पप्रच्छ सादरम् ॥ २ ॥
भगवन् यत्त्वया प्रोक्तमाख्यानैर्विविधैस्तु तत् ।
तत्र सारमियज्ज्ञातं मयात्यन्तं विचारतः ॥ ३ ॥
संवेदनं सत्यमेकं संवेद्यं तत्र कल्पितम् ।
आदर्शनगरप्रख्यं मृषैव प्रविभावितम् ॥ ४ ॥
सा चितिः परमा शक्तिः संविद्रूपा महेश्वरी ।
स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रमव्यक्तादिप्रभेदितम् ॥ ५ ॥
भावयेत्स्वातन्त्र्यमात्रान्निरुपादानहेतुकम् ।
एतावत्तु मया ज्ञातं विचार्य सूक्ष्मया धिया ॥ ६ ॥
किं त्वेवंविधसंवित्तिर्वेद्यवन्ध्या निरूपिता ।
उपलब्धुमशक्यैव संवेद्यायाः सदा स्थितेः ॥ ७ ॥

(अष्टावक्र की वार्ता)

इस तरह शैललोक की अनोखी कहानी सुनकर भृगुनन्दन श्रीपरशुराम को बड़ा ही आश्चर्य हुआ ॥ १ ॥

उन्होंने अपने गुरु की बातों पर श्रद्धापूर्वक पवित्र बुद्धि से विचार किया । फिर कुछ निश्चय कर मुनि दत्तात्रेय को सादर प्रणाम कर फिर पूछा ॥ २ ॥

पूज्यवर ! आपने अनेक कहानियों के माध्यम से जो कुछ कहा, उस पर काफी विचार करने के बाद मैंने उसका अभिप्राय यही समझा है ॥ ३ ॥

केवल अनुभूति ही सच है, उसमें बतलाने लायक जो कुछ है, वह बनावटी है । आईने में प्रतिभासित नगर की परछाईं की तरह उसकी झूठी भावना कर ली गई है ॥ ४ ॥

वह अनुभूतिस्वरूपा महाशक्ति चिति ही साक्षात् महेश्वरी हैं । वह अपनी बेनियाज ताकत के बल पर बिना किसी उपादान के ही अपने-आपको दीवार बनाकर उस पर दुनिया की प्रकट-अप्रकट तसवीर की कल्पना कर लेती है । अपनी बुद्धि के अनुसार विचार कर मैंने इतना ही समझा है ॥ ५–६ ॥

इस तरह उस ज्ञानस्वरूपा भगवती को जानने या समझने के खयाल से उन्हें समझ से परे ही कहा गया है और यदि उनकी दशा हर हमेशा पाने लायक नहीं है

वेद्यं विना तु संवित्तेः कथं स्यादुपलम्भनम् ।
उपलम्भं विना तस्याः पुरुषार्थो न विद्यते ॥ ८ ॥
पुरुषार्थोऽपि मोक्षः स्यात्स वा किंविध उच्यते ।
विज्ञाने सति मोक्षः स्यान्मुक्ते व्यवहृतिः कथम् ॥ ९ ॥
ज्ञानिनोऽपि च दृश्यन्ते व्यवहारपरायणाः ।
कथं तेषां हि संवेद्यमुक्तं संवेदनं स्थितम् ॥ १० ॥
स्थितायां शुद्धसंवित्तौ व्यवहारः कथं भवेत् ।
विज्ञानमेकरूपं वै मोक्षोऽप्येकः फलं भवेत् ॥ ११ ॥
तत्कथं ज्ञानिनां भेदः स्थितौ लोके हि दृश्यते ।
केचित्कर्म प्रकुर्वन्ति काले सच्छास्त्रचोदितम् ॥ १२ ॥
केचित्समाराधयन्ति देवतां भिन्नवर्त्मभिः ।
केचित्समाधिपरमाः संहृतेन्द्रियमण्डलाः ॥ १३ ॥
केचित्तपः प्रकुर्वन्ति देहेन्द्रियविशोषणम् ।
केचिच्छिष्यान्बोधयन्ति पृथक्प्रवचनैः स्फुटम् ॥ १४ ॥
केचिद्राज्यं प्रशासन्ति दण्डनीत्युक्तवर्त्मना ।
केचित्प्रवादं कुर्वन्ति सदःसु प्रतिवादिभिः ॥ १५ ॥
केचिच्छास्त्राणि विविधान्यजस्रं रचयन्ति वै ।
अन्ये केवलमुग्धत्वमावहन्ति सदैव हि ॥ १६ ॥

तो फिर ज्ञान की पहुँच से परे होने की वजह से वह कैसे पाई जा सकती है ? और उसे पाये बिना पुरुषार्थ की सिद्धि ही नहीं हो सकती ? ॥ ७–८ ॥

पौरुष भी यदि जीवन-मरण से छुटकारा है तो कैसे ? यदि ज्ञान से मुक्ति मिलती है, यदि ज्ञान होने पर मुक्ति मिल जाती है तो फिर उस जीवन्मुक्त का व्यवहार कैसे होता है ? ॥ ९ ॥

ज्ञानियों को भी तो सर्वथा काम-काज में लीन देखा जाता है। ऐसी स्थिति में उनका ज्ञान भी पारस्परिक सम्बन्ध से विहीन कैसे रहता है ? ॥ १० ॥

यदि उनका ज्ञान पारस्परिक व्यवहारविहीन ही रहता है तो फिर उनका काम-काज कैसे चलता है ? फिर ज्ञान तो सबका एक जैसा ही होता है और उनकी फल-मुक्ति भी तो एक जैसी ही है। फिर इस संसार में ज्ञानियों की स्थिति में अन्तर क्यों दीख पड़ता है ? ॥ ११½ ॥

ज्ञानियों के काम में भी एकरूपता नहीं दीखती है। कुछ तो शास्त्रों में जो कहा हुआ है तदनुसार काम करते हैं। कुछ अनेक विधियों से देवाराधन करते हैं। कुछ इन्द्रियों को नियन्त्रित कर समाधि लगाते हैं। कुछ देह को सुखाकर कठोर तप करते हैं। कुछ अपने विशिष्ट एवं स्पष्ट प्रवचनों से शिष्यों को उपदेश देते हैं। कुछ दण्ड-नीति का विधिवत् पालन कर राज्य का प्रशासन करते हैं। कुछ सभा में प्रतिपक्षियों

केऽपि लोकविगर्ह्यां तु वृत्तिं नित्यमिहास्थिताः ।
त इमे ज्ञानिन इति प्रथिता भूरिशोचनैः ॥ १७ ॥
तत्कथं साधनफलाभेदेऽपि स्थितिभिन्नता ।
किमेते समविज्ञानास्तारतम्यमुताश्रिताः ॥ १८ ॥
एतत्सर्वमशेषेण प्रवक्तुं मे समर्हसि ।
शिष्येऽनन्यशरण्ये ते निसर्गसदयं मनः ॥ १९ ॥
इत्यत्रिसूनुरापृष्टो भार्गवेण प्रसन्नधीः ।
मत्वा योग्यं प्रश्नजातं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ २० ॥
राम बुद्धिमतां श्रेष्ठ नूनं स्पृशसि तत्पदम् ।
सद्विमर्शपरो यस्त्वमतो ज्ञातुं प्रभावितः ॥ २१ ॥
एतदेव हि तच्छक्तिपातो यत्सद्विमर्शनम् ।
भगवच्छक्तिपातेन विना कः श्रेय आप्नुयात् ॥ २२ ॥
कृत्यमात्मदेवताया जानीह्येतावदेव हि ।
यत्सद्विमर्शनं नित्यं वर्धयेत्सुप्रसादिता ॥ २३ ॥

के साथ वाद-विवाद करते हैं । कुछ निरन्तर अनेक तरह के शास्त्रों की रचना में लगे रहते हैं और कुछ हमेशा पागलपन का स्वांग बनाये रहते हैं ॥ १२–१६ ॥

कुछ लोग इस दुनिया में निन्दनीय काम करते रहते हैं, फिर कुछ गंभीर चिन्तक उन्हें ज्ञानी मानते हैं ॥ १७ ॥

हिकमत और नतीजे में किसी तरह का फर्क न होने केबावजूद इनकी स्थितियों में भिन्नता क्यों होती है ? इन ज्ञानियों का ज्ञान एक जैसा ही होता है कि उनमें कम या ज्यादे भी होते हैं ॥ १८ ॥

इन सारी बातों का मर्म क्या है ? दया कर मुझे समझा दीजिए न । आपके सिवा दूसरा कोई मेरा सहारा है भी नहीं । अपने इस शिष्य के प्रति आपका दिल तो दया से भरा ही है ॥ १९ ॥

परशुराम के प्रश्न सुनकर मुनि दत्तात्रेय काफी प्रसन्न हुए । उनके प्रश्नों को उन्होंने उचित समझा । फिर उसका जवाब देना शुरू किया ॥ २० ॥

परशुराम ! तुम तो समझदारों में चुनिन्दा हो । निश्चय ही तुमने उस पद को छू लिया है । तुम अच्छे खयालों में डूबे रहते हो, इसीलिए उसे जानने की लियाकत भी रखते हो ॥ २१ ॥

सुन्दर विचार करना ही ईश्वर की कृपाशक्ति पाना है । बिना उसकी कृपा भला कोई उस परमपद को कैसे पा सकता है ? ॥ २२ ॥

उस आत्मदेव का काम तो इतना भर ही समझो कि वह खुश होकर लगातार अच्छे विचार करने की क्षमता बढ़ाता रहे ॥ २३ ॥

यत्त्वया विदितं तत्तु तादृक् सत्यं नहीतरत् ।
किन्तु तत्तादृशमपि त्वयोक्तं परचिद्वपुः ॥ २४ ॥
न ते सुविदितं राम यत एवं वदस्यतः ।
ताटस्थ्येन तु यो यावद्वेद तावन्न वेद वै ॥ २५ ॥
यतः सा विदिता सम्यक्ताटस्थ्यमुपशामयेत् ।
तटस्थसंवेदनं तु स्वप्नसंवेदनोपमम् ॥ २६ ॥
यथा स्वप्ननिधिप्राप्तिः पुरुषाणां निरर्थिका ।
तथा तटस्थविज्ञानममुख्यफलदं भवेत् ॥ २७ ॥
अत्र ते कथयिष्यामि प्राग्वृत्तमतिशोभनम् ।
पुरा विदेहेषु कश्चिदासीद्राजा सुधार्मिकः ॥ २८ ॥
वृद्धप्रज्ञो हि जनकः प्रविज्ञातपरावरः ।
स कदाचित्स्वात्मदेवीमीजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ २९ ॥
तत्राजग्मुर्ब्राह्मणाद्या विद्यावन्तस्तपस्विनः ।
कलाभिज्ञा वैदिकाश्च यज्वानश्चापि सत्रिणः ॥ ३० ॥
तत्काल एव वरुणो यष्टुं समुपचक्रमे ।
तेनोपहूता विप्राद्या न ययुस्तत्र भूरिशः ॥ ३१ ॥

तुमने जो कुछ समझा है, यह उतना भर ही तो है, इससे अलग और कुछ नहीं है, किन्तु वह वैसा होने पर भी तुमने जिस परा चित्शक्ति की चर्चा की है, उसका अभी तुम्हें ठीक-ठीक पता नहीं है । इसी से तुम ऐसा सन्देह करते हो ॥ २४½ ॥

साधक जब तक उसे निरपेक्ष भाव से जानता है तब तक उसे सही रूप में नहीं जानता है । क्योंकि जब उसकी सही जानकारी मिल जाती है तो तटस्थता अपने आप खत्म हो जाती है । निरपेक्ष भाव से उसे जानना ही सपने की जानकारी की तरह है ॥ २५–२६ ॥

जैसे सपने में खजाना पा लेना आदमी के किसी काम का नहीं होता, उसी तरह इसका निरपेक्ष बोध मनुष्य को जीवन्मुक्त नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

अब मैं तुम्हें एक अतिरोचक पुरानी कहानी सुनाता हूँ । विदेह राज्य में पहले जनक नाम का कोई एक धर्मात्मा एवं बुद्धिमान् राजा हुआ । उसे परमात्मा का ज्ञान हो चुका था ॥ २८½ ॥

किसी समय अनेक यज्ञों के द्वारा उसने अपने आत्मदेव की आराधना की । उसके यज्ञों में अनेक विद्वान् एवं तपस्वी ब्राह्मण सम्मिलित हुए । वे कलाविद्, वेदवेत्ता तथा सोमयाग के अनुष्ठाता थे ।। २९–३० ॥

उसी समय वरुण ने भी एक यज्ञ प्रारम्भ किया । उन्होंने ने भी इन ब्राह्मणों को अपने यज्ञानुष्ठान में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया । किन्तु जनक के प्रति

जनके ह्यभिसम्प्रीताः पूजितास्तेन तर्पिताः ।
अथाजगाम वरुणदायादो बौद्धसम्पदा ॥ ३२ ॥
विप्रवेषधरो नेतुं ब्राह्मणान्कूटवर्त्मना ।
आसाद्य यज्ञसदनं नृपं संयोज्य चाशिषा ॥ ३३ ॥
आक्षिपत्तत्र सभ्यांस्तु शृण्वताश्च सभासदाम् ।
राजंस्ते यज्ञसदनमत्यन्तं नैव शोभते ॥ ३४ ॥
कमलाकरवत्काककङ्कवृन्दस्य सञ्चयात् ।
सभा विद्वत्समुदयैः शोभिनी शोभतेतराम् ॥ ३५ ॥
शारदं हंससङ्घातैः सपद्मं तु सरो यथा ।
तदत्र विद्याविशदं न पश्याम्येकमप्यलम् ॥ ३६ ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि नात्र मे संस्थितिर्भवेत् ।
कथं सभामिमां मूर्खप्रचुरां संविशाम्यहम् ॥ ३७ ॥
एवं वारुणिना प्रोक्ताः सभ्याश्चुक्रुधुरञ्जसा ।
किमरे द्विजबन्धो ! त्वमधिक्षिपसि सर्वतः ॥ ३८ ॥
केयं तवेदृशी विद्या यया सर्वे वयं जिताः ।
वृथा कत्थसि दुर्बुद्धे जित्वास्मांस्त्वं गमिष्यसि ॥ ३९ ॥

अधिक स्नेह तथा उसकी पूजा से प्रसन्न एवं सन्तुष्ट अनेक यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण वहाँ नहीं गये ॥ ३१½ ॥

तब वरुण का पुत्र अपनी चालाकी से छल-फरेब का सहारा लेकर ब्राह्मण वेष में ब्राह्मणों को ले जाने के लिए जनकजी के यज्ञ में पहुँचा ॥ ३२½ ॥

उसने यज्ञशाला में उपस्थित होकर राजा को आशीर्वाद दिया। फिर सभासदों को सुनाकर उन पर व्यंग्य करते हुए कहा—'राजन् ! कौए और चीलों के झुण्ड इकट्ठे हो जाने से जैसे किसी झील की शोभा नहीं बढ़ जाती, उसी तरह आदमियों की भीड़ से आपके यज्ञमण्डप की शोभा नहीं बढ़ी है ॥ ३३–३४½ ॥

हंसों की पाँति और कमलों की कतार से जैसे सरोवर शोभता है उसी तरह सुन्दर सभा की शोभा तो सुधीजनों से ही बढ़ती है ॥ ३५½ ॥

सो तो इस सभा में मुझे एक भी विद्वान् सदस्य नजर नहीं आता। तुम्हारा कल्याण हो, मैं तो चला। यहाँ मेरा निर्वाह नहीं हो सकता। इन मूर्खों की सभा में मैं बैठ भी नहीं सकता ॥ ३६–३७ ॥

ब्राह्मणवेषधारी वरुण के बेटे की बातें सुनकर सभा में मौजूद विद्वन्मण्डल स्वभाव से ही झुंझला उठा और कहा—अरे नीच ! एक साथ तुम सबका अपमान कैसे कर रहा है ? ॥ ३८ ॥

तुझमें वह ऐसी कौन-सी विद्या है; जिसके बल तू हमें जीत सकता है ? बेवकूफ, बेमतलब तू क्यों बकवास करता है ? अब हमें पराजित करके ही जाना ॥ ३९ ॥

प्रायो भूलोकसंस्थाना विद्वांसः सङ्गताः खलु ।
किं त्वं भूलोकमेवाद्य जेतुमिच्छसि दुर्मते ।। ४० ।।
ब्रूहि का ते भवेद्विद्या ययाऽस्माञ्जेतुमिच्छसि ।
इत्युक्तवत्सु सभ्येषु वारुणिः पुनराह तान् ।। ४१ ।।
समयेन विजेष्यामि सर्वान् वः क्षणमात्रतः ।
अहं जितो भवद्भिस्तु समुद्रे स्यान्निमज्जितः ।। ४२ ।।
युष्मास्वहं मज्जयामि जितं जितमथापि वा ।
उपेत्यैवं तु समयं विवदन्तु मया सह ।। ४३ ।।
इत्युक्त्वा सम्मतिं चक्रुः सभ्या वादाय तेन तु ।
विवादं चक्रुरत्यन्तं तेन वारुणिना द्विजाः ।। ४४ ।।
जिजेय वारुणिर्विप्रान् वितण्डाजल्पवर्त्मना ।
सिन्धौ निमज्जिता विप्राः शतशोऽथ सहस्रशः ।। ४५ ।।
निमज्जितास्तु ये विप्रा दूतैस्तैर्वारुणैर्हृताः ।
वारुणं यज्ञमासाद्य मुमुदुः पूजिता भृशम् ।। ४६ ।।
मज्जितं पितरं श्रुत्वा कहोलं तत्सुतस्ततः ।
अष्टावक्रः समागत्य ज्ञानवैतण्ड्यजल्पकः ।। ४७ ।।
विजित्य वारुणिं सिन्धावादिदेश निमज्जने ।

इस धरती के प्रायः सभी विद्वान् यहाँ इकट्ठे हैं । क्यों रे मूर्ख ! अकेले ही तुम सारी दुनिया जीतने चला है ? ।। ४० ।।

बोल, तेरी वह क्या विद्या है, जिसके बल पर तू हमें जीतने का मनसूबा बाँध रहा है ? सभासदों के ऐसा कहने पर बरुण के बेटे ने कहा—।। ४१ ।।

एक शर्त्त पर चुटकी बजाते ही मैं तुम सबको जीत सकता हूँ । अगर जीत आप लोगों की हुई तो मुझे समुद्र में डुबा देना, नहीं तो मैं तुममें से जिसे-जिसे पराजित करूँगा, उसे सागर में डुबो दूँगा । इस शर्त्त को मानो तो फिर मेरे साथ बहस शुरू करो ।। ४२-४३ ।।

इस शर्त्त को कबूल कर पण्डितों ने वरुण के बेटे के साथ जमकर शास्त्रार्थ किया ।। ४४ ।।

बरुण के बेटे ने वितण्डा अर्थात् निरर्थक दलील पेश कर और जल्प अर्थात् बकवास कर हजारों पण्डितों को हराकर समुद्र में डुबा दिया ।। ४५ ।।

समुद्र में डुबाये गये उन ब्राह्मणों को वरुण के दूत उठाकर वरुणलोक पहुँचा देते थे । वरुण की यज्ञशाला में उनकी आवभगत से वे काफी खुश थे ।। ४६ ।।

मुनि कहोल के बेटे का नाम अष्टावक्र था । वह दूसरे के मत को दबाकर अपने मत की स्थापना करने में तथा बकवास करने में बड़ा ही कुशल था । उसे जब पता चला कि उसके बाप को वरुण के पुत्र ने शास्त्रार्थ में पराजित कर समुद्र में डुबा

अथ प्रकाशमापन्नो वारुणिर्द्विजमुख्यकान् ।। ४८ ।।
समानयत्स्वलोकस्थानष्टावक्रेण निर्जितः ।
अथागतेषु विप्रेषु कहोलतनयो भृशम् ।। ४९ ।।
विप्रान् विमोचितान् सर्वानत्यवर्त्तत दर्पतः ।
अष्टावक्रेण विमता विप्राः खेदमुपागताः ।। ५० ।।
तत्काल आगतां काञ्चित्तापसीं शरणं ययुः ।
तान्समाश्वास्य विप्रान् सा काषायाम्बरवासिनी ।। ५१ ।।
जटिला नित्यतरुणी मनोहरवपुर्धरा ।
सभामुपेत्य प्रोवाच नृपेणाभिसुपूजिता ।। ५२ ।।
कहोलसुत वत्स त्वमत्यन्तं बुद्धिमानसि ।
त्वया विमोचिता विप्रा वादे निर्जित्य वारुणिम् ।। ५३ ।।
अहं पृच्छामि किञ्चित्त्वां वद हित्वा सुकैतवम् ।
यत्पदं विदितं सर्वामृतत्वप्रतिपादकम् ।। ५४ ।।
यत्पदे विदिते सर्वसन्देहः प्रलयं व्रजेत् ।
अविज्ञातं न किञ्चित्स्यादाशास्यं वा न किञ्चन ।। ५५ ।।
अवेद्यं विदितं तच्चेद्वद मामुप सत्वरम् ।
तापस्यैवं समापृष्टः कहोलतनयोऽब्रवीत् ।। ५६ ।।

दिया, तब वह जनक की यज्ञशाला में आया और शास्त्रार्थ में उसे हराकर समुद्र में डुबा देने का आदेश दिया ।। ४७½ ।।

अष्टावक्र से पराजित होने पर छद्मवेषधारी वरुणपुत्र अपने रूप में आ गया और वरुण की यज्ञशाला से उन ऋषियों को लौटा लाया ।। ४८½ ।।

वरुणलोक से ब्राह्मणों के लौट आने पर कहोल-पुत्र को बड़ा घमंड हुआ । वरुण-पाश से मुक्त ब्राह्मणों के बीच वह अपनी डींग हाँकने लगा । इससे अपने को अपमानित महसूस कर उन ब्राह्मणों को काफी खेद हुआ ।। ४९–५० ।।

उसी समय वहाँ एक तापसी आयी । वह गेरुआ रंग का कपड़ा पहने थी । उसके माथे पर लम्बी जटाएँ थीं । योगाभ्यास के कारण उसकी जवानी बरकरार थी । उसकी देह काफी मनमोहक थी । राजा ने उसकी काफी आवभगत की । विद्वान् ब्राह्मणों ने उसकी शरण ली । उन्हें इसने सान्त्वना दी, ढाढस बढ़ाया । फिर सभा में आकर कहा—।। ५१–५२ ।।

बेटे कहोलसुत ! तुम तो बड़े ही अक्लमंद हो । तुमने शास्त्रार्थ में वरुणपुत्र को पराजित कर इन ब्राह्मणों को छुड़ा लिया ।। ५३ ।।

मेरे भी कुछ सवाल हैं । यदि निश्छल भाव से जवाब दे सको तो बड़ा अच्छा । वह कौन पद है जिसे जान लेने पर कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता ? सारी शंकाएँ मिट जाती हैं ? हर तरह की अमरता मिल जाती है ? हर तरह की चाह मिट

विदितं तत्पदं भूयो वच्मि तापसि संश्रृणु ।
न मे ह्यविदितं लोके ह्यस्ति किञ्चित्कियत्त्विदम् ॥ ५७ ॥
मया शास्त्राणि सर्वाणि भूयः संलुठितानि वै ।
यत्त्वं पृच्छसि तद्वक्ष्ये श्रृणु तापसि तत्त्वतः ॥ ५८ ॥
तद्धि सर्वजगद्धेतुरादिमध्यान्तवर्जितम् ।
देशकालानवच्छिन्नं शुद्धाखण्डचिदात्मकम् ॥ ५९ ॥
यदुपाश्रित्य वै सर्वं जगदेतद्विराजते ।
आदर्शनगरप्रख्यं तदेतत्परमं पदम् ॥ ६० ॥
प्राप्नोति तद्विदित्वैव निश्चलामृतसंस्थितिम् ।
आदर्शे विदिते यद्वन्न सन्देहः क्वचिद्भवेत् ॥ ६१ ॥
प्रतिबिम्बेष्वनन्तेषु न स्यादविदितं तथा ।
नाशास्यं वा भवेत् किञ्चिदेवं प्रविदिते परे ॥ ६२ ॥
तच्चाप्यवेद्यमन्यस्य वेदकादेरभावतः ।
एवं तापसि तत्तत्त्वं शास्त्रदृष्ट्या विभावितम् ॥ ६३ ॥

जाती है ? ऐसा जो नहीं जानने योग्य पद है, उसे यदि तुम जानते हो तो जल्द से जल्द मुझे बतला दो। तापसी का सवाल सुनकर अष्टावक्र ने कहा—॥ ५४-५६ ॥

हे तपस्विनी ! दुनिया में ऐसी कोई बात नहीं जिसे मैं नहीं जानता। तुम्हारे इस सवाल में क्या रखा है ? उस पद को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। सुनो, मैं बतलाता हूँ ॥ ५७ ॥

मैंने शास्त्रों का पर्यालोचन अनेक बार किया है। तुमने जो सवाल किया है, उसका सही जवाब मैं अभी बतलाता हूँ, सुनो ॥ ५८ ॥

तुमने जिस पद के बारे में पूछा है, वही तो सारी दुनिया का मूल कारण है। इस पद का न आदि है, न अन्त और न कहीं इसका बीच है। इसकी कोई सीमा भी नहीं है। यह देश-काल से परे शुद्ध, अखण्ड और चिन्मय है ॥ ५९ ॥

आईने में नगर की परछाई की तरह, जिसका सहारा लेकर यह सारी दुनिया टिकी है, वही तो तुम्हारा पूछा हुआ परम पद है ॥ ६० ॥

जैसे आईने को जान लेने पर उसमें प्रतिबिम्बित किसी भी वस्तु के बारे में कहीं कुछ भी शक नहीं रह जाता, उसी तरह उस पद को जान लेने पर ही साधक अडिग अमर पद पा लेता है ॥ ६१ ॥

आईने को जान लेने पर जैसे उसकी अनगिनत परछाईयों में से एक भी अनजान नहीं रह जाती। उसी तरह परम पद को जान लेने के बाद किसी वस्तु की चाह नहीं रह जाती ॥ ६२ ॥

निश्चय ही उसे कोई दूसरा जान नहीं सकता, क्योंकि कोई दूसरा उसका ज्ञाता है ही नहीं। तापसी ! शास्त्रों में इसके बारे में ऐसा ही निर्णय किया गया है ॥६३॥

इत्यष्टावक्रवचनं श्रुत्वा सा पुनरब्रवीत् ।
मुनिदारक सूक्तं ते यथावत्सर्वसम्मतम् ॥ ६४ ॥
यदुक्तं वेदकाभावादवेद्यं तदिति त्वया ।
प्राप्नोति तद्विदित्वैव चामृतं पदमव्ययम् ॥ ६५ ॥
इति पूर्वोत्तरवचो मन्यसे सङ्गतं कथम् ।
अवेद्यं चेन्न जानामि नास्तीति च निरूपय ॥ ६६ ॥
अस्ति जानासि यदि तदवेद्यमिति मा वद ।
अथैतत्तु त्वया विप्र शास्त्रदृष्टया विभावितम् ॥ ६७ ॥
न तत्स्वयं विजानासि तस्मात्तन्नापरोक्षकम् ।
दृष्ट्वा प्रत्यक्षतः सर्वं प्रतिबिम्बं यथास्थितम् ॥ ६८ ॥
आदर्शं न विजानासि प्रत्यक्षेणेति तत्कथम् ।
एवं वदन् सभामध्ये जनकस्यास्य वै पुरः ॥ ६९ ॥
परिभूतं स्वमात्मानं मन्यसे नो कथं वद ।
एवमुक्तस्तया तत्र नैव प्रोवाच किञ्चन ॥ ७० ॥
विमना इव सञ्जातो लज्जितोऽभवदञ्जसा ।
अवाङ्मुखः क्षणं स्थित्वा विचार्यान्तिस्तयेरितम् ॥ ७१ ॥
तत्प्रश्नोत्तरमप्राप्य तां प्राह द्विजसत्तमः ।

अष्टावक्र की बातें सुनकर तापसी फिर बोली — मुनिपुत्र ! तुम्हारा कहना बिलकुल ठीक है । वह यथार्थ और सर्वसम्मत भी है ॥ ६४ ॥

एक ओर तुमने कहा कि उसे कोई नहीं जानता, इसलिए कि वह पद 'अवेद्य' है और दूसरी ओर तुम्हीं कहते हो — उसे जान लेने पर साधक अविनाशी पद पा लेता है । अब तुम्ही बतलाओ, तुम्हारी इन दोनों बातों की संगति कैसे होगी ? ॥ ६५½ ॥

यदि वह नहीं जानने योग्य है तो कहो कि मैं उसे नहीं जानता अथवा इस तरह का कोई पद है ही नहीं । यदि वह पद है और उसे तुम जानते हो तो उसे 'नहीं जाना जा सकता है' ऐसा मत कहो ॥ ६६½ ॥

ब्राह्मणदेवता ! इसके अलावा तुमने तो इस बात की शास्त्र की दृष्टि से कल्पना कर ली है । इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति तो तुम्हें है ही नहीं । अतः यह तुम्हारा स्वानुभूतिजन्य ज्ञान तो है ही नहीं ॥ ६७½ ॥

जब तुम सारी परछाई इन आँखों से जस-के-तस देखते हो तो फिर उसके आधारभूत आइने को उसी तरह क्यों नहीं जानते ? ॥ ६८½ ॥

राजा जनक के सामने भरी सभा में ऐसी बेतुकी बातें बोलते हुए भी अपने को तुम पराजित नहीं मानते ? ॥ ६९½ ॥

तापसी की बात सुनकर वह हतप्रभ हो गया । मुँह से आवाज नहीं फूटी । सकपका कर लजा गया ॥ ७०½ ॥

तापस्यहं न जानामि त्वत्प्रश्नस्योत्तरं वचः ॥ ७२ ॥
शिष्योऽहं ते वदैतन्मे कथमेतन्निरूपितम् ।
नाहं वदाम्यनृतकं तपोहरमनर्थकम् ॥ ७३ ॥
इत्यापृष्टा तापसी सा प्रसन्ना तस्य सत्यतः ।
अष्टावक्रं प्रत्युवाच शृण्वतां च सभासदाम् ॥ ७४ ॥
वत्सैतदविदित्वैव बहवो मोहमागताः ।
शुष्कतर्कैरविज्ञेयं सर्वत्रैव सुगोपितम् ॥ ७५ ॥
एतावत्सु सभासत्सु न विजानाति कश्चन ।
राजाऽयं वेत्त्यहं वापि वेद्मि नान्यस्तु कश्चन ॥ ७६ ॥
सर्वत्र हि विवादेषु नैतत्प्रश्नोत्तरं क्वचित् ।
प्रायो विदुर्हि विद्वांसस्तर्कमात्रसमाश्रयाः ॥ ७७ ॥
नैतत्तर्केण सुज्ञेयमपि सूक्ष्मधिया क्वचित् ।
विना सद्गुरुसेवाया देवतानुग्रहादिना ॥ ७८ ॥
मुनिपुत्राभिधास्यामि शृण्वेतत्सूक्ष्मया धिया ।
नेदं श्रुत्वापि विज्ञेयं ताटस्थ्यं प्राणया धिया ॥ ७९ ॥

भरी सभा में उसकी हेकड़ी गुम हो गई। मुँह लटकाकर बैठ गया। लाख माथा-पच्ची करने पर भी जब उस तापसी के सवाल का जवाब नहीं सूझा तब उस ब्राह्मण ने कहा—॥ ७१½ ॥

हे तापसी ! मैं आपके सवाल का सही जवाब तो नहीं जानता। पर शास्त्र में ऐसी विरोधी बातें क्यों मिलती हैं ? मैं तो आपका शिष्य हूँ, मुझे समझा दीजिए न। मैं तप को घटानेवाला, किसी बात का उलटा मतलब निकालनेवाला झूठ तो नहीं बोलता ॥ ७२–७३ ॥

अष्टावक्र की सच्ची बातें सुनकर वह तापसी खुश हो गयी तथा भरी सभा में सबों को सुनाकर उसे कहने लगी ॥ ७४ ॥

बेटे ! इस मर्म को ठीक ढंग से नहीं समझ पाने के कारण ही बहुत सारे लोग भ्रमित हो जाते हैं। यह बात कोरे तर्क से समझ में नहीं आती। शास्त्रों में भी इसे छिपाकर रखा गया है ॥ ७५ ॥

इस सभा में मौजूद एक भी सभासद इस मर्म को नहीं जानते। इस रहस्य को या तो राजा जनक जानते हैं या फिर मैं जानती हूँ और कोई नहीं ॥ ७६ ॥

वाद-विवाद में भी कहीं इस तरह का सवाल-जवाब नहीं होता। विद्वज्जन भी तर्क का सहारा लेकर प्रायः इस मर्म को जानने की कोशिश करते हैं ॥ ७७ ॥

बिना गुरु की सेवा और इष्ट की कृपा के, केवल सूक्ष्म बुद्धि या तर्क के सहारे आज तक इसे कोई नहीं जान सका है ॥ ७८ ॥

यावदेतद्धि विज्ञानमनुदाहृतमात्मनि ।
तावत्सहस्रशः प्रोक्तं श्रुतं चापि निरर्थकम् ॥ ८० ॥
यथा कश्चित्स्वकण्ठस्थं मुक्तहारं प्रमादतः ।
अविज्ञाय हृतं चौरैर्मन्यते मूढभावतः ॥ ८१ ॥
प्रबोधितोऽपि स पुनः कण्ठेऽस्तीति हि केनचित् ।
स्वात्मानमनुदाहृत्य यावत्कण्ठं न पश्यति ॥ ८२ ॥
तावन्नाप्नोति कण्ठस्थं हारं सूक्ष्मविमर्श्यपि ।
एवं मुनिसुतात्मानं स्वस्वभावं निशम्य च ॥ ८३ ॥
भूयोऽतिनिपुणोऽप्यन्तरात्मानमनुदाहरेत् ।
यावत्तावद्बहिः कुत्र कथं तद्विदितं भवेत् ॥ ८४ ॥
यथा हि दीपो विषयान्प्रकाशयति सर्वतः ।
स्वयं प्रकाश्यतां नैति क्वचिद्दीपस्य कस्यचित् ॥ ८५ ॥
प्रकाशते स्वयं चैवानपेक्ष्यान्यं प्रकाशकम् ।
एवं सूर्योदये सर्वे प्रकाशकतया स्थिताः ॥ ८६ ॥

हे ऋषिपुत्र ! पूरी सावधानी के साथ सुनो, मैं तुम्हें यह रहस्य समझाती हूँ । क्योंकि उदासीन मन से सुनकर भी इसे समझना कठिन है ॥ ७९ ॥

जब तक अपने भीतर इस विज्ञान की अनुभूति नहीं होती, हजारों बार इसका सुनना, या सुनाना भी बेकार ही होता है ॥ ८० ॥

विशेष — हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त होते ही प्रज्ञा बन जाती है । विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है । स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान; इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है, न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही रह जाती है । स्वयं से स्वयं प्रकाशित होता है । ज्ञान का स्वयं पर लौट जाना मनुष्य-चेतना की सबसे बड़ी क्रान्ति है । क्योंकि 'मैं ऐसा हूँ' इसका निर्णय करने के लिए अन्तः-करण कभी शान्त होकर अपने स्वरूप के सामने स्वयं को क्या रख पाता है । ऐसी क्रान्ति से ही मनुष्य स्वयं से सम्बन्धित होता है और मानव-जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का रहस्य उसके सामने खुलता है ।

जैसे कोई आदमी गले में लटकी मोती की माला को भूल से न जानकर अपनी अज्ञानता के कारण समझता है कि किसी चोर ने उसे चुरा ली ॥ ८१ ॥

अगर कोई उसे गले में भूल जाय तो दूसरों के लाख समझाने के बावजूद जब तक उसे वह खुद देख नहीं लेता, उस पर भरोसा नहीं करता । उसी तरह हे मुनिपुत्र ! सूक्ष्म विचारक व्यक्ति भी अपनी आत्मा और आत्मा के स्वभाव के बारे में बारम्बार सुनने के बावजूद भी जब तक शान्तचित्त से अपनी आत्मा के सामने नहीं होता तब तक उसे बाहर कहाँ और कैसे जान सकता है ? ॥ ८२–८४ ॥

जैसे चिराग चारों ओर हर चीज को दिखलाता है, किन्तु खुद कभी दूसरे चिराग

एवं च किं दीपमुखा अप्रकाश्यत्वहेतुतः ।
न सन्ति न प्रकाशन्ते इति वक्तुं हि युज्यते ॥ ८७ ॥
एवं प्रकाश्यभूतेषु सत्सु दीपमुखेषु वै ।
अत्यन्तमप्रकाश्यं यच्चित्तत्त्वं तत्कुतो वद ॥ ८८ ॥
असंवेद्यं प्रकाशेत चेत्यत्र विचिकित्सितम् ।
तस्मात्त्वमन्तर्मुखया दृष्टचा सम्यग्विचारय ॥ ८९ ॥
चिच्छक्तिरेषा परमा त्रिपुरा सर्वसंश्रया ।
सर्वावभासिनी कुत्र कदा वा न प्रकाशते ॥ ९० ॥
यदा सा न प्रकाशेत प्रकाशेत तदा नु किम् ।
अप्रकाशेनापि सैव चितिशक्तिः प्रकाशते ॥ ९१ ॥
अप्रकाशो यया भाति सा न भायात्कथं वद ।
भाति चेत्सा कथं भाति विमृशैतत्सुसूक्ष्मतः ॥ ९२ ॥
अत्र सर्वे न पश्यन्ति कुशला अपि पण्डिताः ।
अनन्तर्दृष्टयस्तेन मोहिताः संसरन्ति च ॥ ९३ ॥
यावद् दृष्टिः प्रवृत्तिं तु न परित्यज्य तिष्ठति ।
तावदन्तर्दृष्टितापि न स्यादेव कथञ्चन ॥ ९४ ॥

के सहारे नहीं दीखता है। वह किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा किये बिना खुद ही प्रकाशित होता है, उससे खुद प्रकाश झरता है; इसी तरह सूर्योदय होने पर सब प्रकाशक रूप में ही दीखते हैं ॥ ८५–८६ ॥

ऐसी स्थिति में प्रकट नहीं करने योग्य होने के कारण क्या यह कहना ठीक है कि 'यह दिया है ही नहीं या जानते ही नहीं' ॥ ८७ ॥

इस तरह प्रकाशित होनेवाले दीपक आदि के बारे में यदि ऐसी बातें हैं तो जो कभी किसी से प्रकट होने योग्य नहीं है, उस चेतन तत्त्व के बारे में यदि यह कहा जाता है कि वह जानने योग्य नहीं है और वह प्रकट दीखती भी है तो इसमें सन्देह क्यों होता है ? अतः तुम इस पर भीतरी आँखों से जमकर विचार करो ॥८८–८९॥

वही चिन्मयी शक्ति महादेवी त्रिपुरा सबका आधार है। वही सबको प्रकाशित करनेवाली है। अतः वह कब और कहाँ प्रकाशित नहीं होती ? ॥ ९० ॥

उसके सिवा और कौन है जो प्रकाशित हो ? अप्रकाश रूप से भी वही चित्शक्ति प्रकाशित होती रहती है ॥ ९१ ॥

भला जिससे 'अप्रकाश' का बोध होता है, वह खुद क्यों नहीं दीखेगी ? और यदि दीखती है तो कैसे दिखलायी पड़ती है—इस पर गंभीरता से विचार करो ॥ ९२ ॥

बिना अन्तर्दृष्टि के सूक्ष्म विचारक भी इसे समझने में असमर्थ हैं। इसी वजह से मोहग्रस्त होकर संसारचक्र में पड़े रहते हैं ॥ ९३ ॥

जब तक बाहरी प्रवृत्ति से मुँह मोड़कर व्यक्ति स्थिर नहीं हो जाता, तब तक उसे अन्तर्दृष्टि नहीं मिल सकती है ॥ ९४ ॥

यावन्नान्तर्दृष्टिमेति तावत्तां न प्रपश्यति ।
अन्तर्दृष्टिर्निरीहा स्यात् सेहायाः सा कथं भवेत् ॥ ९५ ॥
परिहृत्य तु तां सम्यक् स्वभावमुपसंश्रय ।
क्षणं स्वभावमाश्रित्य निर्विमर्शस्ततः परम् ॥ ९६ ॥
विमृश्य स्मरणद्वारा ततो वेत्सि समस्तकम् ।
असंवेद्यं सुवेद्यं च तदेवं तत्त्वमुच्यते ॥ ९७ ॥
विदित्वैवमवेद्यं च प्राप्नुयादमृतां स्थितिम् ।
एतत्तेऽभिहितं सर्वं मुनिपुत्र नमोऽस्तु ते ॥ ९८ ॥
व्रजाम्यहं त्वया चैतन्न विज्ञातं सकृच्छ्रुतेः ।
बोधयिष्यति त्वामेष राजा बुद्धिमतां वरः ॥ ९९ ॥
पृच्छ भूयः संशयं ते सर्वं छेत्स्यति वै नृपः ।
इत्युक्त्वा पूजिता राज्ञा प्रणता च सभासदैः ॥ १०० ॥
वातनुन्नाभ्रलेखेव क्षणादन्तर्द्धिमाययौ ।
एतत्तेऽभिहितं राम वेदनप्रक्रियात्मनः ॥ १०१ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टावक्रीये पञ्चदशोऽध्यायः ।

बिना अन्तर्दृष्टि पाये उस परमशक्ति का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता । अन्तर्दृष्टि तो संकल्पशून्यता है । जब तक किसी तरह की कामना मन में रहेगी, अन्तर्दृष्टि मिल ही नहीं सकती है ॥ ९५ ॥

अतः सबसे पहले तुम अपने संकल्पों का परित्याग कर दो । अपने स्वरूप का सहारा लो । मात्र एक पल अपने स्वरूप पर स्थिर रहकर फिर निश्चिन्त हो जाओ ॥ ९६ ॥

मात्र उस अवस्था के स्मरण से तुम्हें पता चल जायेगा कि 'वह तत्त्व अज्ञेय है और सुज्ञेय भी है'—ऐसा क्यों कहा जाता है ॥ ९७ ॥

इस तरह नहीं जानने योग्य उस तत्त्व को जानकर तुम अमृतस्थिति पा लोगे । मैंने तुम्हें इसका सारा रहस्य समझा दिया । मुनिपुत्र ! तुम्हें नमस्कार है ॥ ९८ ॥

अब मैं चली । एक बार सुन लेने से ही तुम इसे जान नहीं सकोगे । बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राजा जनक तुम्हें इसका बोध करा देंगे । तुम फिर इनसे पूछना । ये तुम्हारी सारी शंकाएँ मिटा देंगे ॥ ९९½ ॥

इतना बोलकर वह उठ गई । राजा ने उसकी पूजा की तथा सभासदों ने प्रणाम । फिर हवा की तरह वह हिली और मेघमाला की तरह गायब हो गई । परशुराम ! मैंने तुम्हें यह आत्मज्ञान की प्रक्रिया समझा दी ॥ १००–१०१ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त ।

षोडशोऽध्यायः

श्रुत्वैतद्भार्गवो रामः प्राप्य विस्मयमान्तरे।
भूयः पप्रच्छाऽत्रिसूनुमवितृप्तः कथाश्रुतेः ॥ १ ॥
भगवन्नद्भुतं ह्येतच्छ्रुतं वृत्तं पुरातनम्।
भूयः पप्रच्छ राजानमष्टावक्रो महामुनिः ॥ २ ॥
यद्राजा प्रत्युवाचैनं तच्च मे वद सर्वशः।
अहोऽद्भुतं समाख्यानं न क्वचिच्च मया श्रुतम् ॥ ३ ॥
विज्ञानवृत्तसर्वस्वं दयया वद मे गुरो।
इत्येवमनुयुक्तोऽथ दत्तात्रेयो महामुनिः ॥ ४ ॥
भार्गवाय समाचख्यौ कथां परमपावनीम्।
श्रृणु भार्गव यत् प्रोक्तं जनकेन महात्मना ॥ ५ ॥
निर्गतायां तु तापस्यामष्टावक्रो मुने सुतः।
संवृतो बहुभिर्विप्रैः समेत्य नृपपुङ्गवम् ॥ ६ ॥
पप्रच्छ यत्तु तापस्या सङ्क्षिप्योक्तं महार्थकम्।
तदुच्यमानन्तु मया सम्यक् श्रृणु समाहितः ॥ ७ ॥
राजन् विदेहाधिपते तापस्योक्तं तु यत्तया।
तदहं नाऽविदं सम्यक् सङ्क्षेपोक्तत्वहेतुतः ॥ ८ ॥

(जनक और अष्टावक्र का संवाद)

इन सारी बातों को सुनकर परशुरामजी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। इतना सुनकर वे संतुष्ट नहीं हुए। अतः मुनिपुत्र गुरु दत्तात्रेय से उन्होंने फिर पूछा ॥ १ ॥

श्रीमान् ! यह तो मैंने बड़ा ही अनोखा पुराना इतिहास सुना। कृपया अब आप मुझे पूरा प्रसङ्ग सुना दें। मुनि अष्टावक्र ने राजा जनक से क्या पूछा और उन्होंने उसका क्या उत्तर दिया ? यह तो बड़ी ही अनूठी कहानी है। ऐसा तो मैंने कभी सुना ही नहीं ॥ २–३ ॥

हे गुरुदेव ! मुझ पर दया कीजिए, यह वैज्ञानिक रहस्य खोलकर मुझे समझा दीजिए। ऐसा पूछने पर गुरु दत्तात्रेय ने परशुराम को यह पवित्र कहानी सुनाना शुरू किया—सुनो परशुराम ! 'जनकजी ने जो कुछ सुनाया वह ऐसा है' ॥ ४–५ ॥

सभा से उस ब्रह्मचारिणी के जाने के बाद अनेक ब्राह्मणों को साथ लेकर मुनि अष्टावक्र राजा जनक के पास पहुँचे। उस तापसी ने परम पुरुषार्थ के सन्दर्भ में जो कुछ संक्षेप में कहा था, उसी के बारे में इसने ज्ञानी जनक से पूछा। वही प्रसङ्ग मैं तुम्हें सुनाता हूँ। तुम एकाग्रचित्त से सावधान होकर सुनो ॥ ६–७ ॥

हे विदेहराज ! सभा में उस तापसी ने जो कुछ कहा था, अति संक्षिप्त होने के

कथं विद्यामवेद्यं तत् समाचक्ष्व दयानिधे ।
एवं जनक आपृष्टः प्राह तं विस्मयन्निव ॥ ९ ॥
मुनिपुत्र श्रृणु वचो मया यत् प्रोच्यतेऽधुना ।
नाऽवेद्यं सर्वथा तद्धि वेद्यञ्चापि न सर्वथा ॥ १० ॥
अवेद्य चेत् सर्वथैव तद् गुरुः किं वदेद्वद ।
गुरुरावेदयेतत्त्वमत आदौ गुरुं श्रयेत् ॥ ११ ॥
एतद्वेदनमत्यन्तं सुलभ दुःशकं च हि ।
यः परावृत्तदृष्टिः स्यात्तस्य तत् सुलभं भवेत् ॥ १२ ॥
यः पराग्दृष्टिरेवास्ते तस्य तच्चातिदुर्लभम् ।
अनिरूप्यं केवलं तदवेद्यमपि सर्वथा ॥ १३ ॥
कथञ्चिदन्यरूपेण निरूप्यं वेद्यमप्युत ।
यद्यद् दृश्यं पश्यसीह तेन तद्वेद्यमुच्यते ॥ १४ ॥
यत्तेऽवभासते किञ्चित् तद्विभावय सद्धिया ।
भानशक्तिर्भास्यहीना सर्वभानसमाश्रया ॥ १५ ॥

कारण वह ठीक ढंग से मेरी समझ में नहीं आया। हे कृपालु ! यह तथ्य आप मुझे समझा दें ताकि मैं उस अज्ञेय तत्त्व को सही ढंग से जान सकूँ। इस तरह पूछे जाने पर चकित होकर राजा जनक ने कहा—॥ ८–९ ॥

मुनिपुत्र ! अब मैं जो बतलाता हूँ, उसे समझो । वह परमपद न तो सर्वथा अज्ञेय है और न इतना हल्का कि आसानी से सब उसे समझ लें ॥ १० ॥

यदि वह बिलकुल जानने योग्य होता ही नहीं तो गुरुदेव भला उसके बारे में क्या बतलाते । इस रहस्य का ज्ञान तो गुरु से ही मिलता है । अतः सबसे पहले उनकी ही शरण में जाओ ॥ ११ ॥

उस पद को जानना बिलकुल सरल भी है और बड़ा कठिन भी। जिसकी आँखें बाहर से लौटकर अन्तर्मुख हो गई, उसके लिए यह बिलकुल सरल है । जिसकी दृष्टि बहिर्मुख है उसके लिए यह जानना बड़ा कठिन है ॥ १२½ ॥

वास्तव में वह पद बिलकुल अनिवर्चनीय और अज्ञेय भी है । फिर भी दूसरे ढंग से उसका निरूपण भी किया जाता है और उसे जाना भी जा सकता है ॥ १३½ ॥

यहाँ तुम जिन वस्तुओं को देखते हो, उसी दृश्य से वह वस्तु जानने या समझने योग्य बन जाती है । तुम्हें जो कुछ भी दीखता है उस पर पवित्र बुद्धि से विचार करो । जो दीखनेवाली वस्तु को छोड़कर आभास होने की शक्ति है, वही सारे बोध का सहारा है ॥ १४–१५ ॥

विशेष—वस्तुतः स्वयं से बाहर जो देखा जा सकता है वह स्वरूप कभी नहीं हो सकता । अतः उस परमपद की खोज स्वयं से बाहर नहीं हो सकती है; क्योंकि जो ज्ञान या दृश्य स्वरूप नहीं है, वह न तो ज्ञान है और न स्वरूप ही ।

सैव तत्तत्त्वमित्येव विजानीहि मुनेः सुत ।
वेद्यमेव न वित्तिः स्यात् स्वतो यन्न प्रकाशते ॥ १६ ॥
वित्तिरन्या यया वेद्यं वेद्यते न स्वतः क्वचित् ।
वेद्यं विभिन्नरूपं वै वित्त्यैव वेद्यते खलु ॥ १७ ॥
तत्तद्रूपविभेदेन वित्तिर्नो भिद्यते क्वचित् ।
भेदो हि वेद्यधर्मः स्यान्न वित्ति संस्पृशेत् क्वचित् ॥ १८ ॥
यत आकारभेदो हि वेद्यपक्षे विभासते ।
पश्य वेद्यं पृथक्कृत्य बुद्ध्याकारविवर्जितम् ॥ १९ ॥

दृश्य रूप में जो घड़े या कपड़े का ज्ञान होता है, उन घड़े या कपड़े के ज्ञान में घड़े या कपड़े तो ज्ञेय हैं और उन सबमें जो नियमित तथा निर्बाध रूप से मिला हुआ ज्ञान सामान्य है; वही वास्तव में परतत्त्व है । श्रुति ने इसे ही 'प्रतिबोधविदितं मतम्' कहकर निरूपण किया है ।

अतः हमें जो ज्ञात है, वह अज्ञात में नहीं ले जा सकता है । सत्यस्वरूप अगर अज्ञात है तो कोई ज्ञात विचार या दृश्य विषय वहाँ तक न पहुँचने की सीढ़ियाँ नहीं बन सकते । उन्हें छोड़कर ही सत्य में प्रवेश होता है । निर्विचार चैतन्य के आकाश में ही सत्य के सूर्य के दर्शन होते हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य-चित्त ऐन्द्रिक अनुभवों को संग्रहीत करता रहता है । उनके ये सारे अनुभव बाहरी जगत् के होते हैं; क्योंकि इन्द्रियाँ केवल उसे ही जानने में समर्थ होती हैं, जो बाहर हैं । स्वयं के भीतर जो हैं, वहाँ तक इन्द्रियों की कोई पहुँच नहीं हैं । इन बाहरी अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जन्मदात्री हैं । इसीलिए विचार विज्ञान की खोज में तो सहयोगी हो सकता है, किन्तु इस परम पद के अनुसन्धान में नहीं । स्वयं के आन्तरिक केन्द्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो इन्द्रियों के पार्श्व में ही सदा है । अतः इसे जानना जितना ही सरल है उतना ही कठिन भी ।

मुनिपुत्र ! यही परमतत्त्व है, इसे ही पहचानो । जो पदार्थ ज्ञेय है, वही ज्ञान नहीं हो सकता । क्योंकि वह स्वयं प्रकाशित नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

ज्ञान अर्थात् वस्तुओं और विषयों की जानकारी से ज्ञेय अर्थात् वस्तु या विषय जो जाना जा सके थलग है । ज्ञेय स्वतः कभी नहीं जाना जाता । उसके अनेक रूप होते हैं । वे तो किसी-न-किसी जानकारी से ही जाना जा सकता है ॥ १७ ॥

ज्ञेय पदार्थों की अनेकरूपता से उसकी जानकारी में कभी कोई भेद नहीं होता । भेद तो ज्ञेय पदार्थों का ही धर्म है, वह ज्ञान को कभी नहीं छूता है ॥ १८ ॥

क्योंकि बनावट का भेद तो जानने या समझने योग्य पदार्थों में ही दीख पड़ता है । अतः तुम इस जानने योग्य पदार्थों को अलग हटाकर शुद्ध बुद्धि से स्वरूपशून्य ज्ञान का साक्षात्कार कर लो ॥ १९ ॥

बिम्बानुकृतिरादर्शो यद्वत्तद्वदियं चितिः ।
दृश्याकारधृतेर्नानारूपतां प्रतिपद्यते ॥ २० ॥
एवं वित्तिरियं वेद्या वेद्यव्यावृत्तरूपतः ।
न तु स्वभावतो वेद्या सा वित्तिर्विश्वसंश्रया ॥ २१ ॥
यत एतद्वेदितुः स्याद्रूपं तस्मान्न वेद्यते ।
विमृशाऽष्टावक्र रूपं निजमेवंविधं स्फुटम् ॥ २२ ॥
न त्वं शरीरं प्राणो वा मनो वाऽप्यस्थिरत्वतः ।
शरीरं धातुनिकरं तत्ते रूपं कथं भवेत् ॥ २३ ॥
तच्चाऽन्यविषयाभासे त्वहंधियमतिव्रजेत् ।
एवं प्राणो मनोऽपि स्यादहंबुद्धिव्यतिक्रमात् ॥ २४ ॥
अहंबुद्धिं न व्यतीत्य तिष्ठत्येषा परा चितिः ।
तस्माच्चितिः सर्ववेत्री त्वमष्टावक्र तत्त्वतः ॥ २५ ॥

जैसे आईना परछाई के रूप को कबूल कर लेता है, उसी तरह यह शुद्ध चेतन दृश्य के स्वरूपों को स्वीकार कर अनेकरूपता को पा लेता है ॥ २० ॥

इस तरह इन ज्ञेय पदार्थों को अलग हटाकर इस चेतनतत्त्व को जाना जा सकता है । समस्त दुनिया का आधार यह चेतन स्वभाव से ज्ञेय नहीं है ॥ २१ ॥

क्योंकि यह चेतन ज्ञाता का स्वरूप है, इसलिए यह ज्ञान का विषय कभी हो ही नहीं सकता । अष्टावक्र ! तुम अपने ऐसे स्वरूप पर स्पष्ट रूप से विचार करो ॥ २२ ॥

न तुम देह हो, न प्राण हो और न मन ही हो, क्योंकि ये सब अस्थिर हैं । देह तो वात, पित्त और कफ का समूह है । यह तुम्हारा स्वरूप कैसे हो सकता है ? ॥२३॥

इसके सिवा जब किसी अन्य पदार्थ का बोध होता है तब देह में अहंबुद्धि नहीं रहती । इसी तरह अहंबुद्धि शून्य होने के कारण प्राण और मन भी आत्मा नहीं है ॥ २४ ॥

विशेष – आत्मा हमेशा अहं रूप से स्फुरित होती है । देहादि के साथ ऐसी बात नहीं है । जब घटपटादि अन्य पदार्थ दिखलाई पड़ते हैं तो फिर देह अहं रूप से नहीं दीख पड़ती है । यदि उस समय भी वे अहं रूप से दीखते तो उनके ज्ञानकाल में हमें ऐसा भी बोध अवश्य होता कि मैं गोरा, लम्बा या काला हूँ । किन्तु ठीक उस समय कुछ ऐसा बोध नहीं होता । जैसे रूप की प्रतीति के समय आँखों का और शब्द की प्रतीति के समय कानों का अनुसन्धान नहीं होता, इसी तरह घटपटादि का बोध होते समय देह का अनुसन्धान नहीं होता । कहने का तात्पर्य यह है कि जब देह का अन्य अर्थात् दृश्य रूप से बोध होता है तब ये 'मैं' रूप से नहीं दीखते अपितु 'मेरे' रूप में ही प्रतीत होते हैं । अतः अहं बुद्धि से रहित होने के कारण ये आत्मा नहीं है ।

पश्य प्रत्यावृत्तचक्षुः स्वात्मानं केवलं चितिम् ।
आदेशकाल एव स्वं पश्यन्त्युत्तमबुद्धयः ॥ २६ ॥
चक्षुर्नैतद्गोलकं ते मनश्चक्षुरुदाहृतम् ।
येन पश्यसि स्वप्नेषु तच्चक्षुर्मुख्यमुच्यते ॥ २७ ॥

यह पराचिति किसी भी समय 'अहंबुद्धि' को छोड़कर अलग नहीं रहती । इसलिए यह सब को जाननेवाली है । तुम आँखों को अन्तर्मुख करके तत्त्वतः अपने-आप को शुद्धचिति के रूप में ही देखो । उत्कृष्ट बुद्धिवाले जिज्ञासु उपदेश के समय ही अपने आपको पहचान लेते हैं ॥ २५–२६ ॥

विशेष—यहाँ एक सन्देह यह हो सकता है कि सुषुप्ति और समाधि के समय तो चेतन में अहंबुद्धि नहीं देखी जाती है । यहाँ पहले यह देखना चाहिए कि सबसे पहले ज्ञेय से ज्ञान को मुक्त करना है । उस खूँटी से मुक्त होकर ही उसको स्वयं में स्थिरता और प्रतिष्ठा मिल सकती है । इस मुक्ति का उपाय समाधि है । सुषुप्ति में भी मुक्ति होती है, किन्तु यह तो एक मूर्च्छित अवस्था है । सुषुप्ति में मन स्वयं में लीन हो जाता है । यह स्थिति उसका अपना स्वरूप है । इसी से ही कहते हैं 'स्वप्ति' अर्थात् सोता है । स्व का अर्थ है अपने-आप और 'अपीति' का अर्थ है 'प्रवेश कर जाना' । अपने-आप में प्रवेश कर जाना ही 'सुषुप्ति' है । समाधि और सुषुप्ति में एक बात को छोड़कर बिलकुल समानता है । सुषुप्ति अचेतन और मूर्च्छित अवस्था है, समाधि पूर्ण चेतन और अप्रकट । इसीलिए सुषुप्ति में हम जगत् के साथ एक हो गये मालूम होते हैं और समाधि में परम चेतना के साथ ।

कुछ विचारकों की दृष्टि में अहंबुद्धि सविकल्प और निर्विकल्प रूप से दो प्रकार की होती है । जाग्रत् और स्वप्न में भेद का भान होने के कारण वह सविकल्प रहती है तथा सुषुप्ति और समाधि के समय भेद का भान न होने से निर्विकल्प । यदि उस समय भी सविकल्प अहं स्फूर्ति होती तो त्रिपुटी का लय नहीं हो सकता था । शास्त्रों में उसे पूर्णाहन्ता कहा गया है । यदि उन अवस्थाओं में अहन्ता का सर्वथा अभाव हो जाता तो 'मैं सुख से सोया', 'मैं समाधिस्थ रहा' इस प्रकार अहन्ता के उल्लेखपूर्वक याद नहीं हो सकती थी । अतः उन अवस्थाओं में भी अहन्ता रहती ही है ।

वस्तुतः समाधि सुषुप्ति है ही नहीं । अनेक मनस्तत्त्ववेत्ताओं का ख्याल है कि चेतना जब निर्विकल्प होगी तो निद्रा आ जायेगी । यह भ्रान्ति बिना प्रयोग किये सोचने से पैदा हुई है । चेतना सो जाय तो निर्विषय हो जाती है । लेकिन इससे यह फलित नहीं होता है कि वह निर्विषय होगी तो सो जायेगी । उसे निर्विकल्प बनाना ही इतने श्रम और सचेष्ट जागरूकता से होता है कि उसकी उपलब्धि पर सो जाना असंभव है । उसकी उपलब्धि पर तो शुद्धबुद्धता ही शेष रह जाती है । ऐसी क्रान्ति तो समाधि में ही होती है ।

यहाँ 'आँख' कहने का तात्पर्य इन चर्मचक्षुपिण्डों से नहीं बल्कि मन की आँखों

तस्य प्रत्यावृत्तिरपि प्रोच्यते श्रृणु भूसुर।
अप्रत्यावृत्तचक्षुर्वै नैव पश्यति किञ्चन ॥ २८ ॥
दिदृक्षुश्चक्षुषा किञ्चित् तदन्येभ्यो ह्यशेषतः।
प्रत्यावृत्य दृढं तस्मिन्नेव संयोजयेद्यदि ॥ २९ ॥
तदा तद्भासते स्पष्टं नान्यदा तु कदाचन।
अन्यदा तु पुरोवृत्ति न स्पष्ट भासते क्वचित् ॥ ३० ॥
आभातकल्पमेव स्यादप्रत्यावृत्तचक्षुषा।
एवं श्रोत्रत्वगादीनां भूदेवाऽवेहि संस्थितिम् ॥ ३१ ॥
मनसाऽप्येवमेव स्यात् सुखदुःखाऽवभासनम्।
अप्रत्यावृत्तमनसा किंस्विद्वेदितुमर्हति ॥ ३२ ॥
तस्मात्तदेकपरता प्रत्यावृत्तिश्च चक्षुषः।
प्रत्यावृत्तं मनः शुद्धं निजरूपावभासकम् ॥ ३३ ॥
अत्र ते सम्प्रवक्ष्यामि श्रृणु तन्नियताऽन्तरः।
अगोचरश्चेदात्माऽसौ मनसा गोचरोऽपि च ॥ ३४ ॥

के लिए कहा गया है। जिन आँखों से आदमी सपने में भी देखता है, वही आँखें असली आँखें हैं ॥ २७ ॥

मन की उन आँखों को बाहर से मोड़कर भीतर की ओर उलटना क्या है ? यह भी बतलाया जाता है। क्योंकि उसे बिना भीतर की ओर मोड़े कोई कुछ भी नहीं देख सकता ॥ २८ ॥

जो आदमी आँखों से कुछ देखना चाहता है वह अपनी आँखों को हर ओर से हटा कर जिसे देखना चाहता है उस पर टिका देता है, तो वह वस्तु उसे साफ दीखने लगती है, अन्यथा नहीं। ऐसा नहीं होने पर तो कभी-कभी सामने रखी हुई वस्तु भी उसे साफ नहीं दिखलाई देती है ॥ २९–३० ॥

जो आँखें किसी वस्तु पर केन्द्रित नहीं होती, वह वस्तु देखने के बावजूद भी अनदेखी रह जाती है। ब्राह्मणदेवता ! ऐसी ही बातें नाक, कान, त्वग् प्रभृति अन्य इन्द्रियों के विषय में भी जाननी चाहिए ॥ ३१ ॥

मन से सुख और दुःख की अनुभूति भी इसी तरह होती है। जिसका मन विषय-विमुक्त नहीं है, भला वह क्या जान सकता है ? ॥ ३२ ॥

अतः एकमात्र अपने लक्ष्य पर आँख रखना ही आँखों का बाहर से हटकर भीतर लीन हो जाना है। अन्तर्मुख विशुद्ध मन ही अपने असली रूप को पहचान सकता है ॥ ३३ ॥

अब जो कुछ तुम्हें बतलाता हूँ उसे स्थिर मन से सुनो। यह आत्मा मन से ग्राह्य भी है और अग्राह्य भी है ॥ ३४ ॥

अत्र मुह्यन्ति बहवः श्रुत्यागमविवेचकाः ।
मनोगोचरता बाह्ये द्विप्रकारेण संस्थिता ॥ ३५ ॥
आद्याऽन्येभ्यः परावृत्तिः परा तत्परता भवेत् ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेऽपि मनसः सति ॥ ३६ ॥
न किञ्चिद्भासयेद्वस्तु तटस्थाऽवसरेषु तत् ।
तस्मात्तत्परताऽप्यत्र व्यापारो मानसः परः ॥ ३७ ॥
एवं व्यावृत्तभावानां व्यापारद्वयभासनम् ।
अव्यावृत्ता चितिर्यस्मात्तस्मान्नात्र तथा भवेत् ॥ ३८ ॥
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेणैवाऽवभासयेत् ।
यथा पुरःस्थितादर्शे किञ्चिद्दर्शनहेतवे ॥ ३९ ॥
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिराभिमुख्यश्च तस्य वै ।
अपेक्ष्यते दर्पणस्य प्रतिबिम्बदिदृक्षुणा ॥ ४० ॥
गगनं दर्पणे द्रष्टुं यदा समभिवाञ्छति ।
तदाऽन्येभ्यः परावृत्तिमात्रेण हि कृतार्थता ॥ ४१ ॥
गगनं सर्वतो व्याप्तं दर्पणे सर्वदा स्थितम् ।
अव्यावृत्तं किन्तु चाऽन्यैरभिच्छन्नं न भासते ॥ ४२ ॥
सर्वाश्रयं सर्वगतमपि तैश्छादितं यतः ।
अतस्तेभ्यः परावृत्तिमात्रेणैव विभासते ॥ ४३ ॥

वेदशास्त्रों के अनेक पर्यालोचक भी आत्मा के बारे में मोहग्रस्त ही रहते हैं। बाहरी पदार्थों में मन की पकड़ दो तरह की होती है ॥ ३५ ॥

पहली—दुनियादारी से मनको मोड़ना तथा दूसरी अन्तरात्मा से उसे जोड़ना। बाहरी दुनिया से सिर्फ मन के हट जाने पर भी निरपेक्षता की स्थिति में भी कुछ नहीं दीखता है, अतः मन का अन्तरात्मा से जुटना भी आवश्यक व्यापार है ॥३६-३७॥

इस तरह जो अलग हटाये गये पदार्थ हैं, उनका ज्ञान तो बतलाये गये दोनों कार्यों से होता है। किन्तु चिति तो अवियुक्त है, अतः इसके अनुभव के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता है ॥ ३८ ॥

आईने की परछाई में यदि कोई किसी वस्तु को देखना चाहता हो तो आईने और परछाई के बीच का व्यवधान हटाते ही वह परछाई साफ-साफ झलकने लगती है। ठीक उसी तरह दुनियादारी से मन के हटते ही वह झलकने लगती है ॥३९-४०॥

पर यदि आईने में आसमान देखने की इच्छा हो तो दूसरी चीजों के सामने से आइने को हटा लेने से ही काम बन जायेगा ॥ ४१ ॥

आकाश तो हर जगह है, वह तो आईने में भी मौजूद है। किन्तु दूसरी चीजों को उसके सामने से बिना हटाये, क्योंकि दूसरी वस्तु की परछाई से ढके रहने की वजह से वह नहीं दिखलाई पड़ता है ॥ ४२ ॥

एवं चितिः सर्वगता सर्वाश्रयतया स्थिता ।
सर्वकाले समापूर्णा मनसि व्योमवद् द्विज ॥ ४४ ॥
तस्मादन्यपरावृत्तिमात्रं मनस इष्यते ।
पश्य विप्र चितिः कुत्र कदा नास्त्यवभासिनी ॥ ४५ ॥
यदा यत्र च सा नास्ति न यदा नापि यत्र च ।
तस्माच्चिदात्मावभासे मनसोऽन्यपरावृतिः ॥ ४६ ॥
केवलाऽपेक्षिता नैवाभिमुख्यं नूतनं क्वचित् ।
आभिमुख्याभावहेतोरेवाऽवेद्यत्वमिष्यते ॥ ४७ ॥
अत एव शुद्धमनोवेद्यं तत्तत्त्वमुच्यते ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिरेव शुद्धिर्हि मानसी ॥ ४८ ॥
एतदेव परं तत्त्वज्ञाने साधनमुच्यते ।
यावन्न हि मनः शुद्धं तावज्ज्ञानं कथं भवेत् ॥ ४९ ॥
शुद्धे मनसि वै ज्ञानं कथं वा न भवेद् ध्रुवम् ।
उपक्षीणं सर्वमत्र साधनं तस्य शोधने ॥ ५० ॥
कर्म वोपासनं वाऽपि वैराग्यादिकमेव वा ।
मनसः शोधने एव विनियुक्तं न चाऽन्यथा ॥ ५१ ॥

वह सबका आधार है । हर जगह मौजूद है । दुनियादारी से ढकी है । इसे हटाते ही वह झलकने लगती है ॥ ४३ ॥

इसी तरह चिति भी सबका सहारा है, सब जगह मौजूद है । ब्राह्मणदेवता ! वह इसी आकाश की तरह सबके मनमें बसी है ॥ ४४ ॥

इसलिए आत्मसाक्षात्कार के लिए मन को हर ओर से मोड़ लेने की आवश्यकता है । विप्रवर ! जरा सोचो, सबको प्रकाशित करनेवाली चिति कब और कहाँ नहीं है ? ॥ ४५ ॥

वह जब और जहाँ नहीं है तब वह जब और जहाँ प्रमाणित भी नहीं हो सकती । अतः चेतन आत्मा का ज्ञान होने के लिए केवल अनात्म पदार्थों के वर्जन की अपेक्षा है, न कि कोई नई वस्तु सामने लाने की ॥ ४६½ ॥

किसी के सामने साफ-साफ दिखलाई न देने की वजह से ही उसे समझ से परे कहा जाता है । इसीलिए वह तत्त्व शुद्ध मन से जानने योग्य कहा गया है । दुनियादारी से मन का हट जाना ही मन की शुद्धता या पवित्रता है । पवित्र मन ही परम तत्त्व की जानकारी का प्रमुख साधन है ॥ ४७–४८½ ॥

मन की शुद्धि के बिना ज्ञानार्जन असंभव है । यदि मन शुद्ध है तो ज्ञान की उपलब्धि निश्चित रूप से क्यों न होगी ? मन की शुद्धि होते ही अन्य साधनों की अपेक्षा समाप्त हो जाती है ॥ ४९–५० ॥

तस्माच्छुद्धेन मनसा भासते तत् परं वपुः ।
इति राज्ञेरितं श्रुत्वा त्वष्टावक्रः पुनर्जगौ ॥ ५२ ॥
राजंस्त्वयोक्तमन्येभ्यः परावृत्तिर्हि मानसी ।
केवला चेत् सा परा चिन्मनसा प्रविभासते ॥ ५३ ॥
तत् सुषुप्तौ विभासेत परावृत्तं मनस्तदा ।
तत्र किं साधनैरन्यैः सुप्तिमात्रात् कृतार्थता ॥ ५४ ॥
इति पर्यनुयुक्तोऽथ विप्रेणोवाच भूपतिः ।
समाहितः शृणु ब्रह्मन् समाधानं वदामि ते ॥ ५५ ॥
सत्यं सुषुप्तौ मनसः परावृत्तिस्तु सर्वथा ।
लीनं मनस्त्वच्चाप्यस्य कथं तामवभासयेत् ॥ ५६ ॥
कज्जलेन समालिप्ते दर्पणे गगनं न हि ।
अन्येभ्यस्तु परावृत्तिमात्रेण भासते क्वचित् ॥ ५७ ॥

कर्म, उपासना और वैराग्य प्रभृति का उपयोग भी तो मन की शुद्धि के लिए ही है, अन्यथा इसका कोई दूसरा उपयोग तो है ही नहीं ॥ ५१ ॥

'इस परमात्मा की प्रतीति तो शुद्ध मन से ही संभव है।' राजा जनक की यह बात सुनकर अष्टावक्र ने उनसे फिर पूछा ॥ ५२ ॥

राजन् ! आपने अभी कहा है कि मन यदि बाहरी पदार्थों से सिर्फ हट जाय तो वह शुद्ध हो जाता है और शुद्ध मन से परम चेतन की अनुभूति होती है ॥ ५३ ॥

तब तो गहरी नींद में उस परम तत्त्व का बोध होना चाहिए। क्योंकि नींद में मन स्वतः विषयों से विमुख रहता है। फिर दूसरे साधन की आवश्यकता ही क्यों है ? सुषुप्ति से ही तो काम चल जायेगा ॥ ५४ ॥

अष्टावक्र के प्रश्न का जवाब देते हुए राजा जनक ने कहा—ब्राह्मणदेवता ! मैं आपकी शंका का समाधान करता हूँ। आप ध्यान लगाकर सुनें ॥ ५५ ॥

यह तो आपने ठीक ही कहा—गाढी नींद में मन विषयों से बिलकुल विमुख हो जाता है। पर फिर मन का अपना स्वरूप भी तो नींद में ही डूब जाता है, फिर परम तत्त्व का बोध किसे होगा ? ॥ ५६ ॥

विशेष—धरती, आकाश, वायु, जल और आग—इन पाँचभौतिक तत्त्वों के सात्त्विक अंश का परिणाम यह मन है। यही कारण है कि हर विषय का बोध इस मन से होता है। क्योंकि ज्ञान सत्त्वगुण का धर्म कहा गया है। गाढी नींद में तमोगुण से सब गुण ढँक जाता है। अतः इसका बोध नहीं होता। जैसे अँधेरे से ढके रहने के कारण आईने में कोई परछाई नहीं दीखती है, उसी तरह नींद में तमोगुण से ढके रहने के कारण मन में न तो विषय का बोध होता है और न शुद्ध चेतन ही।

यदि आईने पर काजल पोत दिया जाय तो कोई परछाई तो बनेगी ही नहीं, आकाश का बोध भी नहीं हो सकता है ॥ ५७ ॥

एवं विलिप्ते मनसि निद्रयाऽन्यपरावृतेः ।
अयोग्यत्वादेव मनो भासयेन्न चितिं क्वचित् ॥ ५८ ॥
अन्यथा लोष्टकुडचादेरपि भायात् कुतो न सा ।
तस्माद्योग्येन मनसा शुद्धेन भासते हि सा ॥ ५९ ॥
अतः सद्योजातशिशोर्भासते न हि किञ्चन ।
अथाऽपि शृणु वक्ष्यामि मषीलिप्ते हि दर्पणे ॥ ६० ॥
अलक्षितं चाऽपि मषीप्रतिबिम्बनमस्ति वै ।
संश्लेषान्न विलक्ष्येत स्वभावस्याऽनपोहनात् ॥ ६१ ॥
तथा मनः सुषुप्तिस्थं संश्लिष्टं निद्रयैव हि ।
अतोऽन्येभ्यः परावृत्तेरभावाद्भासयेन्न ताम् ॥ ६२ ॥
अतो निद्रास्मृतिरपि व्युत्थितस्य हि सम्भवेत् ।
मूढताऽपि च या तस्यां दशायामनुभूयते ॥ ६३ ॥
तत्ते सम्यक् प्रवक्ष्यामि शृणु सम्यक् समाहितः ।
मनसस्तु द्विधाऽवस्था प्रकाशामर्शभेदतः ॥ ६४ ॥
बहिरर्थेषु विश्रान्तिर्या प्रकाशः स उच्यते ।
यस्तद्विचारः स्वस्मिन् वै स विमर्श उदाहृतः ॥ ६५ ॥

इस तरह मन पर नींद का लेप चढ़ जाने से दूसरी वस्तुओं से उसकी विमुखता तो होती है। प्रकाशन की क्षमता नष्ट हो जाने के कारण वह चिति को भी प्रकाशित नहीं कर पाता है ॥ ५८ ॥

यदि ऐसा नहीं होता तो ढेले और भीत को भी इस चिति का बोध क्यों नहीं होता ? अतः योग्य और शुद्ध मन से ही उसका ज्ञान संभव है, अन्यथा नहीं ॥ ५९ ॥

इसी से तत्काल पैदा हुए बच्चे को भी कुछ नहीं दीखता। फिर भी एक बात बतलाता हूँ, इसे सुनो और समझो। काजल पुते आइने में भी काजल की परछाई तो रहती ही है, भले ही वह दिखलाई न दे। क्योंकि जो जिसका गुणधर्म है, उससे उसे छुटकारा तो मिलता ही नहीं है। भले ही काजल के संसर्ग से वह दीख नहीं पड़ता ॥ ६०–६१ ॥

इस तरह गाढ़ी नींद में मन नींद से ही जुड़ा रहता है। अतः नींद से उसका लगाव तो हटता नहीं। इसी से नींद में वह चिति को प्रकाशित नहीं कर पाता है ॥ ६२ ॥

यही कारण है कि जगे हुए आदमी को नींद की याद आती है और उस अवस्था में जिसका अनुभव होता है, उस मूर्खता की भी याद आती है ॥ ६३ ॥

अब मैं तुम्हें साफ-साफ समझाता हूँ, सावधान होकर सुनो। मन की दो अवस्थाएँ होती है – (१) प्रकाशावस्था और (२) विमर्शावस्था ॥ ६४ ॥

दुनिया की हवा से मन का बिलकुल हट जाना उसकी प्रकाशावस्था है और दुनियादारी का अनुचिन्तन मन की विमर्शावस्था है ॥ ६५ ॥

प्रकाशो निर्विकल्पः स्याद् वस्तूनामविभेदतः ।
विमर्शः शब्दसम्भेदाद्विभेदात् सविकल्पकः ॥ ६६ ॥
अयमेवंविध इति शब्दसम्भेदवर्जितः ।
वस्तुदर्शनरूपोऽसौ प्रकाशो निर्विकल्पकः ॥ ६७ ॥
अयमेवंविध इति वस्तुदर्शनमूलकः ।
शब्दसम्भिन्नरूपोऽसौ विचारात्माऽवभासनः ॥ ६८ ॥
आन्तरोऽभिनवोऽन्यो वा विमर्श इति कीर्त्तितः ।
तत्र योऽभिनवाऽऽभासः स प्रोक्तोऽनुभवात्मकः ॥ ६९ ॥
अन्यस्मृत्यनुसन्धानात्मकः संस्कारसम्भवः ।
एवं मनो द्विप्रकारशक्तियुक्तं सदा स्थितम् ॥ ७० ॥
निद्रा प्रकाशरूपाऽसौ सुषुप्तिश्चिरसंस्थिता ।
जागरामर्शबहुला चेत्यमूढदशोच्यते ॥ ७१ ॥
प्रकाशनिबिडा यस्मात् सुषुप्तिर्मूढतात्मिका ।
अत एव हि दीपादेः प्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७२ ॥
निश्चिता मूढता सर्वैर्विद्वद्भिरपि सर्वथा ।

प्रकाश की अवस्था निर्विकल्प होती है, क्योंकि यह अवस्था परिवर्त्तन या प्रभेदों से रहित निरपेक्ष होती है। इससे भिन्न विमर्शावस्था सविकल्प होती है, क्योंकि इसमें वस्तुओं का भेद होने की वजह से शब्दों का भी विभेद होता है ॥ ६६ ॥

'यह ऐसा है' इस तरह के शब्दों के भेद से रहित और वस्तुपरक तत्त्वों को दिखलाने वाली यह प्रकाशावस्था निर्विकल्प होती है ॥ ६७ ॥

जिसके मूल में वस्तुतत्त्व को दिखलाना है और 'यह ऐसा है' इस तरह के शब्द-भेदमय विचाररूप से जो प्रतीत होती है, वह सविकल्पावस्था है ॥ ६८ ॥

विमर्शावस्था आन्तर होती है। अर्थात् मन पर जो बाहरी पदार्थों की परछाई पड़ती है, उसे ही अपना आधार बनाकर चलती हैं। यह आन्तर अभिनव और अन्य रूप से दो तरह का होता है। इनमें जो अभिनव आभास है, वह प्रत्यक्ष अनुभव रूप कहा गया है ॥ ६९ ॥

अन्य को 'स्मृति' कहा जाता है। यह अनुसंधानात्मक है। पहले अनुभूत वस्तु-जन्य संस्कार से यह होता है। इस तरह इन दो तरहों की शक्तियों से मन सदैव घिरा रहता है ॥ ७० ॥

यह गाढ़ी नींद की प्रकाशावस्था निर्विकल्प ज्ञानरूप होती है तथा बहुत समय तक रहती है और जाग्रत् अवस्था में विमर्श अर्थात् सविकल्प ज्ञान की अधिकता रहती है। इसीलिए इसे अमूढावस्था भी कहा गया है ॥ ७१ ॥

क्योंकि सोये हुए में घनीभूत प्रकाश अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान रहता है; इसलिए

निद्रा प्रथमजा व्यक्तं महाशून्यमिहोच्यते ॥ ७३ ॥
नास्ति सामान्यपदवी सुषुप्तिस्तत्प्रकाशनम् ।
वस्तुदर्शनकालेऽपि जाग्रत्येवंविधं मनः ॥ ७४ ॥
किन्तूत्तरक्षणोद्भूतविकल्पौघैस्तिरोहितम् ।

यह मूढ़तारूप है । इसी से प्रकाश की प्रचुरता रहने के कारण सुधीजनों ने दिये की सर्वथा मूढ़ता ही निश्चय की है ॥ ७२½ ॥

विशेष—मैं सबको जान सकता हूँ, लेकिन उसी तरह अपने-आपको नहीं। शायद इसीलिए आत्मज्ञान जैसी सरल घटना कठिन और दुरूह बनी रहती है । क्योंकि यह केवल ज्ञाता और ज्ञेय का ही सम्बन्ध नहीं है । इसीलिए चाहे तो इसे परम ज्ञान हम कह सकते हैं । क्योंकि इस ज्ञान के बाद फिर कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता । अथवा चाहें तो परम अज्ञान भी इसे कहें, क्योंकि यहाँ जानने को ही कुछ नहीं बचता । पदार्थ ज्ञान में विषय-विषयी का सम्बन्ध है, पर आत्मज्ञान में विषय-विषयी का अभाव है । यथार्थ ज्ञान में ज्ञाता है और ज्ञेय है और आत्मज्ञान में न ज्ञेय है और न ज्ञाता । यहाँ तो मात्र ज्ञान है, शुद्ध ज्ञान है । ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का ही नाम है—आत्मज्ञान ।

प्रत्येक पदार्थ की प्रतीति के मूल में उसके अधिष्ठान के रूप में परमतत्त्व का ही बोध होता है । जैसे आईने के ज्ञान के बिना परछाई का ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह सबका आधारभूत चिति के बोध के बिना किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । इसीलिए इस ज्ञान को पूर्णशुद्धावस्था का ज्ञान कहा गया है ।

सुप्तावस्था में घनीभूत प्रकाश अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान ही अवशिष्ट रहता है । इसका तात्पर्य यह है कि उस समय विमर्श या सविकल्प ज्ञान बिलकुल रहता ही नहीं है । इसीलिए इसे मूढ़ता या जड़ भी कहा गया है ।

किन्तु शुद्ध ज्ञान, जिसे हम चिति भी कहते हैं, वह केवल घनीभूत प्रकाश ही तो नहीं है, बल्कि स्फुरत् प्रकाश है । यह स्फुरण ही चिति या ज्ञानशक्ति है । इसे ही आगमशास्त्रों में स्पन्द या पूर्णाहन्ता कहा गया है । इससे सम्पन्न होने के कारण ही वह अपने संकल्पमात्र से आईने में परछाई की तरह अपने ही स्वरूप में दृश्यप्रपंच को आभासित कर देती है ।

इनमें दो तथ्यों को देखकर विचार करें—मेरा होना—मेरी अस्तित्व और मेरी जानने की क्षमता—मुझमें ज्ञान का होना, इन दोनों के आधार पर ही मार्ग खोजा जा सकता है ।

सृष्टिकाल में जो सबसे पहला स्वरूप सामने आया उसका नाम है नींद । इसी निद्रा को 'अव्यक्त' या 'महाशून्य' भी कहा जाता है । यह 'नास्ति' अर्थात् 'कुछ नहीं' इस बोध की सामान्यभूमि है । गहरी नींद में ही इसे पाया जाता है ॥ ७३½ ॥

जगे हुए में भी किसी वस्तु को देखते समय मन ऐसा ही होता है । किन्तु

सुषुप्तावव्यक्तशक्तिप्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७५ ॥
मनो विलीनमित्येवं विविचन्ति विवेचकाः ।
वस्तुदर्शनकालेऽपि चैवं लीनं मनो भवेत् ॥ ७६ ॥
शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते वक्ष्यामि स्वानुभूतितः ।
यत्र मुह्यन्ति विद्वांसोऽप्यतिसूक्ष्मविवेचकाः ॥ ७७ ॥
निर्विकल्पसमाधिश्च सुषुप्तिर्वस्तुदर्शनम् ।
त्रयमेतच्चैकविधं प्रकाशनिबिडत्वतः ॥ ७८ ॥
विमर्शभेदाद्भेदो हि लक्ष्यते व्यावहारिकैः ।
तत्र हेतुर्भास्यभेदादित्येव प्रविनिश्चयः ॥ ७९ ॥
समाधौ केवलचितिः सुप्तावव्यक्तमेव च ।
दर्शने भिन्नभासो हि भास्यमेवं त्रिधा स्थितम् ॥ ८० ॥
भास्यभेदेऽपि भासस्तु केवलं निर्विकल्पकः ।
अतः प्रकाशनिबिड इत्येव सम्प्रचक्षते ॥ ८१ ॥
समाधिश्च सुषुप्तिश्च चिरकालभवत्वतः ।
अनन्तरं स्पष्टतया सर्वैरपि विमृश्यते ॥ ८२ ॥

इसके पीछे दूसरे ही पल अनेक विकल्पों के सामने आ जाने से वह अवस्था समाप्त हो जाती है ॥ ७४½ ॥

कुछ विचारकों की दृष्टि में गहरी नींद में अव्यक्तशक्ति की घनीभूत निर्विकल्पता की वजह से मन उसी में खो जाता है । किन्तु यथार्थतः किसी वस्तु को देखते समय भी मन इसी प्रकार खोया रहता है ॥ ७५–७६ ॥

सुनो ब्राह्मणदेवता, अपने अनुभव के आधार पर यह रहस्य बतलाता हूँ । क्योंकि इस रहस्य को सुलझाने में सुधी समीक्षक भी उलझ कर बेवकूफ बन जाते हैं ॥ ७७ ॥

निर्विकल्प समाधि, गाढ़ी नींद और वस्तुदर्शन—सघन निर्विकल्पता की दृष्टि से तीनों एक जैसे ही हैं ॥ ७८ ॥

किन्तु सांसारिक लोगों को विमर्श-भेद के कारण ही इनका प्रभेद प्रतीत होता है । वस्तुतः इनका भेद स्वतः न होकर अपेने प्रभेदक के कारण ही प्रतीत होता है ॥ ७९ ॥

समाधि में केवल चिति ही शुद्ध रूप से रहती है । गाढ़ी नींद में अप्रकट भी है और वस्तु के रूप में अनेक प्रकट रूप भी है । इस तरह इस अवस्था में तीन तरह की प्रतीति भी हैं ॥ ८० ॥

दर्शक के भेद होने पर भी दृष्टि तो केवल निर्विकल्प ही रहती है । इसी से उसे तीनों अवस्थाओं में सघन प्रकाश ही कहा जाता है ॥ ८१ ॥

क्षणिकत्वाद्दर्शनं तु स्पष्टं न हि विमृश्यते।
एवं समाधिः सुप्तिश्च क्षणिका न विमृश्यते॥ ८३॥
सुषुप्तिः क्षणिका तद्वत् समाधिरपि विद्यते।
सुषुप्तिर्लक्ष्यते सूक्ष्मदृग्भिः परिचयात् खलु॥ ८४॥
समाधिस्त्वपरिचयात् सूक्ष्मो न हि विमृश्यते।
सर्वेषां प्राणिनां ब्रह्मन् व्यवहारदशास्वपि॥ ८५॥
सूक्ष्माः समाधयः सन्ति चाव्युत्पत्त्या विभान्ति नो।
जाग्रत्यविमृशिर्या स्यात् स समाधिरुदीरितः॥ ८६॥
विमर्शाभावमात्रन्तु समाधिरभिधीयते।
सुषुप्तौ दर्शने चापि समाधित्वमतः स्थितम्॥ ८७॥
किन्तु मुख्यसमाधित्वमनयोर्न हि विद्यते।
भेदामर्शनसंस्कारगर्भितत्वान्न मुख्यता॥ ८८॥
दर्शनं जाग्रति भवेदविमर्शनरूपकम्।
तथापि ते प्रवक्ष्यामि मुनिपुत्रादराच्छृणु॥ ८९॥

समाधि और गहरी नींद लम्बे अरसे तक रहती है। पीछे उनकी अनुभूति सब कबूल करते हैं॥ ८२॥

किन्तु किसी वस्तु का अवलोकन तो अनित्य है, अतः उसका साफ-साफ परिचय नहीं होता। इसी तरह समाधि और सुषुप्ति भी क्षणिक होती तो उसका भी परिचय नहीं होता॥ ८३॥

व्यवहार में कभी क्षणिक सुषुप्ति और समाधि भी हो जाती है। किन्तु लम्बी गहरी नींद का परिचय रहने के कारण बारीक बात को सोचने-समझने वाला व्यक्ति इस सुषुप्ति को तो पहचान लेता है। किन्तु समाधि का परिचय नहीं रहने के कारण किसी वस्तु के अवलोकन काल में जो सूक्ष्म समाधि की स्थिति होती है, वह पहचानी नहीं जाती है॥ ८४½॥

हे ब्राह्मण! व्यवहार के समय सब प्राणियों को सूक्ष्म समाधि लगती है। पर परिचय नहीं रहने के कारण वह पहचान में नहीं आती है॥ ८५½॥

जगे रहने पर भी कभी-कभी जो संकल्पशून्य की स्थिति हो जाती है, उसे समाधि ही कहा गया है। किसी तरह की विचारशून्यता ही तो समाधि कहलाती है॥ ८६½॥

इसलिए गाढ़ी नींद और वस्तुदर्शन के समय भी समाधि तो रहती ही है। किन्तु वे मुख्य समाधि नहीं मानी जाती है। इस स्थिति में भेद का उल्लेख कराने वाला संस्कार छिपा रहता है। इसीलिए उसे मुख्य समाधि नहीं माना गया है॥ ८७–८८॥

लगे रहने पर भी जो किसी वस्तु का हम अवलोकन करते हैं, उस समय भी तो

अव्यक्तं यत् प्रथमजं नास्ति सामान्यकं हि तत् ।
नास्तीत्येव हि तद्भानमत्यन्ताभावरूपकम् ।। ९० ।।
एषा सुषुप्तिरित्युक्ता जडशक्तिर्भवेच्चितः ।
दर्शने भासमानं च नास्त्याभासपदं यतः ।। ९१ ।।
अतः सुषुप्तिरेव स्याज्जडदर्शनसञ्ज्ञता ।
समाधौ भासमाना या चितिः सा ब्रह्मरूपिणी ।। ९२ ।।
भक्षिणी कालदेशानां नास्त्याभासविनाशिनी ।
सर्वथाऽस्तिमयी देवी सुषुप्तिः सा कथं भवेत् ।। ९३ ।।
तस्मात् सुषुप्तिमात्रेण न भवेद्धि कृतार्थता ।
बोधयामास जनक इत्यष्टावक्रमुक्तिभिः ।। ९४ ।।

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टावक्रीये षोडशोऽध्यायः ।

वचारशून्यता की ही स्थिति रहती है । फिर भी इसका रहस्य मैं साफ शब्दों में
मझाता हूँ । मुनिपुत्र ! सम्मानपूर्वक इसे आप समझो ।। ८९ ।।

सबसे पहले जो पैदा हुआ वह 'अप्रकट' है । उसका सामान्य रूप 'कुछ भी
हीं है' । यह 'कुछ भी नहीं है' इसकी प्रतीति अत्यधिक अभावस्वरूप ही है ।। ९० ।।

इसे ही 'गहरी नींद' कहा गया है । यह चेतन की जड़शक्ति है । क्योंकि देखने के
मय यह 'कुछ भी नहीं है' बिलकुल अभाव की प्रतीति की भूमि है । अतः सुषुप्ति ही
ड़ता ज्ञान के साथ मान्य है ।। ९१½ ।।

किन्तु समाधि में जो स्थिति दीखती है, वह तो साक्षात् परब्रह्म ही है । यह
स्थति देशकाल की मर्यादा को खा जाती है । 'कुछ भी नहीं है' इसे विनष्ट कर देती
। अतः पूरी सत्ता के स्वरूप में सुषुप्ति कभी नहीं हो सकती है ।। ९२–९३ ।।

इसलिए केवल सुषुप्ति से ही सफलमनोरथ कोई कैसे हो सकता है । इस तरह
नेक युक्तियों से राजा जनक ने अष्टावक्र को समझाया ।। ९४ ।।

सोलहवाँ अध्याय समाप्त ।

सप्तदशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं जनकेनोक्तमष्टावक्रः पुनर्नृपम् ।
पप्रच्छ यत्तद्वदामि शृणु भार्गव यत्नतः ॥ १ ॥
राजन् यदुक्तं भवता व्यवहारदशास्वपि ।
सूक्ष्माः समाधयः सन्तीत्येवं तन्त्रे वद स्फुटम् ॥ २ ॥
दशासु कासु ते सन्ति निर्विकल्पचिदात्मकाः ।
एवं तेनाऽनुयुक्तोऽथ प्राह राजा महाशयः ॥ ३ ॥
शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि व्यवहारे समाधयः ।
प्रियया सम्परिष्वक्तो नव्यया प्रथमं यदा ॥ ४ ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः ।
तिष्ठेन्न निद्रयाऽऽक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ५ ॥
यच्चिराद्वाञ्छितं किञ्चिदलभ्यत्वेन निश्चितम् ।
अकस्मात्तस्य सम्प्राप्तिर्यदा भवति वै मुने ॥ ६ ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः ।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ७ ॥

(राजा जनक की अपनी अनुभूति तथा साधन-प्रक्रिया का निरूपण)

हे परशुराम ! पूरी सावधानी से सुनो—जनक की बातें सुनकर अष्टावक्र ने फिर उनसे जो प्रश्न किया, वही बतलाता हूँ ॥ १ ॥

राजन् ! आपने जो कहा कि व्यवहार अर्थात् कामकाज के समय भी हलकी समाधि लग जाती है; यह कैसे ? यह साफ-साफ मुझे समझा दें ॥ २ ॥

"वह विकल्पविहीन, स्थिरज्ञानस्वरूप समाधि किन-किन स्थितियों में हुआ करती है" ? यह आप मुझे साफ शब्दों में समझा दें । अष्टावक्र के प्रश्न का उत्तर उदारचेता महाराज जनक ने देना शुरू किया ॥ ३ ॥

सुनो ब्राह्मणदेवता ! दुनियादारी में होनेवाली समाधियों के बारे में बतलाता हूँ—यदि कोई पुरुष पहली बार अपनी नयी नवोढ़ा पत्नी के साथ आलिंगन में आबद्ध होता है तो एक क्षण के लिए उसे बाहर-भीतर की कोई सुध नहीं रहती । उस समय वह गहरी नींद में भी नहीं रहता है । तन-मन की इस बेसुध स्थिति को समाधि कहते हैं ॥ ४–५ ॥

यदि कोई वस्तु किसी व्यक्ति को मिलनेवाली न हो और उसे पाने की लालसा उसे बहुत दिनों से हो, वह वस्तु उसे अचानक ही अगर मिल जाय तो खुशी के मारे एक क्षण के लिए वह भीतर-बाहर की सारी सुध भूल जाता है । उस समय वह नींद में भी नहीं होता है । इस बेसुध क्षण को समाधि ही तो कहते हैं ॥ ६–७ ॥

अतर्कितं व्रजन् क्वापि निर्भयो हृष्टमानसः।
अकस्माद्यदि सम्पश्येद् व्याघ्रादिं मृत्युसम्मितम् ॥ ८ ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ९ ॥
अतिप्रियं स्वपुत्रादि विभुं च गृहकर्मणि।
अरोगिणं यदाऽकस्मात् संश्रृणोति मृतं किल ॥ १० ॥
तदा न वेद बाह्यं वाप्यान्तरं वा क्षणं नरः।
तिष्ठेन्न निद्रयाक्रान्तः स समाधिरुदीरितः ॥ ११ ॥
अथान्यथापि वक्ष्यामि समाधेः सम्भवं श्रृणु।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तीनां मध्ये सन्ति समाधयः ॥ १२ ॥
दूरे किञ्चित् पश्यतस्तु बुद्धया चैकाग्रया मुने।
मनो दीर्घात्मतां याति जलूकेव तृणालिषु ॥ १३ ॥
देहे देहाभासमयं भावे भावात्मकं तथा।
मध्ये तन्निर्विकल्पाख्यं मनो लक्षय सर्वदा ॥ १४ ॥
बहुना किमिहोक्तेन श्रृणु सूक्ष्मविमर्शनम्।
व्यवहारे न कस्यापि ज्ञानमेकन्तु भासते ॥ १५ ॥

यदि कोई व्यक्ति खुशी मन से निडर होकर कहीं जा रहा हो और उसी समय अचानक राह में, जिसकी उमीद न हो ऐसा बाघ की तरह कोई जानलेवा जन्तु सामने आ जाय तो एक क्षण के लिए वह अपनी सारी सुध खो देता है। उस समय भी वह नींद में नहीं होता है। इस स्थिति को भी तो समाधि ही कहते हैं ॥ ८–९ ॥

अपना बेटा या कोई अत्यन्त प्यारा आदमी, जो घर के कामकाज में पूरा निपुण हो, शरीर से स्वस्थ हो और उसके बारे में अचानक सुने कि वह मर गया, तो उसे जैसे काठ मार जाय—उसे तन-बदन की सुध नहीं रहती और न तो वह नींद में ही रहता है। इसे भी तो समाधि ही कहते हैं ॥ १०–११ ॥

इसके अलावा समाधि की और भी स्थितियाँ हैं जिन्हें मैं बतलाता हूँ, सुनो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के बीच में जो सन्धिस्थल है, उनमें भी समाधियाँ रहती हैं ॥ १२ ॥

जब कोई व्यक्ति दूर की किसी वस्तु को गौर से देखता है तो आँख के साथ उसका मन भी घास पर रेंगनेवाली जोंक की तरह लम्बा हो जाता है। इसी तरह जब वह देह में रहता है तब देह की तरह तथा यदि किसी दूसरे ख्याल में रहता है तो उस ख्याल की तरह ही बन जाता है। किन्तु किसी ख्याल में न जाकर जब वह बीच में रहता है तो इस स्थिति में हमेशा मन को विकल्पविहीन ही तो पाओगे ॥ १३–१४ ॥

हे कुशाग्रबुद्धे ! इसके बारे में और अधिक क्या कहा जाय, फिर भी सुनो।

खण्डज्ञानसमूहात्मा व्यवहारोऽयमाततः ।
अत एव वर्णयन्ति तैर्थिकाः सर्व एव हि ॥ १६ ॥
आत्मानं बुद्धिमपि वा क्षणभेदविभेदितम् ।
तदन्तरक्षणौघेषु निर्विकल्पदशा स्थिता ॥ १७ ॥
कहोलात्मज जानीहि जानतां तु प्रतिक्षणम् ।
समाधिरस्ति चान्यस्य समाधिः शशशृङ्गवत् ॥ १८ ॥
जनकोक्तमिति श्रुत्वा भूयः पप्रच्छ स द्विजः ।
राजन्नेवं व्यवहृतौ समाधिर्निर्विकल्पकः ॥ १९ ॥
सर्वेषामस्ति यदि चेत्तत् कुतः संसृतिर्भवेत् ।
सुषुप्तौ दर्शने चापि जडाव्यक्तविभासतः ॥ २० ॥
पुरुषार्थासाधनत्वं समाधिस्त्वविकल्पकः ।
शुद्धसंविद्विभासात्मा तद्भूयः संसृतिः कथम् ॥ २१ ॥
एतदेव हि विज्ञानमज्ञानकुलनाशनम् ।
निर्विकल्पसमाध्याख्यं यन्निःश्रेयसकारणम् ॥ २२ ॥
एतन्मे शंस राजेन्द्र सर्वसंशयनाशनम् ।
इत्यापृष्टो महीपालः प्राह तं मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

इस दुनियादारी में हर हमेशा किसी का ज्ञान एक जैसा तो नहीं रहता है । यह दुनिया का जंजाल टुकड़े-टुकड़े ज्ञानों का समूह ही तो है । दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रायः सभी आचार्य आत्मा और बुद्धि को क्षण-क्षण में परिवर्त्तित रूप में पाते हैं । इन बदलते क्षणों के बीच में जो क्षणिक अवकाश रहता है, उसमें निर्विकल्प स्थिति रहती है ॥ १५–१७ ॥

कहोलपुत्र ! याद रखो, जिन्हें समाधि के स्वरूप का बोध है, उसके लिए तो हर क्षण में समाधि की स्थिति बनी रहती है; नहीं तो दूसरों के लिए तो समाधि खरगोश के सींग की तरह है ही नहीं ॥ १८ ॥

जनक का जवाब सुनकर फिर अष्टावक्र ने पूछा—राजन् ! इस तरह यदि सांसारिक जंजाल में सबको निर्विकल्प समाधि होती रहती है तो फिर यह दुनिया कैसे चलती रहती है ? ॥ १९ ॥

ज्ञानात्मक वस्तुओं का अवलोकन और गहरी नींद में तो घड़े आदि जड़ पदार्थों का और अव्यक्त का विचार होता है । अत वे तो मोक्षरूपी पुरुषार्थ के साधन नहीं हो सकते । पर निर्विकल्प समाधि तो शुद्ध चेतन की ही अनुभूति है, फिर यह संसार-चक्र कैसे चल रहा है ? ॥ २०–२१ ॥

और जिसे आप निर्विकल्प समाधि कहते हैं, वही तो अज्ञान की परम्परा की विनाशिका है तथा मुक्ति का कारण विशुद्ध ज्ञान है, तो फिर यह दुनिया चलती कैसे है ? ॥ २२ ॥

श्रृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि रहस्यं परमन्त्विदम् ।
अज्ञानात् संसृतिरियं प्रवृत्ताऽनादिकालतः ।। २४ ।।
सुखदुःखावभासानां प्रवाहात्मतया स्थिता ।
स्वप्नवत् सन्तता सर्वैः सर्वदा ह्यनुभूयते ।। २५ ।।
निवृत्तिस्तस्य तु ज्ञानादेवेति प्रविभावितम् ।
तज्ज्ञानं सविकल्पं स्यादज्ञानस्य प्रबाधनम् ।। २६ ।।
निर्विकल्पकविज्ञानादज्ञानं न निवर्त्तते ।
निर्विकल्पकविज्ञानं केनचिन्न विरुद्धयते ।। २७ ।।
निर्विकल्पकविज्ञानं सविकल्पसमाश्रयम् ।
विचित्रचित्राभासानां भित्तिवत् सुव्यवस्थितम् ।। २८ ।।
निर्विकल्पं ज्ञानमिति केवलं ज्ञानमुच्यते ।
तत्रैव हि विकल्पानामुल्लेखात् सविकल्पकम् ।। २९ ।।
अज्ञानं सविकल्पाख्यज्ञानमेव न चेतरत् ।
तदनेकविधं कार्यकारणात्मतया स्थितम् ।। ३० ।।
कारणं स्वात्मपूर्णत्वाख्यातिरूपमुदीरितम् ।
चिदात्मा पूर्ण एव स्यादवच्छेदविवर्जनात् ।। ३१ ।।
अवच्छेदनहेतूनां कालादीनां हि साधकः ।

हे राजन् ! हर संदेह को मिटानेवाला यह रहस्य क्या है ? कृपया मुझे समझा दें । इस तरह पूछने पर राजा ने अष्टावक्र से कहा —।। २३ ।।

सुनो हे ब्रह्मन् ! मैं यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य आपको समझाता हूँ । अपनी ही मूर्खता की वजह से यह दुनिया सब दिन से ही इसी तरह चलती आ रही है ।। २४ ।।

सुख हो या दुःख हर अनुभूति में यह एक नदी की धारा की तरह मौजूद है । प्राणी हर हमेशा सपने की तरह इसका अनुभव करते हैं ।। २५ ।।

केवल ज्ञान से ही इससे छुटकारा मिल सकता है । अज्ञान से मुक्ति दिलानेवाला यह ज्ञान सविकल्प होना चाहिए ।। २६ ।।

विकल्पविहीन बोध से जड़ता से छुटकारा नहीं मिलता । क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान का विरोध किसी के साथ नहीं होता है ।। २७ ।।

जैसे तरह-तरह की तसवीर आधार दीवार होती है । उसी तरह निर्विकल्प ज्ञान तो सारे विकल्पों का आधार बनकर मौजूद है ।। २८ ।।

निर्विकल्प ज्ञान ही केवल शुद्ध ज्ञान है । इसी में जब विकल्पों का उदय होता है तब वह सविकल्प हो जाता है ।। २९ ।।

अज्ञान भी सविकल्प कहलानेवाला ज्ञान ही है और कुछ नहीं । वह कार्य-कारण भाव से अनेक रूपों में विभक्त है ।। ३० ।।

अपनी आत्मा का बोध न होना ही अज्ञान का कारण कहा गया है । सिर्फ

तथाविधात्मनः ख्यातिरपूर्णत्वेन या स्थिता ॥ ३२ ॥
अत्राधुनास्मीतिरूपा मूलाज्ञानं हि सा भवेत् ।
तस्यैवं पल्लवप्रायं देहात्मत्वादिभासनम् ॥ ३३ ॥
अज्ञानस्य निवृत्त्यन्तं संसारो न निवर्त्तते ।
पूर्णात्मविज्ञानमृते त्वज्ञानं नातिवर्त्तते ॥ ३४ ॥
तच्च पूर्णात्मविज्ञानं द्विविधं सुव्यवस्थितम् ।
परोक्षमपरोक्षञ्च परोक्षं गुरुशास्त्रतः ॥ ३५ ॥
तत् साक्षात् पुरुषार्थस्य न कारणमिति स्थितम् ।
यादृशं ते भवेज्ज्ञानं शास्त्रश्रुतिसमुद्भवम् ॥ ३६ ॥
श्रद्धामात्राभ्युपगतं फलदं न प्रचक्षते ।
अपरोक्षं हि विज्ञानं समाधिपरिपाकजम् ॥ ३७ ॥
सप्रपञ्चाज्ञाननाशक्षमं शुभफलावहम् ।
समाधिर्ज्ञानपूर्वस्तु विज्ञानं जनयेत् खलु ॥ ३८ ॥
तस्मादज्ञानिनां नार्थः समाधौ सम्भवत्यपि ।
यथाऽविदितमाणिक्यः पश्यन् कोशगृहे मणिम् ॥ ३९ ॥

निःसीम चिदात्मा ही परिपूर्ण है। क्योंकि उसकी कोई सीमा नहीं है। देश, काल प्रभृति की सीमा को भी सिद्ध करनेवाली यही चिदात्मा है। यही उस सीमा का हेतुभूत का कारण है ॥ ३१½ ॥

इस तरह आत्मा की जो 'इस समय मैं यहाँ हूँ' इस तरह की अपूर्ण अनुभूति होती है, यही अज्ञान का मूल कारण है। देह को आत्मा के रूप में देखना या समझना उसी का काम है॥ ३२–३३ ॥

जब तक अज्ञान मिट नहीं जाता तब तक संसार का अन्त नहीं होता और आत्मा की पूर्णता का ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक अज्ञान से छुटकारा नहीं मिलता ॥ ३४ ॥

आत्मा की पूर्णता का ज्ञान दो तरह से होता है। परोक्ष और अपरोक्ष अर्थात् अलक्षित एवं लक्षित। इनमें परोक्ष ज्ञान तो गुरु या शास्त्र से मिलता है, किन्तु वह ज्ञान मुक्तिरूप पुरुषार्थ का साक्षात् साधन नहीं है—यह बात निश्चित रूप से समझना चाहिए॥ ३५½ ॥

वेदशास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न जैसा तुम्हारा ज्ञान है, वह सिर्फ श्रद्धा से ही माना हुआ है। इस ज्ञान से मुक्ति रूपी फल नहीं मिलता है ॥ ३६½ ॥

प्रत्यक्ष शुद्ध ज्ञान की अपनी अनुभूति तो समाधि की पूर्णता से ही होती है। वही ज्ञान दुनिया के प्रपञ्च से उत्पन्न अज्ञान का विनाशक होता है। उसी ज्ञान का परिणाम मुक्ति है। ज्ञानपूर्वक समाधि से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है॥ ३७–३८ ॥

अतः दुनियाई कामकाजों में अज्ञानियों को समाधि लगते रहने पर भी उनसे मुक्ति रूप पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। जिसे मणि की पहचान नहीं है, खजाने में

न जानाति यथान्यस्तु श्रुतज्ञातमणि: क्वचित् ।
दृष्ट्वा प्रत्यभिजानाति तत्परो मणिमञ्जसा ॥ ४० ॥
अत: पर: श्रुतमपि भूय: पश्यन् मणिं क्वचित् ।
न विजानाति तदिह ब्रह्मन् सुनिपुणोऽपि सन् ॥ ४१ ॥
तथा मूढा न विन्दन्ति फलं विज्ञानसंश्रयम् ।
अज्ञातत्वात् पण्डितास्तु श्रुतज्ञानयुता अपि ॥ ४२ ॥
अतत्परत्वहेतोस्तु न विजानन्ति सर्वथा ।
यथा हि तारकां पश्यन्नपि जानाति न क्वचित् ॥ ४३ ॥
मूढ: श्रुतज्ञानहीन: श्रुतज्ञानयुतोऽपि वै ।
पश्यन्नपि च नो वेत्ति तत्परत्वविवर्जनात् ॥ ४४ ॥
यस्तु श्रुत्वा शुक्रतारां दिगाकारादिलक्षणै: ।
मया ज्ञेयं सर्वथेति तत्परो बुद्धिमान् नर: ॥ ४५ ॥
एकाग्रमानस: पश्यन् प्रत्यभिज्ञास्यति स्फुटम् ।
एवमज्ञानतो मूढाश्चान्ये तात्पर्यवर्जनात् ॥ ४६ ॥
न विजानन्ति स्वात्मानं ब्रह्मन् सत्सु समाधिषु ।
भिक्षामटति दुर्दैवाद् यथा वै विस्मृताकर: ॥ ४७ ॥

रखी मणि को देखकर भी उसे वह पहचान नहीं पाता। किन्तु जिसे सुन-सुनाकर भी मणि का ज्ञान है और वह उसकी खोज में लगा है, उसे पाते ही बड़ी आसानी से उसे पहचान लेता है ॥ ३९–४० ॥

किन्तु हे ब्राह्मणदेवता ! जिसे मणि की खोज नहीं है उसने भले ही मणि के बारे में सुन रखा हो और खुद काफी चतुर हो, फिर भी मणि को देखने पर वह पहचान नहीं पाता है ॥ ४१ ॥

इसी तरह अज्ञानी आदमी को अनजाने व्यवहार में समाधि होने पर तत्त्वज्ञान से होनेवाला फल तो मिलता नहीं। शास्त्रोक्त ज्ञानसम्पन्न सुधीजनों को भी इसकी खोज की चाह नहीं रहने के कारण इसे सही ढंग से पहचान नहीं पाते ॥ ४२½ ॥

यह उसी तरह की बात है जैसे आकाश में तारे को देखने पर भी उसके बारे में अनजान आदमी उसे पहचान नहीं पाता। जिसके पास उसके बारे में सुना-सुनाया ज्ञान है, उसमें उसे देखने की ललक नहीं रहने की वजह से वह भी उसे पहचान नहीं पाता ॥ ४३–४४ ॥

जिसने शुक्रतारे के बारे में जानकारी हासिल कर ली है और उसके मन में उसे पहचानने की ललक जगी हो कि वह किस दिशा में और कैसा है ? मैं उसे अपनी आँखों से देखूं तो वह बुद्धिमान् व्यक्ति टकटकी लगाकर देखते हुए आकाश में उसे साफ तौर पर पहचान लेता है ॥ ४५½ ॥

ब्राह्मणदेवता ! इसी तरह समाधि लगते रहने पर भी अज्ञानी तो अज्ञान के

तस्मादेता दशाः सर्वाः समाधीनां निरर्थकाः ।
अत एव शिशूनां हि सर्वदा निर्विकल्पकम् ।। ४८ ।।
न फलं साधयेद् ब्रह्मन्नज्ञानस्यानिवृत्तितः ।
प्रत्यभिज्ञात्मकं यत्तु ज्ञानं स्यात् सविकल्पकम् ।। ४९ ।।
तदेव संसारमूलमज्ञानं विनिवर्त्तयेत् ।
अनेकजन्मसुकृतैः सन्तुष्टा स्वात्मदेवता ।। ५० ।।
यदा तदा मुमुक्षत्वं नान्यदा कल्पकोटिभिः ।
चेतनत्वं जन्मवत्सु परमं दुर्लभं भवेत् ।। ५१ ।।
सुदुर्लभं तेष्वपि च मानुषं जन्म सर्वथा ।
तत्रापि सूक्ष्मबुद्धित्वमत्यन्तं हि सुदुर्लभम् ।। ५२ ।।

कारण और दूसरे लोग 'ललक' न होने के कारण अपनी आत्मा को नहीं जान पाते। ठीक उसी तरह जैसे घर में गड़े खजाने का पता न होने के कारण दुर्भाग्यवश कोई आदमी सड़क पर भीख माँगता फिरे ।। ४७-४७ ।।

अतः समाधि की ये स्थितियाँ बिलकुल बेकार ही होती हैं। बच्चों को तो हमेशा निर्विकल्प समाधि की ही स्थिति रहती हैं। फिर भी अज्ञानता से छुटकारा नहीं मिलने के कारण उन्हें उस समाधि का मोक्षरूप फल तो मिल नहीं जाता है ।।४८½।।

जो ज्ञान प्रत्यभिज्ञानात्मक और सविकल्प होता है वही संसार के हेतुभूत अज्ञान से छुटकारा दिला सकता है ।। ४९½ ।।

विशेष— प्रत्यभिज्ञादर्शन माहेश्वर सम्प्रदाय का एक चिन्तन है, जिसके अनुसार महेश्वर ही परमेश्वर हैं और वही जड़-चेतन सबका कारण है। इस दर्शन में मुक्ति के लिए केवल इस प्रत्यभिज्ञा या ज्ञान की आवश्यकता है कि ईश्वर और जीवात्मा दोनों एक ही हैं और महेश्वर ही ज्ञाता और ज्ञान दोनों हैं। जीवात्मा में परमात्मा का प्रकाश होने पर भी जब तक यह ज्ञान न हो जाय कि ईश्वर के गुण मुझमें भी है तब तक मुक्ति नहीं हो सकती। प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है—किसी देखी हुई वस्तु को अथवा उसके सदृश अन्य वस्तु को देखने पर जो ज्ञान हो।

अनेक जन्मों में किये गये शुभ कर्मों से जब आत्मदेव खुश हो जाते हैं तब आदमी को इस दुनिया से छुटकारा पाने की इच्छा होती है। नहीं तो करोड़ों कल्प में भी ऐसा सुअवसर नहीं मिल पाता ।। ५०½ ।।

विशेष— कल्पकाल का एक विभाग, जिसे ब्रह्मा का एक दिन कहते हैं और जिसमें चौदह मन्वन्तर या ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं।

दुनिया में जन्म लेनेवालों में चेतन प्राणी होना बहुत कठिन है। उनमें भी मनुष्य योनि पाना हर तरह से मुश्किल है और मनुष्यों में भी बारीक ढंग से किसी वस्तु पर विचार करनेवाला होना तो महाकठिन है ।। ५१-५२ ।।

पश्य ब्रह्मन् स्थावराणां शतांशेनापि सम्मितम् ।
न दृश्यते जङ्गमं वै तेषामपि शतांशतः ॥ ५३ ॥
समं नास्ति मनुष्यत्वं तत्रापि परिभावय ।
पशुतुल्याः प्रदर्श्यन्ते मनुष्याणां हि कोटयः ॥ ५४ ॥
ये न जानन्ति सदसत् पुण्यं वा पापमेव वा ।
अन्येऽपि कोटिशो मर्त्याः प्रवृत्ताः कामनापराः ॥ ५५ ॥
गतागतं रोचयन्ते पाण्डित्याभासगर्विताः ।
एवंविधजनानां तु केऽप्यन्ये बुद्धिमद्विधाः ॥ ५६ ॥
मालिन्यशेषचित्तास्तेऽप्यद्वैतपदनास्तिकाः ।
भगवन्मायायाच्छन्नमद्वैतं परमं पदम् ॥ ५७ ॥
कथं सर्वैः समासाद्यं मायान्धैर्मन्दभाग्यकैः ।
मायान्धानां तत्पदं तु न बुद्धिमुपरोहति ॥ ५८ ॥
अन्ये दुर्भागधेयास्ते बुद्ध्यारूढमपीह ये ।
वृथाभिनिविशन्ति भूयोऽपह्नुवन्ति कुकल्पनैः ॥ ५९ ॥
अहो भगवती माया पश्यन्तोऽपि महत्पदम् ।
चिन्तामणिं हस्तगतं त्यजन्ति हि कुकल्पनैः ॥ ६० ॥

देखो ब्राह्मण ! स्थावर अर्थात् अचल जीवों का सौवाँ हिस्सा भी संसार में जंगम अर्थात् चलने-फिरने वाले प्राणी नहीं हैं । जंगम जीवों का सौवाँ हिस्सा भी आदमी नहीं हैं, उनमें भी करोड़ों आदमी पशुओं की तरह हैं, जिन्हें झूठ-सच या पुण्य-पाप का भी ज्ञान नहीं है ॥ ५३–५४$\frac{1}{2}$ ॥

इनके अलावा करोड़ों लोग अपनी-अपनी कामना के पीछे पागल होकर प्रवृत्ति मार्ग में जुटे हैं । अपनी बुद्धिमत्ता के घमण्ड में चूर रहने के कारण उन्हें स्वर्गादि अनित्य पदार्थ के प्रति भी अभिरुचि है ॥ ५५–५६ ॥

ऐसे लोगों में भी कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें बुद्धिमान् कहा जा सकता है । उनके मन में भी मैलापन बचे रहने के कारण अनित्य पद में उनकी भी आस्था नहीं होती ॥ ५५–५६$\frac{1}{2}$ ॥

यह बेजोड़ मुक्ति तो परमात्मा की माया से ढकी है । प्रभु की माया से अन्धे बने अभागे लोगों की पहुँच यहाँ तक कैसे हो सकती है ? इस माया से मोहित लोगों की बुद्धि में यह मोक्ष नहीं आ सकता ॥ ५७–५८ ॥

कुछ ऐसे भी अभागे होते हैं जिनकी बुद्धि में मुक्ति का महत्त्व आ जाने पर भी बेकार की जिद में फँसकर तरह-तरह की कुकल्पनाएँ करके हाथ धो बैठते हैं ॥ ५९ ॥

अहो ! भगवान् की माया भी कितनी प्रबल है कि इस महामुक्ति को समझ लेने के बाद भी अनेक कुकल्पनाओं से प्रेरित होकर हाथ में पाये चिन्तामणि को आसानी से फेंक देते हैं ॥ ६० ॥

येषां समाराधनेन तुष्टा सा स्वात्मदेवता।
ते मायया विनिर्मुक्ताः सुतर्काः श्रद्धया युताः ॥ ६१ ॥
पराद्वये समाश्वस्ताः प्राप्नुवन्ति परं पदम्।
तत्क्रमं तेऽभिधास्यामि ब्रह्मन् संश्रृणु संयतः ॥ ६२ ॥
अनन्तजन्मसुकृतैर्देवताभक्तिराप्यते।
तया संराध्य सुचिरं तत्प्रसादात्ततः परम् ॥ ६३ ॥
वैरस्यं भोगवृन्देषु तत्परत्वञ्च प्राप्नुयात्।
वैराग्यतत्परत्वाभ्यां श्रद्धया चापि सङ्गतः ॥ ६४ ॥
सद्‌गुरुं प्राप्य तत्प्रोक्त्या वेत्त्यद्वैतं परं पदम्।
एतज्ज्ञानं परोक्षं वै ह्यस्त्यद्वैतमितीह यत् ॥ ६५ ॥
ततो विचारयेत् सम्यगद्वैतं स्वात्मदैवतम्।
उपपाद्य सुतर्कैस्तु संशयांस्तेन नाशयेत् ॥ ६६ ॥
अथ निश्चितमात्माख्यतत्त्वमद्वयमादरात्।
अनुध्यायेदापरोक्षं हठवृत्त्यापि यत्नतः ॥ ६७ ॥
ततो विकल्पविषयीकृत्य ध्यातं परं पदम्।
संसारमूलमज्ञानं नाशयेन्नात्र संशयः ॥ ६८ ॥

जिन भले लोगों की आराधना से आत्मदेव प्रसन्न हो जाते हैं, उसे माया से छुटकारा मिल जाता है। शास्त्रसम्मत तर्क और श्रद्धा से भर जाते हैं और उस बेजोड़ मुक्ति-साधन में लीन होकर उसे पा लेते हैं ॥ ६१½ ॥

हे ब्राह्मण ! अब मैं इस संसार से मुक्ति पाने का तरीका समझाता हूँ, तुम दत्त-चित्त होकर सुनो। जन्म-जन्मान्तर के पुण्यफल से इष्टदेव की भक्ति मिलती है। उस भक्ति से इष्टाराधन में मन लगता है। आराधना से उनकी कृपा मिलती है। उनकी कृपा से भोगों में अरुचि होती है; फिर मुक्ति पाने की ललक जगती है ॥६२–६३½॥

विरक्ति, मुस्तैदी और श्रद्धा से सम्पन्न होकर साधक सद्‌गुरु की शरण में जाता है और उनके उपदेश से मोक्ष का ज्ञान पाता है। यह ज्ञान तो परोक्ष ही होता है, क्योंकि इससे केवल इतना विश्वास हो जाता है कि यह 'बेजोड़' है ॥ ६४–६५ ॥

फिर इस 'बेजोड़ मुक्ति' के बारे में अच्छी तरह विचार करना चाहिए। अच्छे-अच्छे तर्कों से संदेह से मुक्त होकर सही निर्णय लेना चाहिए ॥ ६६ ॥

इस तरह निश्चयपूर्वक अनुपम आत्मा का ससम्मान लगातार प्रत्यक्ष साक्षात्-कार होने तक बार-बार अनुचिंतन करना चाहिए। ऐसा सायास बलपूर्वक करना चाहिए ॥ ६७ ॥

फिर 'यह परम पद तो मैं ही हूँ' ऐसे विकल्प को सामने रखकर ध्यान करने पर वह परम पद दुनिया के मूल कारण अज्ञान का नाश ही कर देगा—यह असंदिग्ध है ॥ ६८ ॥

पक्वध्याने निर्विकल्पे समाध्याख्ये परं पदम्।
आसाद्य पश्चात् संस्मृत्य प्रत्यभिज्ञानवान् भवेत् ॥ ६९ ॥
सोऽद्वैतात्माऽहमस्मीति त्वपरोक्षविकल्पतः।
संसारमूलमज्ञानं साङ्गं नाशयति द्रुतम् ॥ ७० ॥
ध्यानस्य परिपाको हि विकल्पपरिवर्जनम्।
विकल्पो विविधख्यातिरेकधा निर्विकल्पकः ॥ ७१ ॥
अन्यानुल्लेखमात्रेण विकल्पो वर्जितो भवेत्।
विकल्पे वर्जिते पश्चान्निर्विकल्पं स्वतः स्थितम् ॥ ७२ ॥
चित्रे विमृष्टे यद्वत्तु शुद्धा भित्तिर्हि संस्थिता।
सम्पादनं शुद्धभित्तेश्चित्रसम्मार्ष्टिरेव हि ॥ ७३ ॥
एवं विकल्पस्यापोहे निर्विकल्पं मनः स्वतः।
निर्विकल्पात्मसम्पत्तिर्विकल्पत्याग एव हि ॥ ७४ ॥
नातोऽधिकं किञ्चिदस्ति पदं प्राप्यं हि पावनम्।
अत्र मुह्यन्ति विबुधा अपि मायामहित्वतः ॥ ७५ ॥
सुबुद्धानां क्षणेनैव पदमेतद्धि लक्षितम्।
त्रिधाऽधिकारिणो ब्रह्मन्नुत्तमाधममध्यमाः ॥ ७६ ॥

स्थिर समाधि से ध्यान की पूर्णता होने पर मोक्ष मिलता है। फिर उसी की याद रखते हुए 'मैं वही हूँ' ऐसी स्मृति की सहायता से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से जुड़े रहें ॥ ६९ ॥

वह 'अनुपम आत्मा मैं ही हूँ' ऐसी प्रत्यक्ष भ्रान्ति रहने पर वह तत्त्वज्ञान उसी क्षण संसार के मूल अज्ञान को जड़मूल से मिटा देता है ॥ ७० ॥

सन्देह का मिट जाना ही ध्यान की पूर्णता है। सन्देह अनेकविध ज्ञान को कहा गया है और स्थिर स्थिति सदैव एकरूप होती है ॥ ७१ ॥

मन में किसी अन्य वस्तु का स्मरण न होने से ही संदेह मिट जाता है। भ्रान्ति न रहने पर स्थिरता तो अपने-आप आ जाती है ॥ ७२ ॥

तसवीर के मिट जाने पर दीवार जैसे साफ दिखाई देती है, वैसे ही दुनिया की तसवीर दिल से मिटा देना ही साफ दीवार तैयार करना है ॥ ७३ ॥

इसी तरह संदेह से छुटकारा मिलते ही मन अपने-आप स्थिर हो जाता है। अतः संदेह का त्याग ही स्थिर आत्मा की उपलब्धि है ॥ ७४ ॥

इससे अधिक और कोई पवित्र वस्तु पाने योग्य नहीं है। किन्तु माया की अपार महिमा की वजह से बड़े-से-बड़े बुद्धिमान् भूल करते रहते हैं ॥ ७५ ॥

शुद्ध बुद्धिवाले लोगों को तो एक पल में ही इस पद के दर्शन मिल जाते हैं। ब्राह्मणदेवता! उत्तम, मध्यम और अधम कोटि में तीन तरह के इसके अधिकारी होते हैं ॥ ७६ ॥

उत्तमाः सकृदादेशकाले बुद्धयन्ति तत्पदम् ।
विचारो ध्यानमपि च श्रुतिकालसमं भवेत् ।। ७७ ।।
उत्तमानां न हि क्लेशः प्राप्तौ तस्य पदस्य हि ।
अहं पुरा निदाघस्य रात्रौ ज्योत्स्नासुमण्डिते ।। ७८ ।।
प्रियया सम्परिष्वक्तो विकसद्वाटिकाङ्गणे ।
परार्द्ध्यशयनासीनो मदिरामदघूर्णितः ।। ७९ ।।
अश्रौषं खे सिद्धगणवचनं मधुपेशलम् ।
अद्वैतत्वाश्रितं चैव तत्काले ह्यविदं पदम् ।। ८० ।।
विज्ञातं तद्विचारेण ध्यानेनापि तदेव हि ।
एवमर्द्धमुहूर्त्तेन ज्ञात्वा तत्पावनं पदम् ।। ८१ ।।
मुहूर्त्तमभवं भूयस्तत्समाहितमानसः ।
परमानन्दवाराशिपरिमग्नो ह्यशेषतः ।। ८२ ।।
अथ स्मृतिं समासाद्य विचारपरमोऽभवम् ।
अहोऽद्भुतपदं ह्येतदानन्दामृतनिर्भरम् ।। ८३ ।।
अपूर्वमासादितं मे भूयस्तत् संविशाम्यहम् ।
नैतस्य लेशमात्रं स्यादैन्द्रादिसुखमप्यलम् ।। ८४ ।।
आब्रह्म सुखमेतस्य लेशतोऽपि न सम्मितम् ।
अद्यावधि व्यर्थ एष कालो मे ह्यतिवाहितः ।। ८५ ।।

उत्तम कोटि के लोग एक बार समझा देने पर ही उस पद को समझ जाते हैं। उन्हें सुनने के समय ही उन्हें विचार और ध्यान अधिगत हो जाते हैं। इसकी प्राप्ति में उत्तम कोटि के अधिकारियों को कोई कठिनाई नहीं होती ।। ७७½ ।।

एक समय की बात है। गर्मी के दिन थे। रात का समय था। धरती चाँदनी से चमक रही थी। बगीचे के चौक में कीमती पलंग पर अपनी प्रिया के साथ आलिंगनबद्ध मैं पड़ा था। शराब के नशे में मेरी लाल-लाल आँखें घूम रही थीं। अचानक आकाश में मैंने सिद्धों की आवाज सुनी। वे आवाजें मधु से भी मीठी थी। वे अद्वैत तत्त्व का निरूपण करनेवाले थे। बस, उसी समय मुझे उस परमपद का ज्ञान हो गया ।। ७८–८० ।।

उसी क्षण उसे मैंने विचार और ध्यान के द्वारा जान लिया। इस तरह आधे पल में ही उस पवित्र पद को जानकर मैं एक मुहूर्त्त तक उसी में खोकर पूर्णतः-परमानन्द-सागर में डूब गया ।। ८१–८२ ।।

फिर होश आने पर मैंने उस पर सोचना शुरू किया—अरे ! यह पद तो बड़ा ही विचित्र है। यह तो आनन्दरूपी अमृत से लबालब भरा है ।। ८३ ।।

आज मुझे यह एक अद्भुत जगह मिली है। जी करता है फिर वहीं पहुँच जाऊँ। इसके सामने तो देवराज इन्द्र का भी पद फीका है ।। ८४ ।।

अविदित्वा स्वं निधानं चिन्तामणिगणान्वितम् ।
यथा भिक्षामटति वै मुष्टिपिष्टप्रलिप्सया ॥ ८६ ॥
अहो लोकास्तथा स्वात्मानन्दाज्ञानविमोहिताः ।
बाह्यं सुखं लेशमात्रं प्राप्नुवन्ति महाश्रमैः ॥ ८७ ॥
तदलं मे वृथा बाह्यसुखलेशपरिश्रमात् ।
अनन्तानन्दसन्दोहतत्परः स्यां हि सर्वदा ॥ ८८ ॥
अलमेतेन बाह्येन व्यवहारेण मे किमु ।
पिष्टपेषणकल्पेन चोपालम्भपदेन वै ॥ ८९ ॥
तानि भोज्यानि तान्येव माल्यानि शयनानि च ।
भूषणानि विचित्राणि योषित्सम्भोगकाश्च ते ॥ ९० ॥
चिरपर्युषितप्रायाण्यपि संसेव्यतः पुनः ।
गतानुगतिकत्वान्मे जुगुप्सा न हि जायते ॥ ९१ ॥
इति निश्चित्य भूयोऽहं यावदन्तर्मुखोद्यतः ।
तावदन्यो विमर्शो मां सुशुभः प्रत्युपस्थितः ॥ ९२ ॥
अहो मे चित्तमोहोऽयं किं मामेवमुपस्थितः ।
आनन्दपरिपूर्णात्मा स एवाहं स्थितोऽपि सन् ॥ ९३ ॥

इस सुख के एक कण की तुलना ब्रह्मलोक के साथ नहीं हो सकती । आज तक तो मैंने बेकार ही अपना समय बर्बाद किया ॥ ८५ ॥

जैसे अपने घर के खजाने में रखे चिन्तामणि से अनजान कोई अभागा मुट्ठीभर पिसान पाने के लालच में भीख माँगता हो ॥ ८६ ॥

हाय, इसी तरह ये लोग अपनी आत्मा को नहीं जानने के कारण भूल रहे हैं । काफी मेहनत कर लेशमात्र बाहरी सुख पा रहे हैं ॥ ८७ ॥

बस, अब मुझे इस थोड़े से बाहरी सुख के लिए इतनी मेहनत करने की कोई जरूरत नहीं है । मैं तो हमेशा इस अनन्त आनन्दसागर में ही गोता लगाया करूँगा ॥ ८८ ॥

अब इस दुनिया के जंजाल से मुझे क्या लेना-देना है । यह तो पिसे हुए को पीसने की तरह शिकायत की जगह ही तो है ॥ ८९ ॥

हररोज एक ही तरह का खान-पान, वही माला, वही बिछावन, वही रंग-बिरंगे जेवर और वही नारी-संगम हैं ॥ ९० ॥

बहुत दिनों से लगातार इनका सेवन करते-करते ये जूठे जैसे हो गये हैं, फिर भी इन्हीं का सेवन करते रहते हैं । ऐसा अन्धानुकरण करने में मेरा जी भी नहीं घिनाता है ॥ ९१ ॥

ऐसा सोचकर ज्यों ही मैं फिर अन्तर्मुख होने लगा कि उसी समय मेरे सामने एक दूसरा शुभ विचार उपस्थित हो गया ॥ ९२ ॥

भूयः किं कर्त्तुमिच्छामि प्राप्तव्यं वाऽपि किं मया ।
किमप्राप्तं मया कुत्र कदा वा प्राप्यते कथम् ॥ ९४ ॥
अप्राप्तस्यापि सम्प्राप्तिः कथं सत्या हि सम्भवेत् ।
अहोऽनन्तचिदानन्दरूपे मे स्यात् कथं क्रिया ॥ ९५ ॥
देहेन्द्रियान्तःकरणान्यपि स्वप्नसमानि वै ।
ममैव तानि सर्वाणि त्वखण्डैकचिदात्मनः ॥ ९६ ॥
तत्रैकमन्तःकरणं निरुध्यापि च किं भवेत् ।
अन्यान्यप्यनिरुद्धानि मनांसि च ममैव हि ॥ ९७ ॥
तथा चैकस्य मनसो निरोधे मम किं भवेत् ।
निरुद्धान्यनिरुद्धानि मनांसि मयि भान्त्यलम् ॥ ९८ ॥
निरोधे सर्वमनसामपि मे न निरोधनम् ।
महाकाशात् सुवितते कुतो मयि निरोधनम् ॥ ९९ ॥
एवं पूर्णानन्दरूपे समाधिः स्यात् कथं मयि ।
चिदानन्दप्रपूर्णस्य पूर्णस्य गगनादपि ॥ १०० ॥
मम क्रिया कथं का स्याद्द्वयाऽपि शुभाशुभा ।
अनन्तेषु शरीरात्माभासेषु मन्महित्वतः ॥ १०१ ॥

मैं सोचने लगा — हाय, मेरे मन में यह मोह कैसा ? मेरी आत्मा तो खुद आनन्दमय है । वही तो मैं हूँ । मुझमें क्या कमी है ? मैं क्या करना चाहता हूँ ? मुझे अब और क्या पाना है ? ऐसी कौन वस्तु है जो मुझे नहीं मिली है और वह मुझे कब, कहाँ और कैसे मिलेगी ? ॥ ९३-९४ ॥

कभी जो चीज पाई ही नहीं, उसका पाना क्या सच हो सकता है ? मेरा रूप ही तो ज्ञान और आनन्द मय है । मुझसे कोई क्रिया कैसे सम्पन्न होगी ? ॥ ९५ ॥

देह, इन्द्रिय और मन भी तो सपने की तरह सब झूठे हैं । मैं ही तो पूर्ण ब्रह्म हूँ । ये सभी तो मेरे ही हैं ॥ ९६ ॥

फिर एक अन्तःकरण की रोक से क्या होगा ? दूसरे बिना रोके मन भी तो मेरे ही रहेंगे ॥ ९७ ॥

इस तरह एक मन को रोकने से मुझे क्या लाभ होगा ? मुझमें तो अनेक मन रोके तथा बिना रोके दिखलाई पड़ते हैं ॥ ९८ ॥

यदि सब मनों को एक साथ रोक लिया जाय तब भी मेरी रोक तो होगी नहीं । मैं तो व्यापक महाकाश हूँ । मेरी रोक कैसे संभव होगी ? ॥ ९९ ॥

इस तरह पूर्ण आनन्दस्वरूप मेरी समाधि कैसे होगी ? मैं तो पूर्ण ब्रह्म हूँ तथा आकाश से भी अधिक व्यापक हूँ । फिर मैं कोई शुभ या अशुभ काम कैसे कर सकता हूँ ? ॥ १०० ॥

मेरी ही महिमा से बेहद देह और आत्मा दीख रही है । फिर किसी क्रिया के

क्रियाभासावभासेन तदभावेन वाऽपि किम् ।
कर्त्तव्यं वाप्यकर्त्तव्यं मम नास्त्यपि लेशतः ॥ १०२ ॥
तस्मान्निरोधने किं स्यादहमानन्दनिर्भरः ।
समाधावसमाधौ वा सत्यपूर्णस्वभावकः ॥ १०३ ॥
यस्यां क्रियायां देहोऽयं स्थितस्तत्रैव तिष्ठतु ।
इत्यहं सर्वथा स्वस्थः सुमहानन्दमन्दिरः ॥ १०४ ॥
अनस्तमितभारूपोऽहं सुपूर्णो निरञ्जनः ।
उत्तमाधिकृतस्यैवं स्थितिर्मे सम्प्रकीर्तिता ॥ १०५ ॥
अधमानामनेकैस्तु जन्मभिर्ज्ञानजं फलम् ।
मध्यमानान्तु क्रमतः श्रवणं च विचारणम् ॥ १०६ ॥
अनुध्यानं च भवति ततो ज्ञानं प्रजायते ।
विज्ञानफलसंयुक्तसमाधिर्दुर्लभो भवेत् ॥ १०७॥
विज्ञानफलहीनेन किं समाधिशतेन वा ।
तस्माद्विज्ञानहीनैस्तैः फलं नास्ति समाधिभिः ॥ १०८ ॥
लोकेऽपि गच्छन् मार्गेषु निर्विकल्पप्रकाशितान् ।
भावानविज्ञाय तेषामज्ञानं न निवर्त्तते ॥ १०९ ॥

दीखने या न दीखने से मुझमें क्या फर्क पड़ता है ? इसलिए मेरे लिए न कोई कर्त्तव्य है और न अकर्त्तव्य ही ॥ १०१-१०२ ॥

इस तरह मैं तो स्वयं आनन्द से भरा हूँ। अतः रोक लगाने से ही मुझे क्या लाभ होगा ? मेरी समाधि लगे या न लगे मैं तो सत्यस्वरूप एवं परिपूर्ण हूँ ॥१०३॥

मेरी यह देह जिस काम में लगी है उसी में लगी रहे। ऐसा सोचकर मैं तो हमेशा अपने रूप में स्थित तथा परम आनन्द से परिपूरित रहता हूँ। मैं तो अलुप्त प्रकाशस्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ, निर्मल हूँ ॥ १०४½ ॥

इस तरह उत्तम अधिकारी के रूप में मैंने अपनी स्थिति का वर्णन किया। जो अधम कोटि के अधिकारी हैं, उन्हें ज्ञान का फल अनेक जन्मों के बाद मिलता है। बचे मध्यम अधिकारी, तो उन्हें श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान होता है ॥ १०५–१०६ ॥

विशिष्ट ज्ञान रूप फल देने वाली समाधि तो दुर्लभ होती है। फिर जिस समाधि से विशिष्ट ज्ञान न मिले, ऐसी सैकड़ों समाधियाँ लगती रहे तो इससे क्या फर्क पड़ता है ? व्यावहारिक स्थिति में लगने वाली समाधियों से मुक्ति रूपी फल तो कभी भी नहीं मिलता ॥ १०७–१०८ ॥

राह चलते देखा जाता है कि कुछ लोगों को जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में उसकी कोई कल्पना नहीं होती है, ऐसी वस्तु भी अनमने ढंग से देख लेते हैं। पर उन

निर्विकल्पाख्यविज्ञानं ज्ञानमात्रं निजं वपुः ।
तत् सर्वदा भासमानमप्यभातविधं ननु ॥ ११० ॥
विकल्पाच्छादनादेव विकल्पानां व्यपोहने ।
भासमानमेव भूयो भातकल्पमपूर्वतः ॥ १११ ॥
ज्ञानज्ञेयाविभेदेन त्वज्ञातं ज्ञातमुच्यते ।
एवमेष भवेदात्मविज्ञानक्रम उत्तमः ॥ ११२ ॥
ब्रह्मन्नेवं श्रुतं भूयो विचार्य ज्ञातुमर्हसि ।
अथ विज्ञायात्मतत्त्वं कृतार्थस्त्वं भविष्यसि ॥ ११३ ॥
जनकेनैवमादिष्टस्त्वष्टावक्रो महामुनिः ।
पूजितस्त्वभ्यनुज्ञातो गत्वा स्वस्थानमादरात् ॥ ११४ ॥
विचारानुध्यानपूर्वं विज्ञाय परमं पदम् ।
विधूय सर्वसन्देहान् जीवन्मुक्तोऽभवद् द्रुतम् ॥ ११५ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टावक्रीये सप्तदशोऽध्यायः ।

वस्तुओं की जानकारी नहीं रहने के कारण उनके अज्ञान की निवृत्ति तो नहीं हो जाती ॥ १०९ ॥

निर्विकल्य ज्ञान तो शुद्ध ज्ञान ही है और वह व्यक्ति का अपना स्वरूप ही है । वह हमेशा चमकते रहने के बावजूद विकल्पों से ढके रहने की वजह से दिखलाई नहीं पड़ता । उन विकल्पों से छुटकारा मिलने के बाद पहले से प्रकाशित रहने के बावजूद नया जैसे लगता है ॥ ११०–१११ ॥

शुद्ध ज्ञान और उससे प्रकाशित होने वाला ज्ञेयपदार्थ का भेद न जानने के कारण जो आत्मतत्त्व पहले अज्ञात था वही अब ज्ञात कहा जाता है । यही आत्मतत्त्व का उत्तम क्रम है ॥ ११२ ॥

ब्रह्मन् ! आपने जो यह आत्मज्ञान का क्रम सुना है, इस पर बार-बार विचार करने पर आपको भी ज्ञान हो सकता है । फिर ज्ञान प्राप्त करके आप धन्य हो जायेंगे ॥ १०३ ॥

इस प्रकार अष्टावक्र मुनि ने जनक से उपदेश प्राप्त किया, फिर जनक ने पूजा करके उन्हें विदा किया । इसके बाद अपनी कुटिया में लौट कर आदरपूर्वक मनन और निदिध्यासन कर उस परम पद को जान लिया । उनका सारा संदेह दूर हो गया और उन्हें जीवन्मुक्त पद मिल गया ॥ ११४–११५ ॥

सतरहवाँ अध्याय समाप्त ।

अष्टादशोऽध्याय:

भार्गवैवं हि सा संविद्वेद्यवन्ध्या निरूपिता ।
उपलब्धिदशा तस्या बहुधा संश्रुता ननु ।। १ ।।
अव्युत्पत्त्या न जानन्ति जना मायाविमोहिता: ।
सा दशा भाव्यते सूक्ष्मदृशैव नान्यथा क्वचित् ।। २ ।।
किं बहूक्तेन ते राम शृणु सारं ब्रवीम्यहम् ।
मनसा वेद्यते वेद्यं मनसोऽतो न वेद्यता ।। ३ ।।
तथा च वेद्यनिर्मुक्तं मनोऽप्यस्तीति सम्भवेत् ।
तन्मनो वेद्यनिर्मुक्तवित्तिरित्यभिधीयते ।। ४ ।।
उपलब्धिस्वरूपत्वाद्विदितैव हि सा सदा ।
अन्योपलब्ध्यपेक्षायामान्ध्यं स्यादनवस्थिते: ।। ५ ।।
किञ्चिद्भावं हि सम्पश्यन्न भासि किमु भार्गव ।
न भासि चेन्न त्वमसि तत: प्रश्नस्तु ते कथम् ।। ६ ।।

(जनक और अष्टावक्र के संवाद का शेष भाग)

दत्तात्रेय ने परशुराम से कहा—इस तरह मैंने इस जानने योग्य वस्तु के अभाव में शुद्ध ज्ञान का निरूपण किया और तुमने भी व्यवहार में उसकी उपलब्धि अनेक स्थितियों के बारे में भी जानकारी हासिल की ।। १ ।।

किन्तु माया से मोहित लोगों की समझ में यह बात नहीं आती है, इसीलिए वह इस पद को पहचान नहीं पाता । अन्तर्मुख, सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति को ही उस स्थिति का सही ज्ञान होता है, किसी अन्य को नहीं ।। २ ।।

सुनो परशुराम ! अधिक कहने से क्या फायदा ? इसका मुख्य अभिप्राय मैं बतलाता हूँ । मन से तो समझने लायक बातें समझी जाती हैं, अत: मन की जानकारी नहीं होती ।। ३ ।।

किन्तु दिखाई न देने पर भी मन तो रहता है, इतना निश्चित है । बस, यह जानकारी से परे मन ही 'शुद्धचेतन' कहा जाता है ।। ४ ।।

वह ज्ञानस्वरूप है, इसलिए हमेशा प्रकाशमान ही है । यदि इसे पाने में दूसरों का सहारा माना जाय तो अनवस्था का दोष होगा और हर जगह अन्धकार ही बचेगा ।। ५ ।।

हे परशुराम ! किसी भी पदार्थ को देखते समय क्या तुम्हें अपना भान नहीं होता ? यदि नहीं होता तो तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है, फिर तुम यह प्रश्न कैसे करते हो ? ।। ६ ।।

अहो स्वयं खपुष्पात्मा सन् कथं हि तमिच्छसि ।
कथं तवात्मानमहं साधयामि विभावय ॥ ७ ॥
सामान्येन विभान्तं मां न जानामि विशेषतः ।
इति चेद्राम सामान्यमेव ते रूपमव्ययम् ॥ ८ ॥
विशेषलेशरहितमेतावद्धचेव ते वपुः ।
अहो जानन्नपि पुनरलं मुह्यसि वै वृथा ॥ ९ ॥
भासकं सर्वमपि च विशेषविषयं भवेत् ।
अतः सामान्यरूपस्त्वं विभासि स्वत एव हि ॥ १० ॥
शरीराद्यात्मना भासि चेच्छृणु प्रब्रवीमि ते ।
शरीरात्मतया भासि सङ्कल्पेनैव नान्यथा ॥ ११ ॥
विभावय सूक्ष्मदृशा सङ्कल्पेऽन्यस्य देहतः ।
भाति किं तव देहत्वं देहस्तच्चापि ते भवेत् ॥ १२ ॥

अजी ! यदि तुम असंभाव्य कल्पना की तरह तुम असत्य हो, तो फिर तुम अपने को जानना क्यों चाहते हो ? जरा सोचो तो, मैं तुम्हारे स्वरूप को सिद्ध कैसे कर सकता हूँ ? ॥ ७ ॥

यदि तुम यह कहो कि मैं सामान्य रूप से तो दीखता हूँ, पर विशेष रूप से अपने-आपको नहीं जानता, तो यह तुम्हारा सामान्य रूप ही तो अविनाशी स्वरूप है ॥ ८ ॥

जिसमें किसी तरह के विशेष का थोड़ा भी अंश नही है, वही तो तुम्हारा असली रूप है । आश्चर्य है कि इस प्रकार अपने को जानते हुए भी तुम बेकार ही भ्रान्ति पाल रहे हो ॥ ९ ॥

सबको प्रकाशित करने वाला ज्ञान भी विशेष-विषयक होता है । अतः तुम तो केवल सामान्य रूप हो और स्वयं ही प्रकाशमान हो ॥ १० ॥

विशेष—हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषयमुक्त होते ही प्रज्ञा बन जाती है । विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है । स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही तो प्रज्ञा है । इस बोध में न कोई ज्ञाता होता है और न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है । यह स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना है । घट-पट आदि विषयों से सम्बद्ध ज्ञान उन्हीं से निरूपित भी होता है । इसलिए घट-विषयक, पट-विषयक ज्ञान विशेष-विषयक कहा जाता है । स्वरूपभूत शुद्ध ज्ञान तो विषय-विवर्जित है । अतः इसे सामान्य ज्ञान कहते हैं और ज्ञान मात्र होने के कारण स्वयं प्रकाश्य भी है ।

यदि यह कहो कि देह के रूप में मैं दिखलाई देता हूँ, तो सुनो—देह रूप से तुम तो देह का संकल्प होने पर ही दीखते हो, अपने-आप नहीं ॥ ११ ॥

गहरी नजर से विचारो—जब देह के अलावा किसी दूसरी वस्तु से तुम्हारा संकल्प जुटता है तो देह रूप में तुम क्या अपने-आपको देख पाते हो ? यदि देह

एवं सङ्कल्प्यते यद्यच्छरीरं तत्तदेव हि।
तेन सर्वमयस्त्वं स्याः कथं देहात्ममात्रकः ॥ १३ ॥
तस्माद् दृश्यं तव वपुर्न हि स्याद्व्यभिचारतः।
तस्माद् दृङ्मात्ररूपोऽसि न दृग् दृश्या कदाचन ॥ १४ ॥
सा स्वप्रभा दृश्यरूपविशेषलेशवर्जिता।
देहदेशकालभेदचित्रवैचित्र्यचित्रिता ॥ १५ ॥
तस्मात् सङ्कल्पमात्रस्य वर्जनात् परतः स्थितम्।
शेषं शुद्धचिते रूपं स्वात्मानमुपलक्षय ॥ १६ ॥
एवं सकृल्लक्षिते तु यत् स्थितं तदलक्षणात्।
अज्ञानं सर्वसंसारकारणं तद्विलीयते ॥ १७ ॥
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
सङ्कल्पवर्जनाच्छुद्धस्वरूपस्य प्रथैव सः ॥ १८ ॥
स स्वरूपात्मकत्वात्तु नाऽप्राप्तः स्यात् कदाचन।
केवलं मोहमात्रस्य निरासेन कृतार्थता ॥ १९ ॥

के साथ सम्बन्ध होने के नाते उसे ही तुम अपना रूप मानते हो तो सम्बन्ध के नाते बहुत सारी वस्तुओं को तुम अपना रूप मानने लगोगे ।। १२ ॥

इस तरह तुम जिस-किसी वस्तु का संकल्प करोगे, वही तुम्हारी देह सिद्ध होगी। इस तरह तो तुम बहुरूपिया बन जाओगे, फिर केवल एकमात्र देह कैसे रहोगे ?।। १३ ॥

अतः कोई भी वस्तु तुम्हारा असली रूप नहीं बन सकती। क्योंकि सभी दृश्य-जगत् परिवर्त्तनशील हैं। तुम ज्ञान मात्र हो और ज्ञान का कभी कोई विषय नहीं होता ॥ १४ ॥

तुम्हारा स्वरूप बना ज्ञान तो स्वयं प्रकाश है। उसमें ज्ञेय रूप विशेष का तो लेश मात्र भी नहीं है। देश, काल देहादि भेद रूप चित्र की विचित्रता से ही तो भासित हैं ॥ १५ ॥

अतः संकल्प मात्र को छोड़ देने पर जो सर्वाधिक शुद्धचेतन का स्वरूप शेष रह जाता है, उसे ही तुम अपनी आत्मा जानो ।। १६ ॥

इस तरह जब एक बार उस आत्मा की झलक मिल जाती है तो उसमें दीखने वाली देह आदि पर आँख न रहने के कारण सारी दुनिया का कारण अज्ञान अपने-आप समाप्त हो जाता है ।। १७ ॥

'मुक्ति' न आकाश में मिलती है, न पाताल में और न तो इस धरती पर ही। वह तो बस संकल्प अर्थात् किसी वस्तु को पाने का पक्का इरादा भर छोड़ देने से जो शुद्ध स्वरूप की स्थिति है, वही मुक्ति या मोक्ष है ।। १८ ॥

वह तो अपना ही रूप है। अतः उसके खोने या पाने का सवाल ही पैदा नहीं होता, सिर्फ सांसारिक मोह छोड़ देने भर से ही सफलता मिल जाती है ॥ १९ ॥

अन्यो मोक्षो न सम्भाव्यः कृतकत्वाद्विनाश्यते ।
स्वरूपादतिरिक्तश्चेच्छशशृङ्गसमो हि सः ॥ २० ॥
स्वरूपं सर्वतः पूर्णमन्यो मोक्षः क्व सम्भवेत् ।
स्वरूपे सम्भवन् मोक्षो दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ २१ ॥
लोकेऽपि बन्धविगमादृते मोक्षो न भावितः ।
विगमोऽभाव एव स्यात् सत्यो भावात्मकः कथम् ॥ २२ ॥
भावाभावात्मकं वस्तु न हि सम्भवति क्वचित् ।
तथा च स्वाप्नभावाश्च भावाभावोभयात्मकाः ॥ २३ ॥
सत्याः स्युर्बाधहेतोस्ते त्वसत्या इति चेच्छृणु ।
बाधोऽभावप्रत्ययः स्यात् प्रत्ययाभावकालिकः ॥ २४ ॥
यस्यैवं बाधयोगः स्यात् सोऽसत्यो न हि चेतरः ।
अस्ति सर्वस्य दृश्यस्य बाधोऽप्रत्ययकालिकः ॥ २५ ॥
तस्मादसत्यमेव स्यात् भावाभावात्मना स्थितम् ।
यस्याभावस्पर्शलेशः कदाचित् कुत्रचिन्नहि ॥ २६ ॥

इसके सिवा किसी और मोक्ष की कल्पना ही असंभव है। क्योंकि वह क्रिया साध्य होने के कारण नाशवान् है। दूसरी बात यह भी कि यदि वह अपने रूप से कुछ भिन्न हुआ तो वह खरगोश के सींग की तरह झूठ ही तो होगा ॥ २० ॥

अपना रूप तो सभी ओर से भरा-पूरा है, फिर इससे अलग मोक्ष हो भी क्या सकता है ? यदि उसे अपना स्वरूप ही मान लिया जाय तो वह आईने में परछाई की तरह उससे अलग नहीं है ॥ २१ ॥

लोकजीवन में भी बन्धन से छुटकारा के सिवा 'मोक्ष' और कुछ नहीं माना गया। छुटकारा का रूप तो 'अभाव' ही है, अतः अभावात्मक बन्धन की निवृत्ति भाव रूप कैसे हो सकती है ? ॥ २२ ॥

संसार में किसी भी वस्तु का रूप सच और झूठ एक साथ होना तो कभी संभव नहीं है। यदि कहो कि सपने की बात तो सच और झूठ दोनों तरह एक साथ होती है। क्योंकि सपने की बात जब मिल जाती है तब सच होती है और जगने पर बाधित होने से झूठ भी होती है, तो सुनो—॥ २३½ ॥

किसी वस्तु की प्रतीति न होने के समय अभावात्मक जो प्रतीति होती है, उसी का नाम बाध है। जिसका इस तरह बाध से सम्बन्ध रहता है, वही वस्तु झूठ होती है, कोई दूसरी नहीं ॥ २४½ ॥

अनिश्चयात्मक ज्ञान के समय दुनिया की हर वस्तु की पहचान में रुकावट तो होती ही है। अतः किसी वस्तु के अस्तित्व और अनस्तित्व की स्थिति में सारा दृश्यजगत् ही झूठ है ॥ २५½ ॥

लेकिन जिसे कभी किसी भी दशा में कोई अभाव छू भी नहीं सकता, ऐसा

एवंविधन्तु चित्तत्त्वं सत्यं सर्वात्मना स्थितम् ।
तस्माद्विभिन्नमोक्षस्तु न सत्यः स्यात् कथञ्चन ।। २७ ।।
मोक्षः पूर्णस्वरूपस्यासकृत् प्रथनमुच्यते ।
चेत्यवर्जनमात्रेण चितिः पूर्णा प्रकीर्त्तिता ।। २८ ।।
चेत्याभासनमेवास्याश्रितेः सङ्कोचनं भवेत् ।
चेत्याभाने चितिः पूर्णा परिच्छेदविवर्जनात् ।। २९ ।।
कालादिभिः परिच्छेदो यदि तस्या निरूप्यते ।
अचेतितः परिच्छेदश्चेतितो वा भवेद्वद ।। ३० ।।
अचेतने ह्यसिद्धः स्याच्चेतने सैव व्यापिका ।
लोके कालपरिच्छिन्नो भावो यः कोऽपि भावितः ।। ३१ ।।
भावकालौ परिच्छेद्यपरिच्छेदकतां गतौ ।
चिता व्याप्तौ भवेतां वै यदा तर्हि तथाविधौ ।। ३२ ।।
अव्याप्तौ तु चिता यर्हि कथं सिद्ध्येत् परिच्छिदिः ।
चितेर्बहिर्यदा चेत्यमस्ति तत् स्यात् परिच्छिदिः ।। ३३ ।।

चेतनतत्त्व तो हर तरह से हमेशा सत्य ही है। उससे अलग जो मोक्ष होगा, वह भला सच हो भी कैसे सकता है ? ।। २६–२७ ।।

उस पूर्णस्वरूप परमात्मा का मन में निरन्तर स्फुरण का ही नाम 'मोक्ष' है। चेत्य पदार्थों के परित्याग से ही चेतन की पूर्णता मानी जाती है ।। २८ ।।

चेत्य अर्थात् सांसारिक पदार्थों का जहाँ परिदर्शन है, वहीं चेतन अर्थात् ज्ञान-स्वरूप आत्मा का संकोचन है। बाहरी वस्तुओं का आभास मिटते ही आवरण हट जाता है, फिर जो बचता है, वही पूर्ण आत्मा है ।। २९ ।।

यदि कोई यह कहे कि कालादि से उस चेतन का विभाजन हो सकता है तो यह बतलाओ कि वह विभाजन उस विभक्त चेतन से प्रकाशित होगा या अप्रकाशित ।।३०।।

यदि वह चेतन से अप्रकाशित होगा तब तो उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती है और यदि प्रकाशित होगा तब तो वह व्यापक चेतन ही होगा। लोक में जो भी काल से विभाजित होगा, उसमें उस पदार्थ और काल का विभाज्य और विभाजक रूप सम्बन्ध रहता है। किन्तु वे पदार्थ और काल दोनों ही तो उस चेतन से व्याप्त रहते हैं, तभी तो वे उस रूप में दीख पड़ते हैं ।। ३१–३२ ।।

यदि वे चेतन से पूरित न हों तो उनका विभाजन कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि उसका विभाजन तो तभी हो सकता है यदि उससे बाहर कोई चेत्य पदार्थ हो ।।३३।।

विशेष — चेतन से परिपूरित न होने का अर्थ है — चेतन से प्रकाशित न होना। जो वस्तु, भाव या सम्बन्ध चेतन से प्रकाशित न हो उसका भान किसे होगा ? और यदि उसका बोध किसी को नहीं होता तो उसकी सत्ता कैसे सिद्ध होगी ?

चितेर्बहिश्चेत्यसिद्धिः सर्वथा नोपपद्यते ।
यो बहिः स कथं सिद्ध्येच्चितिसम्बन्धवर्जितः ।। ३४ ।।
सम्बन्धोऽपि नैकदेशः स्यादसिद्धस्तथेतरः ।
तत्सम्बन्धांशमात्रस्य भानादन्यन्न सिद्ध्यति ।। ३५ ।।
अतो बहिः पदार्थोऽपि चितिनिर्मग्न इष्यताम् ।
एवं च सर्वात्मनैव मग्नं चेत्यमपीष्यताम् ।। ३६ ।।
कथं स्वान्तर्विनिर्मग्नं स्वपरिच्छेदकं भवेत् ।
चेत्यमेवंविधं राम विचारय सुयुक्तितः ।। ३७ ।।
चितेरन्तर्भासमानं प्रतिबिम्बात्मकं भवेत् ।
न भावोदरगो भावो भवन् लोके सुदृश्यते ।। ३८ ।।
भावानां स्याद्धि साङ्कर्यं तथा चेद्राम सर्वतः ।
बहिः पदार्थस्ते प्रोक्तो भ्रममूलो हि सर्वथा ।। ३९ ।।
तदाश्रयाणां भावानां कथं स्यात् सत्यता वद ।
चितिस्वरूपः स्वात्मैव तत्तद्भावात्मना सदा ।। ४० ।।
भासते स्वाच्छन्द्यशक्त्या नाधिकं विद्यते क्वचित् ।

किन्तु इस चेतन से बाहर अन्य पदार्थ की सत्ता तो किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि जो बाहर है, वह उसके सम्बन्ध के बिना कैसे सिद्ध होगा ? ।। ३४ ।।

वह चेत्य और चेतन का सम्बन्ध किसी एक क्षेत्र में नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो चेत्य के अन्य भाग की सिद्धि तो नहीं हो सकती। सम्बन्धित उस भाग का बोध होने से ही तो दूसरा भाग सिद्ध नहीं हो जाता ।।३५।।

अतः बाहरी पदार्थों को भी इस चेतन में ही डूबा समझो। इसी तरह चेत्यसमूह को भी सर्वथा चेतन के भीतर ही अनुभव करो ।। ३६ ।।

परशुराम ! युक्तिपूर्वक जरा विचार करो—जो चेत्य अपने में ही डूबा है वह अपना ही विभाजक कैसे हो सकता है ? ।। ३७ ।।

जो वस्तु चेतन के भीतर दिखलाई देती है, वह उसकी परछाई ही तो सकती है, क्योंकि दुनिया में किसी एक वस्तु के भीतर रहनेवाली कोई दूसरी वस्तु देखी नहीं जाती ।। ३८ ।।

परशुराम ! यदि ऐसा माना जाय तो हर जगह पदार्थों का घोटाला हो जायेगा। मैं पहले तुम्हें बतला चुका हूँ कि बाहरी दुनिया की समस्त चीजें भ्रामक हैं। तो फिर बतलाओ, बाहरी वस्तु के आधार पर टिकी वस्तु की सच्चाई सिद्ध कैसे होगी ? ।। ३९ ।।

अतः चेतनस्वरूप अपनी आत्मा ही अपनी बेनियाज ताकत के बल पर इन समस्त बाहरी वस्तुओं के रूप में भासती रहती है। उससे अलग तो कुछ है ही नहीं ।।४०३।।

इति वाक्यं समाकर्ण्य पुनः पप्रच्छ भार्गवः ॥ ४१ ॥
भगवन् भवता प्रोक्तं दुर्घटं प्रतिभाति मे ।
शुद्धा चितिर्विचित्रैका भासते इत्यसम्भवात् ॥ ४२ ॥
चितिश्चेत्यमिति द्वेधा वस्तु सर्वैर्विभावितम् ।
तत्र चेत्यं चिता भास्यं स्वप्रभा चितिरस्तु वै ॥ ४३ ॥
यथा लोकभातमपि वस्तु तद्भिन्नमस्ति वै ।
एवं चिता भासितं तु चेत्यमस्तु पृथग्विधम् ॥ ४४ ॥
चेत्यं चिदात्मकमिति नानुभूतिं समारुहेत् ।
अथ च प्रागभिहितं जनकेन महात्मना ॥ ४५ ॥
सङ्कल्पवर्जनादेव निर्विकल्पं मनो भवेत् ।
तदेव निर्विकल्पं स्याज्ज्ञानं संसारनाशनम् ॥ ४६ ॥
तदेव ह्यात्मनो रूपमित्युक्तं तत् कथं भवेत् ।
आत्मनो हि मनः प्रोक्तं करणं ज्ञानकर्मणि ॥ ४७ ॥
मनो यद्यात्मनो न स्याद्विशिष्येत जडात् कथम् ।
मनो जडाद्विशेषः स्यादात्मनो भगवन्ननु ॥ ४८ ॥
मनसैव हि बन्धः स्यान्मोक्षो वाऽप्यात्मनः स्फुटम् ।
सविकल्पं मनो बन्धो मोक्षः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥ ४९ ॥

गुरु दत्तात्रेय की बातें सुनकर परशुराम ने फिर उनसे पूछा—भगवन् ! आपने जो कुछ कहा, ये बातें मेरे गले के नीचे नहीं उतरतीं । 'अकेला शुद्धचेतन अनेक रूपों में बाहर झलक रहा है' ऐसा कैसे हो सकता है ? ॥ ४१–४२½ ॥

चेतन और चेत्य ये दो तत्त्व तो सर्वमान्य हैं । इनमें चेतन से ही चैत्य प्रकाशित होता है । अतः चेतन का स्वयं प्रकाशित होना निश्चित है ॥ ४३ ॥

जैसे दुनिया की प्रकाशित होनेवाली हर वस्तु प्रकाशक से अलग होती है, ठीक उसी तरह चेतन से प्रकाशित चेत्य का उससे अलग होना भी ठीक ही है । किन्तु 'चेत्य चेतन का स्वरूप है' यह बात समझ में नहीं आती ॥ ४४½ ॥

इसके सिवा महात्मा जनक ने जो पहले कहा कि संकल्प छोड़ देने से ही मनुष्य का मन निर्विकल्प हो जाता है । दुनिया से छुटकारा दिलाने वाला यही निश्चयात्मक निर्विकल्प ज्ञान है और यही आतमा का असली रूप भी है । ऐसा कैसे हो सकता है ? क्योंकि ज्ञानरूप क्रिया में मन तो आतमा का कारण कहा गया है ॥ ४५–४६ ॥

यदि आतमा के पास मन न हो तो जड़ से चेतन का अलगाव कैसे होगा ? भगवन् ! आतमा का जो जड़ से भेद है उसका कारण यह मन ही तो है ॥ ४८ ॥

और यह भी साफ जाहिर है कि मन की वजह से ही आतमा का बन्धन और मुक्ति है । सविकल्प मन आतमा का बन्धन और निर्विकल्प मन आतमा का मोक्ष है ॥ ४९ ॥

तत् कथं मन एवात्मा करणं हि मनः स्मृतम् ।
निर्विकल्पस्य संसिद्धावपि द्वैतं तु शिष्यते ॥ ५० ॥
अथापि लोके दृष्टोऽस्ति यस्य भ्रान्तिरसन् हि सः ।
न हि भ्रान्तिरसत्या स्यात् तदद्वैतं कथं भवेत् ॥ ५१ ॥
अर्थक्रिया न क्वचिच्च दृष्टासत्येन वस्तुना ।
सर्वं हि जागतं वस्तु स्थिरमर्थक्रियाकरम् ॥ ५२ ॥
तदसत्यं कथं ब्रूहि यतोऽद्वैतं प्रसिद्ध्यति ।
सर्वं च भ्रान्तिविज्ञानं भ्रान्त्यभ्रान्तिभिदा कथम् ॥ ५३ ॥
भ्रान्तिः सर्वसमा वापि कथं स्याद् ब्रूहि मे गुरो ।
सन्देह एष विततो हृदि मे परिवर्त्तते ॥ ५४ ॥
इत्येवं प्रश्नमाकर्ण्य दत्तात्रेयः समस्तवित् ।
साधुप्रश्नप्रहृष्टात्मा प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५५ ॥
राम साधु त्वया पृष्टं प्रोक्तप्रायमिदं पुनः ।
यावन्न मनसस्तोषस्तावद् भूयो विशोधयेत् ॥ ५६ ॥

ऐसी स्थिति में मन आत्मा तो हो ही नहीं सकता । उसका करण ही तो मन हो सकता है । यदि निर्विकल्प मन मुक्ति का कारण हो भी तो भी आत्मा और मन का अस्तित्व अलग-अलग कबूल करना ही पड़ेगा ॥ ५० ॥

दुनिया में ऐसा देखा जाता है कि जिसकी भूल होती है, वह झूठ होता ही है । खुद भूल तो अपने-आपमें झूठ होती नहीं । ऐसी स्थिति में दो को भाव अर्थात् द्वैत का अभाव कैसे हो सकता है ? ॥ ५१ ॥

विशेष—यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि अँधेरे में चलते राही को राह में पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर उसे साँप समझने की भूल होती है, तो उस समझदारी में साँप झूठ होता है, भूल होने की घटना तो झूठ नहीं होती । अतः यहाँ भी द्वैत का अभाव नहीं होता ।

वस्तु जो झूठ होती है, उससे कभी मतलब का काम तो निकलता नहीं । किन्तु दुनिया की सभी वस्तुएँ तो स्थिर हैं और उनसे काम भी चलता ही रहता है ॥ ५२ ॥

आप ही बतलाओ, जिससे उस बेजोड़ ब्रह्म की सिद्धि हो वह झूठ कैसे हो सकता है ? यदि सारा ज्ञान भ्रान्ति अर्थात् पागलपन ही है तो धोखा और सही का भेद भी कैसे होगा ? ॥ ५३ ॥

मेरे गुरुजी ! कृपया आप यह भी बतला दें कि यह भ्रम या धोखा सबको एक ही तरह क्यों लगता है ? मेरे दिल में यह भारी सन्देह चक्कर काट रहा है ॥ ५४ ॥

शिष्य का ऐसा सुन्दर सवाल सुनकर सर्वज्ञ दत्तात्रेय को बड़ी खुशी हुई । फिर उन्होंने कहना शुरू किया ॥ ५५ ॥

परशुराम ! तुमने सुन्दर सवाल किया है । यद्यपि इसका जवाब कहा जा चुका

गुरुर्वापि कथं ब्रूयादपृष्टस्तन्मनोगतम् ।
प्राणिनां हि बुद्धिभेदात् तर्कः पृथगवस्थितः ।। ५७ ।।
अपृष्ट्वा स्वस्वाऽभिमतं कः सन्देहाद्विमुच्यते ।
प्रष्टुर्विद्या हि सुदृढा प्रश्नो बीजं निरूपणे ।। ५८ ।।
अप्रष्टुर्नैव विद्या स्यात् पृष्ट्वा विद्यात्ततो गुरुम् ।
चितिरेकैव वैचित्र्याद्भासते इति सम्भवेत् ।। ५९ ।।
एकरूपो यथाऽऽदर्शः प्रतिबिम्बादनेकधा ।
पश्य स्वाप्नविकल्पादौ मन एकं हि केवलम् ।। ६० ।।
द्रष्टृदर्शनदृश्यात्मवैचित्र्येण विभाति हि ।
एवं शुद्धैव सा संविद्विचित्राकारभासिनी ।। ६१ ।।
चितिश्चेत्यमिति द्वेधा स्वप्नेऽपि हि विभासते ।
आलोकमन्तरा त्वन्धो भावं जानाति वै ननु ।। ६२ ।।
अन्धस्याभासमानश्च रूपं भाति स्मृतौ किल ।
नैवं चितेरभाने किं कदा कुत्र विभासते ।। ६३ ।।

है, फिर भी जब तक अपने मन को संतोष न हो जाय तब तक इस पर विचार तो करना ही चाहिए ।। ५६ ।।

इस तरह यदि पूछा न जाय तो शिष्य के मन में छिपे संदेह को गुरु कैसे मिटा सकते हैं ? जीवों की बुद्धि अनेक तरह की होती है । अतः उनके समाधान के लिए अलग-अलग युक्तियाँ भी होती हैं ।। ५७ ।।

अतः अपने मन में उठे संदेह के बारे में बिना पूछे उससे छुटकारा भला किसे और कैसे मिल सकता है ? विद्या तो पूछनेवाले की ही पक्की होती है । सच पूछो तो प्रश्न ही निरूपण का बीज है । जो पूछता नहीं, वह ज्ञान नहीं पाता, अतः जिज्ञासु बनकर ही तो गुरु से ज्ञान पाना चाहिए ।। ५८½ ।।

एक ही चैतन्य अनेक रूपों में झलक रहा है; यह बात इस तरह सम्भव है— आईने का रूप तो एक ही है, पर उसमें झलकनेवाली परछाईयाँ तो अनेक हैं ।।५९½।।

देखो, सपने में और मन की दुनिया में केवल एक मन ही द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदि अनेक रूपों में दीखता है । सपने में भी चिति और चेत्य ये दो भेद तो दीखते ही हैं । (यदि यह दुविधा सपने में झूठ है तो जगने पर क्यों नहीं ?) ।। ६०–६१½ ।।

(तुम्हारा कथन है कि प्रकाश की तरह प्रकाशक और प्रकाश्य दोनों का अस्तित्व है । सो बात ठीक नहीं है, क्योंकि घड़े-कपड़े आदि तो आँख या प्रकाश न रहने पर भी दूसरे साधनों से दीख जाते हैं । जैसे—)

अन्धा आदमी प्रकाश की अपेक्षा किये बिना किसी वस्तु को छूकर जान ही लेता है तथा अन्धे आदमी को रूप का आभास न होने पर भी स्मृति में उसकी प्रतीति तो होती ही है। किन्तु चेतन के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती है,

यथाऽऽदर्शं विना किञ्चित् प्रतिबिम्बं न भाति वै ।
आदर्शान्नातिरिक्तोऽतः प्रतिबिम्बो भवेद्यथा ॥ ६४ ॥
एवं चितिमृते किञ्चिदतिरिक्तं न विद्यते ।
अत एव मनोऽप्यन्यत् सर्वथा नास्ति वै चितेः ॥ ६५ ॥
यथा स्वप्ने मनस्तद्वज्जाग्रत्यपि मनो न हि ।
कल्पितं कार्यसंसिद्धयै करणं केवलं मनः ॥ ६६ ॥
यथा स्वाप्नः कुठारः स्यात् करणं तरुछेदने ।
राम क्रियाऽसत्यरूपा सत्यं तत् करणं कथम् ॥ ६७ ॥
असता नरश्रृङ्गेण कः कदा सुविदारितः ।
तस्मान्नास्ति मनो राम चासत्कार्यस्य कारणम् ॥ ६८ ॥
स्वप्ने दृशिः क्रिया कार्यं कारणं मन उच्यते ।
यथा तथा सर्वदापि मनो नास्ति क्रियाकरम् ॥ ६९ ॥
चिदात्मा केवलः स्वच्छः स्वाच्छन्द्यान्मन आदिकम् ।
परिकल्प्य व्यवहरेत् दृश्यद्रष्ट्रादिभेदतः ॥ ७० ॥

क्योंकि चेतन की प्रतीति न होने पर भला कब किसी को कहीं किसी वस्तु का ज्ञान हुआ है ? ॥ ६२–६३ ॥

जैसे आईने के बिना कोई परछाई नहीं बनती और इसी से जैसे आईने से अलग परछाई है ही नहीं, उसी तरह चेतन के बिना और चेतन से भिन्न कुछ भी है ही नहीं। अतः मन भी चेतन से अलग है ही नहीं ॥ ६४–६५ ॥

जैसे सपने में मन नहीं है, उसी तरह जगने पर भी मन का अलग अस्तित्व नहीं है । सपने की तरह जगने पर भी काम चलाने के लिए करण रूप से मन की कल्पना हो जाती है ॥ ६६ ॥

सपने में पेड़ काटने के लिए जैसे सपने की ही कुल्हाड़ी होती है । परशुराम ! यदि सपने का काम झूठ है तो उसका साधन सच कैसे हो सकता है ? ॥ ६७ ॥

आदमी को सींग होता ही नहीं । फिर किसी आदमी के सींग से कोई कैसे विदीर्ण हो सकता है ? अतः परशुराम ! सपने में किसी झूठे काम का साधन मन कैसे होगा ? ॥ ६८ ॥

सपने में जैसे आँख की शक्ति ही कुछ करने की चेष्टा, कोई काम या कारण के रूप में मन कहलाती है; उसी तरह हर समय जगने पर भी क्रिया का सम्पादक मन ही नहीं होता ॥ ६९ ॥

केवल विशुद्ध ज्ञानरूपी आत्मा ही अपनी बेनियाज ताकत से मन की कल्पना कर कभी तो देखनेवाला और कभी दृश्य के रूप में व्यवहार करता है और कभी केवल स्थिर भाव से अपने स्थान पर ठहर जाता है ॥ ७०½ ॥

क्वचित् क्वचित् केवलं तु निर्विकल्पात्मना स्थितः ।
शृणु भार्गव चित्तत्त्वं परिपूर्णमपि स्वयम् ॥ ७१ ॥
नाकाशतुल्यं चैतन्यात् स्वप्रकाशमतः स्थितम् ।
आकाशश्च चिदात्मा च न विलक्षणतां गतौ ॥ ७२ ॥
पूर्णः सूक्ष्मो निर्मलश्चाजोऽनन्तोऽपि निराकृतिः ।
सर्वाधारोऽप्यसङ्गात्मा सर्वान्तरबहिर्भवः ॥ ७३ ॥
विशेषस्तत्र चैतन्यमाकाशे तन्न विद्यते ।
वस्तुतश्चैतन्यपूर्ण आत्मैवाकाश उच्यते ॥ ७४ ॥
नह्यात्माकाशयोर्भेदो लेशतोऽपि हि विद्यते ।
य आकाशः स आत्मैव यश्चात्माऽऽकाश एव सः ॥ ७५ ॥
अज्ञाः पश्यन्त्यात्मरूपमाकाशमिति वै भ्रमात् ।
सौरालोकं यथोलूकस्तमोमात्रं प्रपश्यति ॥ ७६ ॥
आकाशमेव विज्ञास्तु पश्यन्त्यात्मचिदात्मकम् ।
परा चितिः परेशानी स्वच्छस्वातन्त्र्यवैभवात् ॥ ७७ ॥
अवभासयदात्मानं परिच्छिन्नमनेकधा ।
यथा राम स्वमात्मानं स्वप्ने बहुविधं पृथक् ॥ ७८ ॥
मनुष्यादिविभेदेन भासयत्येवमेव हि ।
अनेकधावभासोऽपि परिच्छिन्नदृशैव हि ॥ ७९ ॥

सुनो परशुराम ! ज्ञानतत्त्व अपने-आपमें परिपूर्ण होने के बावजूद आकाश की तरह शून्य या जड़ नहीं है। इसीसे वह स्वयंप्रकाश भी है। इसके सिवा आकाश और ज्ञानरूपी आत्मा में कोई और भेद नहीं है ॥ ७१–७२ ॥

आकाश की तरह यह ज्ञानरूपी आत्मा भी परिपूर्ण, बारीक, स्वच्छ, अजन्मा, अनन्त, निराकार, सबका आधार, निर्लिप्त और सबके भीतर-बाहर रहनेवाला है। उसमें विशेषता केवल चैतन्य की ही है, आकाश में यह गुण नहीं है। वास्तव में चेतना से भरा आकाश ही आत्मा कहलाता है ॥ ७३–७४ ॥

इसके सिवा आकाश और आत्मा में और कोई भेद नहीं है। जो आकाश है, वही आत्मा है और जो आत्मा है, वही आकाश है ॥ ७५ ॥

नासमझ लोग भ्रमवश आत्मा के स्वरूप को ही आकाश के रूप में देखते हैं। जैसे उल्लू सूर्य की रोशनी को अन्धेरा के रूप में देखा करता है ॥ ७६ ॥

समझदार लोग तो आकाश को ही चेतन आत्मा के रूप में देखते हैं। भगवती दुर्गा अपनी बेनियाज ताकत के बल से ही अपने रूप को अनेक तरह से मर्यादित रूपों में प्रकट करती हैं। जिस प्रकार हे परशुराम ! सपने में अनेक रूपों में वह अपने-आपको ही तो प्रकट करती है ॥ ७७–७८ ॥

स्वयं स्वदृष्टचा पूर्णात्मरूपिण्येव परा चितिः ।
ऐन्द्रजालिक एकोऽपि स्वमात्मानमनेकधा ॥ ८० ॥
भासयंस्तत्र द्रष्टॄणां स्वदृष्टचा भासयेत् स्वयम् ।
एक एव निर्विकार एवं सा परमा चितिः ॥ ८१ ॥
शुद्धैकरूपभासापि परिच्छिन्ना ह्यनेकधा ।
परिच्छिन्नस्वरूपाणां भासयेन्मायया वृता ॥ ८२ ॥
मायावरणमप्येतत् परिच्छिन्नदृशो भवेत् ।
यथैन्द्रजालिको मायावृतश्चान्यदृशो भवेत् ॥ ८३ ॥
मायापरचितोऽत्यन्तं स्वातन्त्र्यमतिदुर्घटम् ।
लोकेऽपि योगिनोऽन्ये च मान्त्रिका ऐन्द्रजालिकाः ॥ ८४ ॥
आच्छादितं स्वस्वातन्त्र्यं प्राप्य किञ्चित् सुयुक्तितः ।
दुर्घटं घटयन्त्येव ततो नैतद्विचित्रितम् ॥ ८५ ॥
एवं परचितेः स्वच्छस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनो वपुः ।
अनेकधा परिच्छिन्नं भासितं भृगुनन्दन ॥ ८६ ॥
परिच्छेदोऽभिमानस्य त्वेकदेशे सुविश्रमः ।
साऽप्यपूर्णत्वविख्यातिर्याऽविद्या परिगीयते ॥ ८७ ॥

उसका यह अनेक रूपों में दिखलायी पड़ना भी मर्यादित दृष्टि से ही है। अपने-आपकी नजर में तो वह पराचिति परिपूर्ण आत्मा के रूप में ही है ॥ ७९½ ॥

जैसे जादूगर अकेला रहने के बावजूद अपने-आपको दर्शकों के बीच अनेक रूपों में प्रकाशित करने पर भी अपनी नजर में तो वह अकेला ही रहता है ॥ ८०½ ॥

इसी तरह वह पराचिति एक और परिवर्तन एवं विकारविहीन है तथा अपनी दृष्टि में शुद्ध एक रूप में ही दीखती हैं, फिर भी माया से ढकी होने पर वह मर्यादित होकर अनेक मर्यादित रूपों में दीखने लगती हैं ॥ ८१–८२ ॥

उसका यह माया रूप आवरण भी मर्यादित दृष्टि वालों के लिए ही है, जैसे जादूगर दूसरों की नजर में ही जादू से ढका है ॥ ८३ ॥

उस पराशक्ति की बेनियाज ताकत ही उसकी माया है। यह असम्भव को संभव में बदल देती है। संसार में भी योगी एवं मन्त्रवेत्ता थोड़ी-सी क्षुद्र ताकत पाकर अनहोनी करके दिखला देते हैं; फिर उस पराशक्ति के लिए यह कोई विचित्र बात नहीं है ॥ ८४–८५ ॥

हे परशुराम ! इस तरह वह पराशक्ति अपनी पवित्र स्वतंत्रता के कारण ही अपना रूप अनेक तरह से मर्यादित होकर बदलती रहती है ॥ ८६ ॥

अहंकार का कहीं एक जगह टिक जाना ही उसका विभाजन है। वही अधूरी बुद्धि भी है, जिसे अविद्या नाम से कहा जाता है ॥ ८७ ॥

अत्र मुह्यन्ति बहवस्तार्किकाः पण्डिता अपि ।
स्वात्मानमनुदाहृत्य बहिर्दृष्टितया स्थितेः ॥ ८८ ॥
गुरूपदिष्टं यत् किञ्चित् सद्वाप्यसदपीतरत् ।
अनुदाहृत्य चात्मानं यावन्न ह्यवलोकयेत् ॥ ८९ ॥
तावन्न फलमाप्नोति परोक्षात्मतया श्रुतेः ।
अतो मयोक्तं राम त्वं सम्पश्यात्मनि सद्दृशा ॥ ९० ॥
चितिर्या परमा देवी सर्वसामान्यरूपिणी ।
सा प्रकाशमयी यस्माज्जडव्यावृत्तरूपिणी ॥ ९१ ॥
अतः स्वात्मनि विश्रान्तिस्त्वहन्ता पररूपिणी ।
जडाश्चिदात्मविश्रान्ताश्चिदात्मनि विभासतः ॥ ९२ ॥
न स्वरूपे स्वतो भान्ति तस्मान्न स्वात्मविश्रमः ।
चितेस्तु केवलं स्वस्मिन्ननन्यापेक्षया सदा ॥ ९३ ॥
भासमानत्वतः स्वस्मिन् विश्रान्तिरुपपद्यते ।
पूर्णाहन्ता परा सेयं या जडेषु न विद्यते ॥ ९४ ॥
व्यावृत्तिः स्पर्शहीनेयं परिच्छेदविवर्जनात् ।
सर्वमस्यां यतः संस्थमादर्शे नगरं यथा ॥ ९५ ॥

अपनी आत्मा का अनुसंधान न करने तथा बाहरी दृष्टि से देखने-विचारने के कारण इस विषय में अनेक तार्किक और पण्डितों को भी भ्रम हो जाता है ॥ ८८ ॥

गुरुजी ने अच्छा-बुरा या किसी दूसरी तरह से जो कुछ बतलाया है, उसे जब तक आत्मानुसंधान के माध्यम से परख न लिया जाय तब तक केवल सुनने से मोक्ष नहीं मिल जाता। अतः परशुराम ! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है उस पर भीतरी आँखों से देखकर विचार करो ॥ ८९–९० ॥

दुनिया की हर चीज में उसके खाश हिस्से को छोड़कर सामान्य रूप से दिखलायी देने वाली वस्तु तो वह पराशक्ति चिति ही है। वहाँ जो कुछ प्रकाश है, वह उसी का रूप है। उसमें जड़ता का बिलकुल निषेध है ॥ ९१ ॥

अतः वह अपने रूप में 'विश्रान्ति' स्वरूपा है और पराहन्तारूपिणी है। उस पराशक्ति में जड़पदार्थ विश्रान्त है, चिदात्मा के आश्रय से ही उसका बोध होता है ॥ ९२ ॥

वह अपने स्वरूप में खुद प्रकाशित नहीं होती। इसलिए अपने-आप में विश्रान्ति नहीं है। केवल शुद्धचिति ही अपने-आप में विश्रान्ति लेती है, क्योंकि उसे किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं है। वह अपने स्वरूप में आप प्रकाशित हैं। यही श्रेष्ठ पूर्णाहन्ता है, जो जड़पदार्थों में नहीं है ॥ ९३–९४ ॥

अतः यह आवरण हर तरह से अलगाव रहित है। इसे भेद छू तक नहीं गया है। क्योंकि आईने में प्रतिबिम्बित नगर की तरह सब कुछ इसी में दीख रहा है ॥ ९५ ॥

व्यावृत्तिर्वा परिच्छेदः कथं केन हि सम्भवेत्।
एवं पूर्णस्वरूपायाः पूर्णं यत्स्फुरणं स्थितम् ॥ ९६ ॥
तदेव स्वात्मविश्रान्तिः पूर्णाहन्ता च कथ्यते।
अखण्डैकरसं ह्येतदेतावद्राम वै भवेत् ॥ ९७ ॥
निरूपणे बहुविधमिव तत् प्रतिभासते।
एतावदेव स्वातन्त्र्यं यतः शक्तिर्हि तन्मयी ॥ ९८ ॥
प्रकाशस्तेजसो यद्वदौष्ण्यं चैवापृथक् स्थितम्।
एवं स्वातन्त्र्यविश्रान्तिसहितैकरसात्मिका ॥ ९९ ॥
इयमेव हि मायाख्या शक्तिः परमदुर्घटा।
आदर्शवद्यत्स्वरूपे चिदेकरसरूपिणी ॥ १०० ॥
सत्यप्यनेकवैचित्र्याभासनेन विभासते।
तथा भासनकालेऽपि स्वरूपादनिवर्त्तनम् ॥ १०१ ॥
परिच्छेदावभासो यः सोऽनात्माभास उच्यते।
साऽविद्या जडशक्तिः सा शून्यं प्रकृतिरेव च ॥ १०२ ॥
अत्यन्ताभाव आकाशस्तमः प्रथमसर्गकः।
सर्वं तदेव सम्प्रोक्तं परिच्छेदनमादिमम् ॥ १०३ ॥
राम यः परिपूर्णात्मा विश्रमो वै समास्थितः।
तस्यैकदेशताभ्रान्तिकृतमाकाशभासनम् ॥ १०४ ॥

यह आवरण या अलगाव किसी के द्वारा कैसे संभव है ? यह अपने-आप में पूर्णस्वरूपा है। यह पूरी तरह स्फुरित है। यह अपनी आत्मा में विश्रान्ति या पूर्णाहन्ता कही जाती है। परशुराम ! ऐसी यह चिति सचमुच अखण्ड और एकरस है ॥ ९६–९७ ॥

वह केवल चर्चा के समय ही अनेक रूप में दीखने लगती है। यही उसकी आजादी है। उसकी बेनियाज ताकत भी उसी की तरह है ॥ ९८ ॥

जैसे आग में रोशनी और गर्मी उससे अलग नहीं रहती, उसी तरह वह स्वतंत्रता और विश्रान्ति के साथ एकरस है ॥ ९९ ॥

यही वह मायाशक्ति है जो असंभव को भी संभव कर दिखाती है। यह चिद्रूपा आईने की तरह अपने स्वरूप में एकरस रहने के बावजूद अनेक विचित्र परछाई के रूप में दीखने लगती है और इस अवलोकन काल में भी अपने रूप से अलग नहीं होती ॥ १००–१०१ ॥

इसमें जो अलगाव का बोध होता है वही अनात्माभास अर्थात् जड़त्व की प्रतीति भी कहलाती है। यही अविद्या, जड़शक्ति, शून्य और प्रकृति भी कहलाती है ॥१०२॥

उसका यह पहला विभाजन ही एकान्त अभाव अर्थात् सत्ता की नितान्त शून्यता, आकाश, तप और पहला प्रकरण कहा जाता है ॥ १०३ ॥

अत आत्मप्रदेशो य आत्माभिमतिवर्जितः।
आकाशः स हि सम्प्रोक्तः स हि संसारकारणम् ॥ १०५ ॥
एष एव भवेद्भेदः पशुदृष्टचैकगोचरः।
राम सूक्ष्मदृशा पश्य य आकाशस्त्वयेक्ष्यते ॥ १०६ ॥
तत्रत्यजीवराशीनामात्मा चैतन्यमेव सः।
यथान्यदेहेष्वाकाशो भासते यः सदा तव ॥ १०७ ॥
स एव तेषामात्मा स्याच्चिदानन्दघनात्मकः।
एवं स्वकल्पिताकाशग्रस्तं यच्चिद्वपुः स्थितम् ॥ १०८ ॥
तदेव मन इत्युक्तमात्मैव न हि चेतरत्।
तत्रावरणमुख्यत्वात् प्रमाणं मन उच्यते ॥ १०९ ॥
आवृतप्राधान्यतस्तु प्रमाता जीव उच्यते।
एवमाकाशावृतोऽपि चिदात्मा भूय एव तु ॥ ११० ॥
आकाशे कोमलेऽत्यन्तशिथिले निर्घनेऽमले।
कठिनश्लिष्टघनतामालिन्यानां प्रकल्पनैः ॥ १११ ॥
भूतान्याभास्य देहात्मा देहेनापि समावृतः।
कुम्भोदरगतो दीप उदरं व्याप्य भासते ॥ ११२ ॥

परशुराम! इसकी जो पूर्णाहन्ता रूप विश्रान्ति है, उसी में एकदेशता की भ्रान्ति होने से आकाश की प्रतीति होने लगती है ॥ १०४ ॥

अतः आत्मा का जो अंश अहम्भाव से रहित है, उसे ही आकाश कहते हैं और वही संसार का कारण है ॥ १०५ ॥

यह आकाश ही नासमझों की नजर में भेद है। परशुराम! इस पर तुम गहरी दृष्टि से विचार करो। तुम जो यह आकाश देखते हो, वही तो उसमें रहने वाले जीव-समूह की चैतन्य आत्मा है ॥ १०६½ ॥

जैसे दूसरों की देह में जो आकाश दीखता है, वही उनकी ज्ञान और आनन्दमय आत्मा है और तुम्हारी भी हमेशा वही आत्मा है ॥ १०७½ ॥

इस तरह जो ज्ञानस्वरूप हमारे बनावटी आकाश से भरा है वही हमारा मन कहा गया है और वही आत्मा भी है और कोई दूसरी नहीं ॥ १०८½ ॥

परदा डालनेवाली जड़शक्ति की प्रधानता के कारण उसे प्रमाणरूप मन कहा गया है और उससे ढकी रहनेवाली ज्ञानशक्ति की प्रधानता के कारण वही प्रमाता जीव कहलाता है ॥ १०९½ ॥

इस तरह आकाश से ढकी हुई भी यह आत्मा फिर पञ्चभूतों से ढक जाती है। आकाश अतिकोमल, शिथिल, विरल और निर्मल है; किन्तु उसमें कठिनता, कसावट, सघनता और मलिनता की कल्पना से पञ्चभूत प्रकट होते हैं। इस तरह देह से घिरी

एवमेष शरीरान्तरवभासनमात्रकः ।
आस्ते गूढप्रदीपात्मा तदन्तर्मात्रभासनः ॥ ११३ ॥
दीपप्रभा घटच्छिद्राद्यथा निर्याति वै बहिः ।
एवमक्षद्वारमुखाद् भूयो निर्याति वै चितिः ॥ ११४ ॥
निर्याणं तु चितेर्नास्ति पूर्णत्वादक्रियत्वतः ।
स्वात्मावरणमाकाशं स्फूर्त्तिशक्तिश्चिदात्मनः ॥ ११५ ॥
यावन्निवारयेत्तावन्निर्याणं प्रविभासते ।
मनोव्यापार एष स्यात् स्फूर्त्त्यापहतिरावृतेः ॥ ११६ ॥
तस्माद्राम मनो नान्यदात्मैव मन उच्यते ।
चला चितिर्मनोनाम्नी निश्चलात्मस्वरूपिणी ॥ ११७ ॥
आवृत्त्यभिहतिः स्फूर्त्त्या चलनं राम वै चितेः ।
एतदेव विकल्पः स्याद्विकल्पपरिवर्जने ॥ ११८ ॥
निर्विकल्पं पूर्णरूपं विज्ञानं मुक्तिनामकम् ।
राम त्यजात्र सन्देहं विकल्पस्य विवर्जने ॥ ११९ ॥
अप्यावरणदोषः स्यादिति नास्त्येव चावृतिः ।
आवृतिर्न हि सत्यास्ति यतः स्वेनैव कल्पिता ॥ १२० ॥

यह देहात्मा घड़े के भीतर रखे दिए की तरह देह के भीतर फैलकर प्रकाशित होने लगती है ॥ ११०–११२ ॥

इस तरह यह आत्मा देह के भीतरी भाग को ही प्रकाशित करती है। घड़े के भीतर रखा दीपक जैसे उसके भीतरी भाग को ही प्रकाशित करता है ॥ ११३ ॥

जैसे घड़े के छेद से छनकर दिए की रोशनी बाहर निकलती रहती है, उसी तरह यह ज्ञानरूपी आत्मा इन्द्रिय रूपी दरवाजे से बाहर निकलने लगती है ॥११४॥

चेतन अपनी पूर्णता और क्रियाहीनता के कारण कहीं आ-जा नहीं सकता। किन्तु चिदात्मा की चेतनशक्ति जब अपने आवरण आकाश को अलग हटा देती है, तब उसका निकलना साफ झलकने लगता है। चेतन के द्वारा इस आवरण को हटाना ही मन का काम है ॥ ११५–११६ ॥

इसलिए परशुराम ! मन कोई दूसरी वस्तु नहीं है, आत्मा ही तो मन है। चंचल चेतन मन है और निश्चल चेतन आत्मा है ॥ ११७ ॥

चितिशक्ति के स्फुरण से आवरण का हटना ही चेतन का चलना है। यही विकल्प है। विकल्प छोडते ही निर्विकल्प पूर्ण जो विज्ञान बच जाता है, वही मुक्ति है ॥ ११८½ ॥

हे परशुराम ! तुम यह संदेह छोड़ दो कि विकल्प छोड़ने के बाद फिर आवरण-दोष हो सकता है। क्योंकि यह आवरण तो बनावटी या मनगढ़ंत है, इसमें वास्तविकता बिलकुल ही नहीं है ॥ ११९–१२० ॥

यथा मनोरथे बद्धः केनचिच्छत्रुणा स्वयम् ।
ताड्यमानस्तर्ज्यमानो यावत् सङ्कल्पवर्जनम् ॥ १२१ ॥
कुर्यात्तावत्ताडनं वा तर्जनं वापि लीयते ।
किं तत्र शिष्यते बन्धस्तथात्रापि विभावय ॥ १२२ ॥
अनादिकालाद्रामात्र बन्धो नास्त्येव कस्यचित् ।
जडात्मभ्रान्तिमुत्सृज्य कोऽयं बन्धो विचारय ॥ १२३ ॥
एष एव महाबन्धो बन्धसत्यत्वनिश्चयः ।
मृषा भीतस्य बालस्य यक्षग्रह इव स्थितः ॥ १२४ ॥
यावद्बन्धभ्रान्तिमेनां नोत्सृजेद् बुद्धिमानपि ।
न तावत् संसृतेर्मुक्तो भवेत् क्वापि महोद्यमैः ॥ १२५ ॥
कोऽयं बन्धः कथं वा स्यान्निर्मलस्य चिदात्मनः ।
प्रतिबिम्बात्मकैः स्वात्मादर्शान्तःप्रविभावितैः ॥ १२६ ॥
बन्धो यदि तदादर्शप्रतिबिम्बाग्निरादहेत् ।
बन्धस्य सत्यताबुद्धिर्मनसोऽस्तित्वनिश्चयः ॥ १२७ ॥
एतद्द्वयमृते नास्ति बन्धः कस्यापि कुत्रचित् ।
यावदेतद्द्वयमलं सद्विचारमहाजलैः ॥ १२८ ॥

ठीक उसी तरह जैसे कोई मन-ही-मन सोचे कि कोई दुश्मन उसे बाँधकर पीट रहा है और धमका भी रहा है। किन्तु मन से इस चिंतन को हटाते ही ताड़न-तर्जन का उसका सारा डर मिट जाता है। इसके बाद भी क्या वहाँ कोई बंधन बच जाता है? इसी तरह यहाँ भी समझो ॥ १२१–१२२ ॥

परशुराम ! शुरू से ही इस दुनिया में किसी का कोई बंधन नहीं है। इस जड़मूल को भूलकर विचार करो कि वास्तव में बन्धन है क्या? ॥ १२३ ॥

इस बन्धन को सच मान लेना ही सबसे बड़ा बंधन है। बच्चे को डराने वाले झूठे हौए की तरह यह डर है ॥ १२४ ॥

बुद्धिमान् व्यक्ति भी जब तक इस भ्रान्ति को छोड़ नहीं देता तब तक घोर प्रयास के बाद भी उसे संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती है ॥ १२५ ॥

यह बन्धन क्या है? इस पवित्र आत्मा को, जो ज्ञानस्वरूप है, उसे यह बन्धन कैसे हो सकता है? यदि अपनी आत्मारूपी आईने में दीखनेवाली परछाई से इसे बंधन हो सकता है, तब तो आईने में दीखनेवाली आग की परछाई से भी आग लगनी चाहिए ॥ १२६½ ॥

'बन्धन को सच मानना' और 'मन का अस्तित्व कबूल करना' इन दोनों को छोड़कर कहीं किसी के लिए और कोई बन्धन नहीं है ॥ १२७½ ॥

जब तक सुन्दर विचाररूपी पवित्र पानी से इन दो गन्दगियों को कोई धो नहीं डालेगा तब तक मैं क्या? ब्रह्मा, विष्णु, महेश या साक्षात् विद्यास्वरूपिणी भगवती

नोन्मार्जितं तावदिह तस्य संसारनाशनम् ।
अहं वा ब्रह्मदेवो वा विष्णुर्वापि च शङ्करः ॥ १२९ ॥
विद्यात्मिका वा त्रिपुरा नैव शक्ताः कथञ्चन ।
तस्माद्राम द्वयञ्चैतत् परित्यज्य सुखी भव ॥ १३० ॥
तस्माद्राम निर्विकल्परूपे मनसि संस्थिते ।
आत्ममात्रत्वतस्तस्य द्वैतं न परिशिष्यते ॥ १३१ ॥
इदं तदितिरूपेण भासनान्यन्मनो नहि ।
इदमादिपरित्यागे मनसात्मैव शिष्यते ॥ १३२ ॥
रज्जुसर्पपरिभ्रान्तिः सत्याभिमतवस्तुनि ।
रज्जुरूपे हि सर्पस्य भासिनीति विनिश्चयः ॥ १३३ ॥
तत्र सर्पस्य बाधोऽपि रज्ज्वालम्बनहेतुतः ।
चिद्रूपादात्मनोऽन्यत्तु रज्जुज्ञानं स्थितं भवेत् ॥ १३४ ॥
सापि रज्जुश्चिति यदा स्वप्नदृष्टान्तकल्पिता ।
रज्जुबाधे हि तज्ज्ञानं कथं शिष्येत् किमाश्रयम् ॥ १३५ ॥
तस्माद् दृश्यस्य बाधे तु तज्ज्ञानं केवला हि दृक् ।
चिदात्मानतिरिक्तत्वाद् द्वैतं तेन कथं भवेत् ॥ १३६ ॥

त्रिपुरा खुद भी उसे संसार के बंधन से छुड़ा नहीं सकती। अतः हे परशुराम ! तुम इन दोनों को छोड़कर सुखी बनो ॥ १२८–१३० ॥

अतः हे परशुराम ! समाधि में मन बिलकुल स्थिर हो जाता है। वहाँ दो का भाव मिट जाता है। केवल आत्मा अपने स्वरूप में शेष बच जाती है ॥ १३१ ॥

'यह' और 'वह' के रूप में दीखने के सिवा मन और कुछ है ही नहीं। मन से यह और वह निकल जाने के बाद जो बचता है, वह आत्मा ही तो है ॥ १३२ ॥

डोरी को साँप समझने की भूल की तरह ही सांसारिक चीजों को सच मानने की भूल है। इससे यही निश्चय होता है सांसारिक वस्तु डोरी में साँप समझने की तरह एक भ्रम है ॥ १३३ ॥

रस्सी में साँप का तो बाध हो जाता है, क्योंकि साँप का आधार तो डोरी ही होती है। पर बाध नहीं होने के कारण चिद्रूप आत्मा से रस्सी का ज्ञान अलग होता है ॥ १३४ ॥

लेकिन जब सपने के उदाहरण से वह डोरी भी चेतन में मनगढंत मानी जाय, तब उस डोरी का बाध होने पर भी उसका ज्ञान किस तरह और किस आधार पर टिकेगा ? ॥ १३५ ॥

अतः दृश्य जगत् का बाध होने पर उसका ज्ञान केवल ज्ञानमात्र ही रहता है। यह उस ब्रह्म से भिन्न है ही नहीं, फिर दो का भाव टिकेगा कैसे ? ॥ १३६ ॥

अर्थक्रिया हि सन्दृष्टा स्वप्नवस्तुषु सुस्थिरा।
स्वाप्नवस्तु स्थिरमिति स्वप्ने सर्वैर्विभावितम् ॥ १३७ ॥
एतावानेव भेदः स्यात् स्वप्नजाग्रद्विभासयोः।
जाग्रति स्वप्नमिथ्यात्वनिश्चयो भवति ध्रुवम् ॥ १३८ ॥
स्वप्ने न जायते जाग्रन्मिथ्यात्वस्य विनिर्णयः।
नैतावतैव सत्यत्वं जाग्रद्व्यवहृतेर्भवेत् ॥ १३९ ॥
यथा जाग्रति वस्तूनां स्थिरतार्थक्रियापि च।
दृश्यते किं तथा स्वप्ने दृश्यते न हि वा वद ॥ १४० ॥
न स्वप्ने जागरा भावाः स्वाप्ना वा नैव जागरे।
अर्थक्रियाकरा वापि स्थिरा वा भान्ति तत्समम् ॥ १४१ ॥
विभावय सूक्ष्मदृशा को भेदोऽतीतस्वप्नयोः।
पश्यैन्द्रजालिककृते स्थैर्यमर्थक्रियामपि ॥ १४२ ॥
किं तावतैव तत् सत्यमैन्द्रजालिकनिर्मितम्।
सत्यासत्यविभागो वै प्राकृतैर्विदितो न हि ॥ १४३ ॥
अत एव मोहितास्ते प्रोचुः सत्यं हि जागतम्।
कदाप्यभावासंस्पृष्टं सत्यं राम प्रचक्षते ॥ १४४ ॥

कार्य-निर्वाह की दृष्टि से सपने की चीजों में भी तो स्थिर कार्य की निर्वाहकता देखी जाती है। सपने में सपने की चीजें तो सबको स्थिर ही जान पड़ती है ॥१३७॥

सपने और जगने के समय की समझदारी में इतना अन्तर तो जरूर है कि जगने पर सपने की बात तो झूठ लगती है, किन्तु सपने में जगने की बात तो झूठ नहीं लगती। बस, इतने भर से जाग्रत् काल के व्यवहार की सच्चाई तो सिद्ध नहीं होती ॥ १३८–१३९ ॥

जगे रहने पर जैसे किसी चीज की स्थिरता और कार्यनिर्वाहकता प्रतीत होती है, तुम्हीं बतलाओ, क्या सपने में सपने की वस्तु भी उसी तरह नहीं लगती है? ॥१४०॥

हाँ, सपने में जगने की चीज और जगने पर सपने की चीज न तो कार्य-निर्वाहक जान पड़ते हैं और न स्थिर ही। सो यह बात दोनों स्थितियों में समान ही है ॥ १४१ ॥

जरा गहराई से सोचो, जाग्रत् अवस्था की बीती हुई घटनाओं में और सपने की घटनाओं में क्या अन्तर है? देखो, जगे रहने पर भी एक बाजीगर की करामात में स्थिरता भी रहती है और कार्यनिर्वाहकता भी। तो क्या इतने से ही उसकी बनाई चीजें सच हो सकती हैं? ॥ १४२½ ॥

इस सच और झूठ का भेद साधारण लोग नहीं जानते हैं। इसी से मोहवश वे जाग्रत् अवस्था की हर चीज को सच मानते हैं ॥ १४३½ ॥

परशुराम! सच तो वह है जिसे कभी अभाव मन को छूता नहीं। अभाव तो

अभावः स्यादभानाद्वै त्वभानं न चितेः क्वचित् ।
अभानमचितामस्ति ह्यनेकत्वावभासतः ॥ १४५ ॥
परस्पराभावभासा अचिद्भावा हि सर्वथा ।
चिदभानं कदा कुत्र स्याद्राम प्रविचारय ॥ १४६ ॥
यदा चितिर्न भायाद्वै तदा भायात् कथं वद ।
न भायाद्वा कथं भायादभाने यदि तद्द्वयोः ॥ १४७ ॥
राम भायादेव चितिस्तस्मात् सत्यैव सा चितिः ।
राम सत्यासत्यभेदं श्रृणु सङ्क्षेपतो ब्रुवे ॥ १४८ ॥
अन्यानपेक्षभासं स्यात् सत्यमन्यदसत्यकम् ।
अन्यथा रज्जुसर्पाद्यमपि सत्यं भवेन्ननु ॥ १४९ ॥
बाधो ह्यभावविज्ञानं तद्भावेऽपि हि सम्भवेत् ।
अभावे भावविज्ञानमपि सम्भवति स्फुटम् ॥ १५० ॥

तब होता है जब उसे उसका बोध नहीं होता । चिति का अभाव तो कभी नहीं होता और अभाव तो अचेतन दृश्य पदार्थों का ही होता है, क्योंकि उनमें अनेकता झलकती है ॥ १४४–१४५ ॥

दुनिया की हर वस्तु बिलकुल एक-दूसरे के अभाव में ही दीख पड़ती है । किन्तु परशुराम ! विचार तो करो—भला चेतन का अभाव कब और कहाँ हो सकता है ? ॥ १४६ ॥

विशेष – परस्परावभास कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे 'कार' और 'स्कूटर' दोनों दो वस्तु है । इनका बोध परस्पर एक-दूसरे के अभाव में ही होता है । अर्थात् कार के अभाव में स्कूटर का और स्कूटर के अभाव में ही कार का बोध होता है । एक के अवलोकन में दूसरे के अवलोकन का अभाव रहता ही है ।

जब चेतन का ज्ञान नहीं होगा तब उस काल का भी बोध कैसे होगा ? यदि कहो, 'नहीं बोध होगा' तो उस काल और चेतन दोनों अबोध का ज्ञान भी कैसे होगा ? ॥ १४७ ॥

अतः हे परशुराम ! चेतन तो चमकता ही रहता है, इसलिए वही सच है । राम ! सच और झूठ का भेद मैं तुम्हें संक्षेप में समझाता हूँ ॥ १४८ ॥

जो दूसरे की अपेक्षा किये बिना स्वयं प्रकाशित हो, वही सच है, बाकी सब झूठ । नहीं तो रस्सी में कल्पित साँप को भी सच मानना पड़ेगा ॥ १४९ ॥

विशेष – यदि सच और झूठ का ऐसा लक्षण न कर यह मानें कि जिसका बाध या अभाव हो जाय वह झूठ और जिसका बाध या अभाव न हो वह सच; तो बोध के समय में तो रस्सी में मनगढन्त साँप का भी न अभाव होता है और न बाध, अतः इसे भी तो सच ही मानना होगा ? अतः सबसे निर्दोष लक्षण ऊपर कथित ही हो सकता है ।

ततो न बाधितं सत्यमसत्यं बाधितं भवेत्।
इति पक्षो न युक्तः स्यात् सर्वथा व्यभिचारतः ॥ १५१ ॥
चितोऽभाने न किञ्चित् स्यान्न स्यात्तदपि सर्वथा।
तस्माद्यश्चिन्न भातीति वदेत् तार्किकसत्खरः ॥ १५२ ॥
स ब्रूयान्नाहमस्मीति तत्र केन किमुच्यते।
यस्यात्मनि स्यात् सन्देहो भानाभावेन सर्वदा ॥ १५३ ॥
सोऽन्येषां नाशयेन्मोहं निपुणैस्तर्कगुम्फनैः।
तदा गण्डशिलाप्येषाऽप्यन्यमोहं विनाशयेत् ॥ १५४ ॥
तस्मादर्थक्रियाभासमात्रेण न हि सत्यता।
सर्वमेव हि विज्ञानं भ्रान्तिरेव न संशयः ॥ १५५ ॥
अपरेयं महाभ्रान्तिस्तेष्वभ्रान्तत्वनिश्चयः।
यथा हि बाधविज्ञानात् पूर्वं भ्रान्तिर्भवेत्तथा ॥ १५६ ॥
सर्वजागृतविज्ञानमभ्रान्तिरिव हि स्थितम्।

अभाव की अनुभूति को 'बाध' कहते हैं। बाध की अनुभूति 'भाव' और 'अभाव' दोनों की स्थिति में हो सकती है। अभाव में भी साफ तौर पर भावरूप की अनुभूति हो जाती है ॥ १५० ॥

विशेष—बहुधा ऐसा देखा जाता है कि जो वस्तु मौजूद है उसके न होने की भ्रान्ति हो जाती है और जो नहीं है उसके होने का बोध होता है। अतः यह पक्ष निर्विवाद नहीं है।

अतः यह कहना "जो बाधित नहीं है वह सच है और जो बाधित है वह झूठ है" यह पक्ष बिलकुल ठीक नहीं है, क्योंकि इसका व्यभिचार भी देखा जाता है ॥ १५१ ॥

यदि चेतन का ज्ञान न हो तब तो कुछ भी नहीं रहेगा। यहाँ तक कि 'कुछ नहीं है' का भी ज्ञान नहीं होगा। अतः तार्किक मूर्ख का ही ऐसा कथन होगा कि चेतन प्रकाशित नहीं होता है। यह कहना तो मानो ऐसा है जैसे कोई कहे 'मैं नहीं हूँ'। ऐसी स्थिति में कौन क्या कह रहा है? इसका ज्ञान भी आवश्यक है ॥ १५२½ ॥

अतः जिसे बोध नहीं होने के कारण हमेशा अपने अस्तित्व में ही सन्देह हो, वह तो अपने कुशल तर्क से निश्चय ही दूसरे के अज्ञान को नष्ट कर देगा? अर्थात् कभी नहीं। ऐसे कुतार्किक से अगर अज्ञान नष्ट हो तो पत्थर से भी अज्ञान नष्ट हो सकता है ॥ १५३–१५४ ॥

अतः जिसमें काम करने की क्षमता प्रतीत हो, उसकी 'सच्चाई' इतने से ही सिद्ध नहीं हो जाती। इसमें सन्देह नहीं कि इस तरह के सभी ज्ञान 'भ्रमपूर्ण' हैं तथा उन्हें भ्रम नहीं मानना—यह दूसरी बहुत बड़ी भूल है ॥ १५५½ ॥

इस तरह कोई भी भ्रान्ति उसका बाध अनुभव होने के पहले सच ही मालूम पड़ती है। उसी प्रकार जगे रहने के समय का सारा ज्ञान सच जैसे लगता है ॥ १५६½ ॥

यथा च रजतज्ञानं शुक्तिज्ञानाद् भ्रमात्मकम् ॥ १५७ ॥
एवं चिदात्मविज्ञानात् सर्वं ज्ञानं भ्रमात्मकम् ।
नभोनीलभ्रमः सर्वसमानो भासते तथा ॥ १५८ ॥
जागतो भ्रम एष स्यात् सर्वेषां दोषहेतुतः ।
अभ्रान्तिशुद्धविज्ञानं यच्चिदात्मतया स्थितम् ॥ १५९ ॥
एवमेतत्त्वया पृष्टं प्रोक्तं युक्त्यनुसङ्गतम् ।
सन्देहमत्र सन्त्यज्य राम प्रोक्तं विनिश्चिनु ॥ १६० ॥
कथं मुक्ते व्यवहृतिरिति पृष्टं पुरा तु यत् ।
तत्ते प्रवक्ष्यामि राम शृणु सम्यक् समाहितः ॥ १६१ ॥
मुक्ता हि ज्ञानिनो लोके ह्युत्तमाधममध्यमाः ।
प्रारब्धोपनतैर्भोगैः खिद्यमानाः क्षणे क्षणे ॥ १६२ ॥
स्वरूपज्ञास्तु ये राम ते मन्दज्ञानिनः स्मृताः ।
ये तु प्रारब्धसम्प्राप्तान् भुञ्जाना अपि नो विदुः ॥ १६३ ॥
मधुक्षीबा रसमिव मध्यास्ते ज्ञानिनः स्मृताः ।

लेकिन जैसे सीपी की जानकारी मिल जाने पर उसे चाँदी समझना गलत मालूम पड़ता है, उसी तरह चेतन आत्मा का ज्ञान होने पर अन्य सभी चीजें भ्रमात्मक प्रतीत होती हैं ॥ १५७½ ॥

'आकाश का रंग नीला है' यह भ्रम जैसे सबको समान रूप से होता है, ठीक उसी तरह मिथ्याज्ञान की वजह से जाग्रत् काल का भ्रम सबको समान रूप से होता है। भ्रमरहित तो केवल विशुद्ध ज्ञान ही है, जो चेतन आत्मा के रूप में मौजूद है ॥ १५८–१५९ ॥

परशुराम ! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर इस तरह दे दिया है। ये उत्तर युक्तिपूर्वक दिये गये हैं। इसके बारे में अब तुम संदेह छोड़कर जैसा कहा गया है वैसा ही निश्चय करो ॥ १६० ॥

तुमने पहले भी पूछा था कि मुक्ति मिल जाने पर भी व्यवहार कैसे होता है? (पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ में) इसका उत्तर देता हूँ, सावधान होकर सुनो ॥१६१॥

संसार से मुक्त ज्ञानी पुरुष तीन तरह के होते है—उत्तम, मध्यम और अधम। अपनी किस्मत से मिले दुनियाई सुख भोगने में हर पल दुःखी होते रहते हैं, किन्तु जिन्हें अपने स्वरूप का सही ज्ञान होता है, वे अधम कोटि के ज्ञानी माने जाते हैं ॥ १६२½ ॥

जिन्हें नसीब से मिले सांसारिक सुखों को भोगते हुए भी, नशे में चूर एक शराबी की तरह निरन्तर समाहित रहने की वजह से उन भोगों का कुछ पता नहीं चलता, ऐसे पुरुष मध्यम कोटि के ज्ञानी माने गये हैं ॥ १६३½ ॥

ये तु प्रारब्धकोटीनां फलैरपि विचित्रितैः ॥ १६४ ॥
न स्वस्थितेः प्रच्यवन्ते नोद्विजन्त्यापदां गणैः ।
न विस्मयन्ति चाश्चर्यैर्न हृष्यन्ति महासुखैः ॥ १६५ ॥
अन्तःशान्ता बहिर्लोकसमास्ते ज्ञानिषूत्तमाः ।
एवं बुद्धिविभेदेन ज्ञानपाकविभेदतः ॥ १६६ ॥
प्रारब्धशेषमाहात्म्याद्व्यवहारा विचित्रिताः ।
मधुमत्तादिवत्तेषां व्यवहारोऽपि सम्भवेत् ॥ १६७ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डेऽष्टादशोऽध्यायः ।

करोड़ों जन्म के अर्जित तकदीर से फलभोग मिलने के बावजूद जिनका इनमें मन नहीं रमता, जो अपने वास्तविक स्वरूप से विचलित नहीं होते, अनेक विपत्तियों से घिरकर भी जो दुःखी नहीं होते, बड़े-बड़े आश्चर्यों से भी जिन्हें विस्मय नहीं होता और महान् सुख पाकर भी जिन्हें खुशी नहीं होती; इस तरह भीतर से शान्त और बाहर से सामान्य लगने वाले व्यक्ति ज्ञानियों में उत्तम माने गये हैं ॥१६४–१६५½॥

इस तरह बुद्धि के भेद से, परिपक्व ज्ञान के भेद से और बची किस्मत के प्रभाव से ज्ञानियों के व्यवहार अलग-अलग ढंग के होते हैं। फिर भी एक शराबी की तरह भी उनका व्यवहार अवश्य हो सकता है ॥ १६६–१६७ ॥

अठारहवां अध्याय समाप्त ।

एकोनविंशोऽध्यायः

इति दत्तात्रेयमुखाच्छ्रुत्वा भार्गवनन्दनः ।
भूयः पप्रच्छ मुक्तानां व्यवहारक्रमं क्रमात् ॥ १ ॥
भगवन् भूय एतन्मे विस्तरेण निरूपय ।
यथा बुद्धिविभेदेन ज्ञानपाकविचित्रता ॥ २ ॥
ज्ञानन्त्वेकविधं स्वात्ममात्रभानात्मकं ननु ।
उपेयश्च तदेव स्याद् यन्मोक्षस्तत्प्रथात्मकः ॥ ३ ॥
तत् कथं बुद्धिभेदेन पाकभेदसमाश्रयम् ।
साधनान्यपि भिद्यन्तेऽथवा नेति तदीरय ॥ ४ ॥
इति पृष्टः पुनस्तेन दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
विस्तरेण तमेवार्थं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ ५ ॥
श्रृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।
साधने न विभेदोऽस्ति ज्ञानं न चित्रसाधनम् ॥ ६ ॥
तारतम्यात् साधनानां फलप्राप्तिर्विभेदिता ।
पूर्णे तु साधने ज्ञानमनायासेन सिद्ध्यति ॥ ७ ॥
अपूर्त्तितारतम्येन त्वयासापेक्षणाद्भवेत् ।

(ज्ञानियों की स्थितियों के भेद)

श्रीदत्तात्रेय के मुँह से इतनी सारी बातें सुनने के बाद भृगुपुत्र परशुराम ने उनसे जीवन्मुक्त पुरुषों के व्यवहार के बारे में फिर प्रश्न किया ॥ १ ॥

भगवन् ! आप कृपापूर्वक यह बात मुझे विस्तारपूर्वक फिर समझा दें कि बुद्धि-भेद के कारण ज्ञानियों के ज्ञान की परिपक्वता में अन्तर कैसे होता है ? ॥ २ ॥

यह तो निश्चित है कि सिर्फ अपनी आत्मा की झलक का बोध तो सबको समान रूप से ही होता है और इस बोध का परिणाम जो मुक्ति है, वही सबका लक्ष्य भी है ॥३॥

फिर व्यक्तिगत बुद्धि के भेद से उसकी परिपक्वता में अन्तर क्यों है ? क्या इनके साधनों में भी कोई अन्तर होता है ? कृपया ये सारी बातें समझा दें ॥ ४ ॥

दयालु दत्तात्रेय ने परशुराम की सारी बातें सुनकर विस्तारपूर्वक फिर से समझाना शुरू कर दिया ॥ ५ ॥

परशुराम ! यह रहस्य बड़ा ही उत्कृष्ट है, मैं तुम्हें समझाता हूँ, सुनो । ज्ञान के साधनों में कोई अन्तर नहीं होता, अनेक साधनों वाला यह है ही नहीं ॥ ६ ॥

किन्तु साधनों की कमी या बेशी की वजह से उनके फल पाने में अन्तर तो रहता ही है । साधन की पूर्णता होने पर तो ज्ञान सहज ही मिल जाता है और अधूरा रहने पर उसकी कमी-बेशी के अनुसार प्रयास करने की जरूरत होती है ॥७½॥

वस्तुतः साधनं किञ्चिज्ज्ञानेनैवोपयुज्यते ॥ ८ ॥
ज्ञानं क्वचिन्नैव साध्यं सिद्धत्वात्तु स्वभावतः ।
चैतन्यमेव विज्ञानं तत् सदा स्वप्रकाशकम् ॥ ९ ॥
तत्र का साधनापेक्षा नित्याभानस्वरूपके ।
चैतन्यं निहितं चित्तकरण्डेऽतिसुनिर्मले ॥ १० ॥
अनन्तवासनापङ्कमग्नं नैवोपलक्ष्यते ।
निरोधसलिलैः सम्यग् वासनापङ्कमार्जने ॥ ११ ॥
विचारशितयन्त्रेण यत्नाच्चित्तकरण्डके ।
चिरात् सङ्कुटिते राम सुयुक्त्योद्घाटिते ततः ॥ १२ ॥
भासमानं तु मणिवच्चैतन्यमुपलभ्यते ।
राम तस्माद् वासनानां निरासे साधनं स्मृतम् ॥ १३ ॥
वासनाल्प्याधिक्यभावाद् बुद्धिस्तु विविधा भवेत् ।
यस्य यावद् वासनौघो बुद्धिमाच्छाद्य संस्थितः ॥ १४ ॥
साधनापेक्षणं तस्य तावदेव भृगूद्वह ।
वासना विविधाः प्रोक्तास्तत्र मुख्या वदामि ते ॥ १५ ॥
अपराधकर्मकामभेदेन त्रिविधा हि सा ।

वास्तव में ज्ञान पाने के लिए किसी साधन की कोई जरूरत ही नहीं होती है। क्योंकि ज्ञान स्वभाव से सिद्ध होने के कारण किसी साधन से मिलने वाला है ही नहीं ॥ ८½ ॥

चेतन आत्मा ही तो ज्ञान है, वही परमात्मा है। अतः उसे पाने के लिए किसी साधन की कोई जरूरत नहीं है ॥ ९½ ॥

वह चेतन आत्मा चित्तरूपी स्फटिक मणि की साफ-सुथरी पिटारी में रखी है। किन्तु अनन्त वासनाओं के कीचड़ में फँसी रहने के कारण दिखायी नहीं देती ॥ १०½ ॥

अतः निरुद्ध मन को पानी बनाकर उससे वासना के कीचड़ को धोना पड़ता है। यह मन की पिटारी बहुत दिनों से बन्द पड़ी है। इसका ताला बढ़िया ताली से बड़ी कुशलता से खोलना पड़ता है। तब यह चेतन आत्मा खरादी गयी मणि की तरह चमकने लगती हैं। अतः परशुराम ! साधनों का उपयोग तो वासनाओं से छुटकारा दिलाने के लिए ही माना गया है ॥ ११–१३ ॥

बुद्धि की अनेकता का कारण वासनाओं की कमी या बेशी ही है। जिसकी बुद्धि जितनी अधिक कामनाओं से ढकी है; उसको उतने ज्यादे साधन की जरूरत होती है ॥ १४½ ॥

वासना अनेक तरह की बतलायी गयी हैं। उनमें मुख्यतः निम्नलिखित तीन हैं—अपराधवासना, कर्मवासना और कामवासना ॥ १५½ ॥

अश्रद्धैवापराधः स्यान्मुख्यः स्वात्मविनाशनः ॥ १६ ॥
विपरीतग्रहश्चापि ह्यपराधस्तु पौरुषः ।
प्रायः कलासु कुशला अपराधवशान्ननु ॥ १७ ॥
सत्सङ्गशास्त्रयोगैश्च परं तत्त्वं हि नो विदुः ।
निर्विशेषं परं तत्त्वं नास्ति नैव च सम्भवेत् ॥ १८ ॥
अस्ति तन्नैव विज्ञातुं शक्यते केनचित् क्वचित् ।
ज्ञात्वापि परमं तत्त्वं नैव तत्त्वं परं भवेत् ॥ १९ ॥
एतज्ज्ञानात् कथं मोक्ष इत्यादि बहुधा स्थितः ।
विपरीतग्रहो वापि चैतत्संशय एव वा ॥ २० ॥
अपराधः पौरुषस्तु वासनाद्या प्रकीर्त्तिता ।
शास्त्रविद्यासु कुशलाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ २१ ॥
अनया विहता राम संसृतिं समुपागताः ।
पुरा दुष्कृतसंस्कारवशाद् बुद्धौ तु यत् स्थितम् ॥ २२ ॥
मालिन्यमुपदेशस्य ग्रहणप्रतिबन्धकम् ।
येनाचार्यैः सम्यगुक्तमपि नो गृह्यते खलु ॥ २३ ॥
सा कर्मवासना प्रोक्ता दुर्जेयापि निरोधतः ।
कामः कर्त्तव्यशेषः स्यादनन्तो बहुशाखकः ॥ २४ ॥

वेदशास्त्रों में श्रद्धा न होना अपने-आपको विनष्ट करनेवाला प्रमुख अपराध है। आत्मा के सम्बन्ध में विपरीत धारणा दूसरा अपराध है ॥ १६½ ॥

अनेक कलाओं में कुशल व्यक्ति भी इन अपराधों के कारण सन्तसमागम और शास्त्रावलोकन का मौका पाकर भी उस परमतत्त्व को जान नहीं पाते ॥ १७½ ॥

कोई ऐसा परमात्मा या मूलतत्त्व, जिससे सम्पूर्ण विश्व का विकास हुआ है, है ही नहीं और न तो उसका होना ही सम्भव है। यदि ऐसा तत्त्व हो भी तब भी किसी को उसका कभी बोध हो ही नहीं सकता। यदि वह किसी की जानकारी में आ भी जाय तो मन में सन्देह होने लगता है कि यह परमतत्त्व कैसे हो सकता है? इस संदिग्ध परमतत्त्व से मुक्ति कैसे मिलेगी? इस तरह अनेक विरुद्ध विचार इसमें रहता है या इसी को संशय भी कहते हैं ॥ १८–२० ॥

यह पुरुष अर्थात् आत्मा सम्बन्धी अपराध पहली वासना है। परशुराम! इसी वासना के मारे सैकड़ों-हजारों लोग शास्त्रविशेषज्ञ होने के बावजूद संसार-चक्र में पड़े रहते हैं ॥ २१ ॥

जन्म-जमान्तर में किये गये बुरे कामों का मन पर पड़े प्रभावों से बुद्धि में जो मलिनता आ जाती है, उसी की वजह से अच्छे उपदेश भी गले के नीचे नहीं उतरते। अच्छे-से-अच्छे गुरु के समझाने पर भी बात समझ में नहीं आती। यही कर्मवासना है। निरुद्ध मन से भी इसे जीतना कठिन है ॥ २२–२३½ ॥

रामाम्भोधौ तरङ्गाणां सङ्ख्यां कुर्याद्धि कश्चन ।
पार्थिवानामणूनां वा तथा तारागणस्य वा ।। २५ ।।
एकस्यापि हि कामानां सङ्ख्यातुं नैव शक्यते ।
इयं राम तृतीया ते सम्प्रोक्ता कामवासना ।। २६ ।।
आकाशादपि विस्तीर्णा ह्यचला भूधरादपि ।
आशापिशाची प्रोक्तेयं राम या कामवासना ।। २७ ।।
अनयैव हि सर्वोऽयं लोक उन्मत्तवत् स्थितः ।
येन दन्दह्यमानोऽयं लोक आक्रन्दते तदा ।। २८ ।।
केऽपि लोके धन्यतमा महामन्त्रसमाश्रयात् ।
विनिर्मुक्तास्तया भान्ति नराः सर्वाङ्गशीतलाः ।। २९ ।।
एताभिस्तिसृभी राम वासनाभिर्यतो मनः ।
समाक्रान्तमतो नूनं तत्तत्त्वं नावभासते ।। ३० ।।
अतः सर्वसाधनस्य वासनानाशनं फलम् ।
तत्राद्या ह्यपराधत्वनिश्चयाद्विनिवर्त्तते ।। ३१ ।।
द्वितीया जन्मनैकेन निवर्त्तेतापि जन्मभिः ।
ऐश्वरेण प्रसादेन नान्यथा कोटियुक्तिभिः ।। ३२ ।।

'मेरा यह फर्ज है' इसे पूरा करना मेरा काम है, ऐसा सोचना ही 'कामवासना' है। ऐसे संकल्प अर्थात् अनुचिंतन का न कोई ओर है न छोर, इसकी अनेक शाखाएँ हैं। परशुराम ! कोई आदमी सागर की लहरों को गिन सकता है, आकाश के तारे की भी गिनती कर सकता है, बालू के कण भी गिने जा सकते हैं; किन्तु किसी एक आदमी की कामवासना की गिनती असम्भव है। मैंने 'कामवासना' तुम्हें समझा दी है ।। २४–२६ ।।

हे परशुराम ! यह कामवासना आशापिशाचिनी है। इसका फैलाव आकाश से भी ज्यादे है, पहाड़ से भी अधिक यह अडिग है ।। २७ ।।

इसी कामवासना की वजह से यह सारी दुनिया पगला रही है। इसी में जलकर चीख रही है ।। २८ ।।

इस संसार में कोई बिरले ही बड़भागी लोग हैं, जो इस दुनिया के जंजाल से हटकर विरक्ति महामन्त्र का सहारा लेकर इससे छुटकारा पाते हैं और जिनका सारा बदन शान्त होकर सुशोभित होते हैं ।। २९ ।।

परशुराम ! मानव-मन इन तीन वासनाओं से घिरा रहता है, इसी से वह आत्मा सामने नहीं झलकती है ।। ३० ।।

अतः इस सन्दर्भ के जितने भी साधन हैं, उनका फल इन वासनाओं का विनाश करना ही है। इनमें पहली वासना तो अश्रद्धा में अपराधबोध के निश्चय से ही मिट जाती है ।। ३१ ।।

तृतीया विनिवर्त्तेत वैराग्यादिसुसाधनैः ।
दोषदृष्ट्यैव वैराग्यं भवेन्नैवाऽन्यथा क्वचित् ।। ३३ ।।
प्रोक्तानां वासनानां वै स्वल्पानल्पविभेदतः ।
तस्याश्चाल्पानल्पभावापेक्षा भवति भार्गव ।। ३४ ।।
तत्राद्यं सर्वमूलं स्यान्मुमुक्षुत्वं न चेतरत् ।
मुमुक्षामन्तरा यत्तु श्रवणं मननादिकम् ।। ३५ ।।
न मुख्यफलसंयुक्तं केवलं शिल्पवद्भवेत् ।
न शिल्पज्ञानमात्रेण प्राप्यते परमं पदम् ।। ३६ ।।
मुमुक्षामन्तरा यैस्तु श्रुतं सम्यग् विचारितम् ।
शवालङ्कारवत् सर्वं तेषां व्यर्थं भवेत् खलु ।। ३७ ।।
व्यर्था सापि भवेन्मन्दा मुमुक्षा राम सर्वथा ।
यथा फलश्रुतेरिच्छा सामान्या न फलावहा ।। ३८ ।।
फलश्रुत्युत्तरोद्भूता नेच्छा कर्मफलावहा ।
फलश्रुत्या कस्य नाम न स्यात् सा जीवद्धर्मिणः ।। ३९ ।।
तस्मादापातरूपाया मुमुक्षाया न वै फलम् ।
यथा मुमुक्षा तीव्रा स्यात्तथा तस्याचिरं फलम् ।। ४० ।।

दूसरी है कर्मवासना । यह वासना एक या अनेक जन्मों में परमात्मा की असीम अनुकम्पा से ही छूट सकती है । अन्यथा करोड़ों उपाय से भी मुक्ति नहीं मिल सकती है ।। ३२ ।।

तीसरी है कामवासना । यह वासना वैराग्य से दूर हो सकती है । दुनियादारी में दोषदृष्टि से ही वैराग्य होता है; अन्यथा बिलकुल नहीं ।। ३३ ।।

परशुराम ! ऊपरवर्णित वासनाओं की कमी या बेशी के अनुसार उससे छुटकारा पाने के लिए कम या ज्यादे भावना की अपेक्षा होती है ।। ३४ ।।

इनमें भी सबकी जड़ और पहली वजह मुक्ति पाने की इच्छा है और कुछ नहीं । मोक्ष की इच्छा के बिना श्रवण-मनन का प्रमुख फल तत्त्वज्ञान नहीं मिलता । वे सिर्फ कला मात्र रह जाते हैं और सिर्फ कलाज्ञान से आत्मा की उपलब्धि नहीं हो सकती ।। ३५–३६ ।।

मुक्ति की इच्छा किये बिना जो कोई श्रवण या अनुचिन्तन करता है, वह केवल मुर्दे के सिंगार की तरह उनके लिए बेकार ही होता है ।। ३७ ।।

परशुराम ! मुक्ति पाने का इरादा भी अगर पक्का नहीं है तो भी उनका सारा प्रयास भी बेकार ही होता है । फल सुनकर फल पाने की ललक से जैसे फल नहीं मिल जाता ठीक उसी तरह ।। ३८ ।।

फल सुनने के बाद फल पाने की ललक से कर्म का फल तो नहीं मिल जाता । ऐसा कौन आदमी है जिसे फल सुनकर उसे पाने की इच्छा न हो ।। ३९ ।।

मुमुक्षा या मुख्यतमा सा साधनगणेष्वलम् ।
प्रवृत्तिमुत्पादयेद्वै सा हि तत्परतोच्यते ॥ ४१ ॥
यथा सुदग्धसर्वाङ्गो न शीतान्यदपेक्षते ।
तथा यदा विमुक्त्यन्यन्नापेक्षेत हि सर्वथा ॥ ४२ ॥
सा मुमुक्षा भवेत् तीव्रा समर्था फलसाधने ।
एषा विमुक्तेरन्यत्र दोषदृष्टचैव जायते ॥ ४३ ॥
तीव्रवैराग्यमुखतः क्रमेण तीव्रतामियात् ।
दोषदृष्टचा हि वैराग्यं विषयप्रीतिनाशनम् ॥ ४४ ॥
वैराग्येण मुमुक्षुत्वं तीव्रं तत्परतोदयम् ।
तत्परत्वं साधनेषु प्रवृत्तिरतितीव्रता ॥ ४५ ॥
अतितीव्रप्रवृत्त्यैव द्रुतं फलमवाप्नुयात् ।
इति दत्तात्रेयवचो निशम्य भार्गवः पुनः ॥ ४६ ॥
पप्रच्छ सन्दिग्धमनाः संशयं सुमहत्तरम् ।
भगवन् भवता प्रोक्तं सत्सङ्गो मूलकारणम् ॥ ४७ ॥
ईश्वरानुग्रहश्चापि दोषदृष्टिरपीति च ।
किमादिकारणं मुख्यं तत्प्राप्तिर्वा कथं भवेत् ॥ ४८ ॥

अतः किसी कारण-विशेष से अचानक मुक्ति पाने की जो इच्छा जगती है, उस इच्छा का कोई फल नहीं मिलता। मुमुक्षा जितनी तेज होगी, उतनी जल्दी उसका फल मिलेगा ॥ ४० ॥

संसार से छुटकारा पाने का पक्का इरादा अकेले ही सभी साधनों में अभिरुचि उत्पन्न कर देता है। इसी को तत्परता अर्थात् होशियारी भी कहते हैं ॥ ४१ ॥

जिस आदमी के अंग-प्रत्यंग में जलन हो रही हो, वह व्यक्ति ठंड के सिवा और किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता; ठीक उसी तरह जब तीव्र मुमुक्षा होती है और उसमें इसके सिवा और कोई इच्छा शेष नहीं रह जाती है, तब वही इच्छा मुक्तिरूपी फल दिलाने में समर्थ होती है। मुक्ति पाने की ऐसी तीव्र इच्छा तभी जगती है, जब मुक्ति के अलावा हर चीज में दोषदृष्टि उत्पन्न होती है ॥ ४२-४३ ॥

बेहद विरक्ति से ही मुक्ति में अनुरक्ति उसी क्रम में बढ़ती है। विषयों में दोष-दृष्टि से ही उनमें आसक्ति मिटानेवाली विरक्ति पैदा होती है ॥ ४४ ॥

विरक्ति से मुक्ति पाने के लिए मन में ललक पैदा होती है। साधनों की ओर मन का तीव्र झुकाव ही तत्परता है। इसे पाने की जितनी ज्यादा मुस्तैदी होगी, उतनी जल्दी फल मिलेगा ॥ ४५½ ॥

गुरु दत्तात्रेय की इन बातों को सुनकर परशुराम के मन में सन्देह उत्पन्न हो गया। उन्होंने पुनः अपना संशय उनके सामने रखते हुए पूछा-- ॥ ४६½ ॥

गुरुदेव ! इसे पाने का मूल कारण पहले आपने 'सत्संग' बतलाया। फिर ईश्वर

न हि निष्कारणं किञ्चिद् भवेदिति हि निश्चयः ।
तत् कथं स्याद्विना हेतोरेतन्मे वद विस्तरात् ॥ ४९ ॥
इति पृष्टः प्राह रामं दत्तात्रेयो दयानिधिः ।
भार्गव शृणु ते वक्ष्ये श्रेयसः परमोद्भवम् ॥ ५० ॥
परा सा या चितिर्देवी स्वस्वातन्त्र्यस्य वैभवात् ।
स्वात्मन्येव जगच्चित्रं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ५१ ॥
सैव हैरण्यगर्भाख्यां तनुमास्थाय वै परा ।
अनाद्यज्ञानसञ्छन्नजीवानां हितकाम्यया ॥ ५२ ॥
उन्मेषयदागमाब्धि सर्वकामप्रपूरणम् ।
तत्र जीवाः स्वभावेन विचित्रकामवासनाः ॥ ५३ ॥
कथं तेषां शुभं भूयादेवं चिन्तापरायणः ।
असृजत् काम्यकर्माणि फलचित्राणि सर्वशः ॥ ५४ ॥
सदसद्वापि हि जनः करोत्येव स्वभावतः ।
तथा च केनापि कर्मपरिपाकवशेन तु ॥ ५५ ॥
भ्रमन् योनिविभेदेषु मानुष्यमुपसङ्गतः ।
कामनावशतः काम्ये कर्मण्यभिमुखो भवेत् ॥ ५६ ॥
कामनाया विशेषेण यदेश्वरपरो भवेत् ।
तदैश्वराणि शास्त्राणि प्रसङ्गादवलोकयेत् ॥ ५७ ॥

की कृपा और विषयों में दोषदृष्टि कहा । इनमें प्रमुख और पहला कारण कौन है ? इसे पाने की युक्ति क्या है ? क्योंकि इतनी बात निश्चित है कि कोई काम अकारण नहीं होता, तो फिर यह मोक्ष बिना किसी निमित्त के कैसे होगा ? कृपया इसे सविस्तर समझायें ॥ ४७–४९ ॥

परमदयालु दत्तात्रेय ने परशुराम का प्रश्न सुनकर कहा—हे भार्गव ! मैं तुम्हें परम कल्याण का प्रधान साधन समझाता हूँ, सुनो ॥ ५० ॥

वह देवी पराचिति, जो अपनी बेनियाज ताकत से आईने में परछाई की तरह अपने में ही इस दुनिया की तसवीर को झलका देती है; उसी देवी ने 'हिरण्यगर्भ' नामक देह धारण कर अनादि अज्ञान से घिरे जीवों की हितकामना से उनकी सारी अभिलाषाओं को पूरा करनेवाले 'वेदशास्त्र' रूपी समुद्र का निर्माण किया ॥ ५१–५२½ ॥

इस संसार में जीव स्वभाव से ही अनेक तरह की कामनाओं और वासनाओं से घिरे रहते हैं । उनका कल्याण कैसे हो ? यह सोचकर उसने इसमें अनेक काम्यकर्मों का निर्देश किया ॥ ५३–५४ ॥

आदमी स्वभाव से ही अच्छे-बुरे काम करते ही रहते हैं । अनेक योनियों में भटकते हुए किसी शुभकर्म के परिणामस्वरूप मानव-देह पाते हैं । फिर कामना के अधीन होकर अपने मनपसन्द काम में लग जाते हैं ॥ ५५–५६ ॥

काम्यकर्मफलश्रुत्या प्रवृत्तः काम्यकर्मणि ।
विहतस्तत्फलाप्राप्त्या वैगुण्यात् सूक्ष्मकर्मणः ॥ ५८ ॥
कर्त्तव्यजिज्ञासयैव कश्चित् स पुरुषं व्रजेत् ।
तत्प्रसङ्गवशात् क्वापि माहात्म्यं शृणुयात् क्वचित् ॥ ५९ ॥
महेश्वरस्य च ततः प्राक्पुण्यपरिपाकतः ।
तस्य प्रसादने भूयात् प्रवृत्तिरपि भार्गव ॥ ६० ॥
तस्मात् प्राक्पुण्यपाकेन सत्सङ्गमभिगम्य तु ।
प्राप्नोति श्रेयःसोपानपङ्क्तिमत्यन्तदुर्लभाम् ॥ ६१ ॥
प्रायः सत्सङ्गमूलैव श्रेयःप्राप्तिरुदीरिता ।
क्वचिदुत्कृष्टपुण्येन चोत्कृष्टतपसापि वा ॥ ६२ ॥
श्रेयः प्राप्नोति सहसा ह्याकाशफलपातवत् ।
तस्मात् कारणवैचित्र्याच्छ्रेयःप्राप्तिविचित्रता ॥ ६३ ॥
तथा च बुद्धिभेदेन वासनातारतम्यतः ।
साधनानां तारतम्याद्विचित्रा ज्ञानिनां स्थितिः ॥ ६४ ॥
स्वभावाद्यस्य वै बुद्धेर्वासना विरला भवेत् ।
तस्याल्पसाधनेनैव ज्ञानसिद्धिर्भवेदलम् ॥ ६५ ॥

जब किसी खास इच्छा से वह भगवत्परायण होता है, तब प्रसंगवश उसे ईश्वर सम्बन्धी शास्त्र देखना पड़ता है ॥ ५७ ॥

अभिलषित काम का शुभ परिणाम सुनकर इच्छित काम करने में वह प्रवृत्त होता है, पर किसी काम में कमी रह जाने से जब फल पाने में बाधा आ जाती है तब अपने कर्त्तव्य को ठीक से समझने के लिए किसी सत्पुरुष की शरण में जाता है ॥ ५८½ ॥

उस सत्संग के क्रम में जब उसके पहले किये गये पुण्यकर्म का उदय होता है, तब वह उस महापुरुष के मुँह से महेश्वर की महिमा का बखान सुनता है और यह उस महेश्वर की कृपा से ही होता है, अन्यथा नहीं ॥ ५९–६० ॥

अतः पहले किये गये पुण्यकर्म का उदय होने पर सत्संग मिलता है, जहाँ प्राणी को मुक्तिपद की अत्यन्त दुर्लभ सीढ़ी अर्थात् साधन-विधि मिलती है ॥ ६१ ॥

इस तरह 'परमपद' पाने का मूल कारण प्रायः सत्संग ही कहा गया है। कभी किसी को महान् पुण्य अथवा घोर तप के प्रभाव से आकाश से गिरे फल की तरह अचानक भी परमपद मिल जाता है ॥ ६२½ ॥

अतः कारणों की अनेकता होने से कल्याणपद पाने में भी भेद रहता है। इसी तरह बुद्धिभेद, वासनाओं की कमी-बेशी और साधनों के तारतम्य से भी ज्ञानियों की स्थिति अनेक तरह की होती है ॥ ६३–६४ ॥

जिस व्यक्ति की बुद्धि में स्वभाव से वासना की जितनी कमी होगी उतने ही कम साधन से उसे पूरा ज्ञान मिल जाता है ॥ ६५ ॥

यस्य स्वभावात् संशुद्धं वासना न हि लेशतः।
तस्य स्वल्पनिमित्तेन भवेज्ज्ञानं महत्तरम् ॥ ६६ ॥
यस्य स्वभावादत्यन्तवासनानिबिडं मनः।
तस्य ज्ञानं जातमपि समाच्छादितकल्पकम् ॥ ६७ ॥
तेनैव साधितं भूयश्चिरादभ्येति पूर्णताम्।
अत एव ज्ञानिनां तु दृश्यते विविधा स्थितिः ॥ ६८ ॥
चित्तपाकविभेदेन स्थितिभेदो भृगूद्वह।
तस्माद् बुद्धौ वासनाभिस्त्वावृत्तेस्तारतम्यतः ॥ ६९ ॥
ज्ञानं भिन्नं लक्ष्यते हि स्थितिभेदस्तथा भवेत्।
राम पश्य स्थितेर्भेदं ज्ञानिनां तु परस्परम् ॥ ७० ॥
ब्रह्मविष्णुमहेशानां स्वभावज्ञानिनस्तु ते।
तेषां पश्य स्थितेर्भेदं स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ७१ ॥
नैषां ज्ञानस्य मालिन्यं वक्तुं शक्यं कथञ्चन।
स्वभावगुणमाहात्म्यं भिन्नमेव तथापि हि ॥ ७२ ॥
यथा ज्ञानिशरीरं तु गौरं न श्यामतां व्रजेत्।
एवं चित्तस्वभावोऽपि नान्यभावं प्रपद्यते ॥ ७३ ॥

जिस आदमी का मन स्वभाव से ही पवित्र है; जिसके मन में वासना की गंध तक नहीं है; उसे थोड़े प्रयास से भी महान् ज्ञान मिल जाता है ॥ ६६ ॥

जिसके मन पर वासना छायी रहती है, उसे यदि ज्ञान मिल भी जाय तो वह ज्ञान ढका ही रहता है ॥ ६७ ॥

बहुत दिनों तक घोर साधना के बाद तब जाकर कहीं उसका ज्ञान पूरा होता है। इसी से ज्ञानियों की अनेक स्थितियाँ मानी गई हैं ॥ ६८ ॥

परशुराम ! ज्ञानियों की स्थिति का यह भेद मन की पवित्रता की कमी-बेशी के कारण होता है। वासना के अनुसार बुद्धि का आच्छादन कम या ज्यादे होता है। इसी की वजह से ज्ञान के स्तर में भेद देखा जाता है। ज्ञानियों की स्थिति-भेद का भी यही कारण होता है ॥ ६९½ ॥

परशुराम ! ज्ञानियों की पारस्परिक स्थितियों का भेद तो जरा तुम देखो — ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों-के-तीनों स्वभावसिद्ध ज्ञानी हैं। किन्तु देखो, अपने अलग-अलग गुणों के कारण उनकी स्थितियों में कितना स्तरीय भेद है ॥ ७०–७१ ॥

इनके ज्ञान में किसी तरह की मलिनता तो नहीं है, फिर भी स्तरीय भेद तो अलग-अलग गुणों के कारण है ही ॥ ७२ ॥

जैसे किसी ज्ञानी की गोरी देह साँवली तो नहीं होती, उसी तरह उसके मन का स्वभाव भी नहीं बदलता है ॥ ७३ ॥

अस्मान् राम तथा पश्य ज्ञानिनोऽत्रिसुतान् स्थितान् ।
दुर्वाससं चन्द्रमसं माञ्च भिन्नस्थितिं गतम् ॥ ७४ ॥
क्रोधिनं कामिनं त्यक्तसर्वलिङ्गपरिग्रहम् ।
वसिष्ठं पश्य कर्मिष्ठं सनकादींश्च न्यासिनः ॥ ७५ ॥
नारदं भक्तिसंमग्नं कवयन्तञ्च भार्गवम् ।
दैत्यपक्षसंश्रयिणं गुरुं देवसमाश्रयम् ॥ ७६ ॥
वाग्मिनश्च व्यासमपि शास्त्रनिर्माणतत्परम् ।
जनकं पश्य राजानं भरतं त्यागिनं तथा ॥ ७७ ॥
भिन्नस्थितीन् स्वभावेन ज्ञानिनः पश्य चापरान् ।
रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि श्रृणु भार्गवनन्दन ॥ ७८ ॥
विविधा या वासनोक्ता द्वितीया तत्र या भवेत् ।
कर्मजा मूढतारूपा सा सर्वेभ्यो महत्तरा ॥ ७९ ॥
येषां तल्लेशकश्चित्ते नास्ति मेधाविनस्तु ते ।
अपराधविहीनानां तेषां कामादिवासनाः ॥ ८० ॥
अभ्यासेनाविलीनाश्च ज्ञानस्याप्रतिबन्धिकाः ।
ततो वैराग्यादिकं तु न तेषामुपयुज्यते ॥ ८१ ॥
न वा भूयोऽपि मननं समाधिश्चोपयुज्यते ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण मननं ध्यानमेव च ॥ ८२ ॥

परशुराम ! तुम हमें ही देखो । महर्षि अत्रि के दुर्वासा, चन्द्रमा और दत्तात्रेय तीन पुत्र हैं । हम तीनों ज्ञानी हैं, पर तीनों की दशा में काफी अन्तर है ॥ ७४ ॥

दुर्वासा क्रोधी हैं, चन्द्रमा कामी हैं तथा मैं हर तरह की पहचान और परिवार का परित्यागी हूँ । वसिष्ठ को देखो, वे कर्मकाण्डी हैं और सनकादिक संन्यासी हैं ॥ ७५ ॥

नारद भक्ति में डूबे हैं । शुक्राचार्य असुरों के पक्ष में कविता लिखने में लगे रहते हैं । बृहस्पति देवताओं के पक्षधर हैं ॥ ७६ ॥

व्यास वाग्मी, अच्छे वक्ता या कवि हैं तथा शास्त्रनिर्माण में संलग्न रहते हैं । जनकजी को देखा, वे राजा हैं । भरत राज्यत्यागी हैं ॥ ७७ ॥

इसी तरह अलग-अलग हालातवाले अनेक ज्ञानियों को तुम देख सकते हो । परशुराम ! इसका जो रहस्य है, मैं खोलकर तुम्हें समझाता हूँ, सुनो ॥ ७८ ॥

ऊपर मैंने जो तीन तरह की वासनाएँ बतलायी हैं, उनमें दूसरी कर्मवासनाएँ, जिसका स्वरूप मूढ़ता ही है, सबसे बढ़कर है ॥ ७९ ॥

जिनके मन में थोड़ी भी मूढ़ता नहीं है, वे ही मेधावी हैं । उनमें अपराधवासना थोड़ी भी नहीं होती । ऐसी स्थिति में अभ्यास से यदि उनकी कामवासना बिलकुल निवृत्त न भी हो तो भी यह ज्ञान में रुकावट डालनेवाली नहीं रहती ॥ ८०-३ ॥

फिर उन्हें वैराग्य जैसे साधनों की भी विशेष जरूरत नहीं रहती और न बार-

तत्काल ईषत् सम्प्राप्य ज्ञातासन्दिग्धतत्पदाः ।
भवन्ति जीवन्मुक्तास्ते जनकप्रमुखा इव ॥ ८३ ॥
विपरीताभ्यासवशान्नैव तैः क्षपिताः खलु ।
कामादिवासनाः सम्यक् सूक्ष्मा निर्मलबुद्धिभिः ॥ ८४ ॥
अतस्तैस्तत्पदे ज्ञाते चापि पूर्वस्थितास्तु ताः ।
कामादिवासनाः प्राग्वत् प्रवर्त्तन्ते निरन्तरम् ॥ ८५ ॥
न ताभिरीषद्वा बुद्धेस्तेषां लेपो भवेत् क्वचित् ।
विद्वद्भिस्ते हि सम्प्रोक्ता मुक्ताश्च बहुमानसाः ॥ ८६ ॥
राम कर्मवासनाभिरतिमूढं तु यन्मनः ।
तस्य ज्ञानं नैव भवेच्छिवोदितमपि क्वचित् ॥ ८७ ॥
दृढापराधयुक्तानामपि न स्यात् कथञ्चन ।
यस्यापराधरूपापि कर्मरूपापि वासना ॥ ८८ ॥
स्वल्पा कामात्मकाश्चापि बहुलास्तस्य भार्गव ।
बहुलश्रवणैस्तद्वन्मननैश्च समाधिभिः ॥ ८९ ॥
चिरकालेन विज्ञानं बहुक्लेशेन जायते ।
तस्य व्यवहृतिः स्वल्पा तत्राभ्यासप्रकर्षतः ॥ ९० ॥
मनो यदि भवेन्नष्टप्रायं निर्वासनं ततः ।
ज्ञानिनस्त्वीदृशाः प्रोक्ता मध्यमा नष्टमानसाः ॥ ९१ ॥

बार मनन या समाधि की ही अपेक्षा रहती है । एक बार सुन लेने पर ही उसी समय उसका कुछ अनुचिन्तन और निदिध्यासन भी हो जाता है और वे असंदिग्ध रूप से उस परमपद को जान लेते हैं तथा जनकादि जैसे जीवन्मुक्त हो जाते हैं ॥ ८१–८३ ॥

अपनी साफ और बारीक बुद्धि के कारण उन्होंने काम-प्रभृति वासनाओं को उनके विरुद्ध अभ्यास कर उन्हें कमजोर नहीं बनाया ॥ ८४ ॥

अतः उस परमपद को जान लेने पर भी उनमें पहले से मौजूद कामादि वासनाएँ पहले की ही तरह अपना काम लगातार जारी रखती हैं ॥ ८५ ॥

उनकी बुद्धि उन वासनाओं में कभी थोड़ी भी अनुरक्त नहीं होती । ज्ञानीजन उन्हें मुक्त और बहुमानस कहते हैं ॥ ८६ ॥

हे परशुराम ! जिस आदमी का मन कामवासना की वजह से बहुत अधिक मूढ़ हो जाता है, उसे यदि साक्षात् शंकर भी उपदेश दें फिर भी उसे ज्ञान नहीं हो सकता है । इसी तरह जिसकी अपराधवासना काफी मजबूत हो चुकी है, उसे ज्ञान नहीं होता ॥ ८७½ ॥

हे परशुराम ! जिसमें अपराध और कर्मवासनाएँ कम हैं, किन्तु कामवासना ज्यादे है, उसे बड़ी कठिनाई से ज्ञान तो मिल जाता है, परन्तु उसके लिए बहुत दिनों तक उसे श्रवण, मनन और समाधि का लगातार अभ्यास करना पड़ता है ॥ ८८–८९½ ॥

तेषामेव तु केषाञ्चिदभ्यासस्याप्रकर्षतः ।
वासनाविरलं यस्मादनष्टं मानसं भवेत् ॥ ९२ ॥
समनस्कास्तु ते प्रोक्ता मन्दज्ञानयुतास्तु वै ।
केवलज्ञानिनस्त्वेते जीवन्मुक्तास्तथेतरे ॥ ९३ ॥
केवलज्ञानिनो दृष्टदुःखभाजो भवन्ति हि ।
प्रारब्धतन्त्रास्ते प्रोक्ता देहान्ते मुक्तिभागिनः ॥ ९४ ॥
ये नष्टमानसाः प्रोक्तास्तैः प्रारब्धं पराकृतम् ।
मनोभूमौ तु प्रारब्धबीजं भोगाङ्कुरं भवेत् ॥ ९५ ॥
मनोभूमेरभावेन तत् प्रारब्धं तु कालतः ।
कुसूलस्थं बीजमिव विनश्येन्नष्टशक्तिकम् ॥ ९६ ॥
यथात्यन्तसुमेधावी युगपद् दश पञ्च च ।
कार्याणि कुरुते क्वापि भवेदस्खलितोऽपि च ॥ ९७ ॥
भूय एवंविधा दृष्टाः क्रियानैपुण्यसंश्रयाः ।
यथा गच्छन् वदन् कुर्वन् युगपल्लक्ष्यते जनः ॥ ९८ ॥
तत्र चैकेन मनसा कथं स्यात् त्रिविधा क्रिया ।
अध्येतॄणां बहूनाञ्च युगपल्लक्षयेद् गुरुः ॥ ९९ ॥

यह व्यवहार में बहुत कम लाया गया है। लगातार अभ्यास से मन मारकर यह वासनाशून्य बन जाता है। ऐसे ज्ञानी मध्यम कोटि के होते हैं। इन्हें नष्टमानस कहा जाता है ॥ ९०–९१ ॥

अभ्यास की अधिकता नहीं होने के कारण उनमें से कुछ में वासनाएँ बची रह जाती हैं, क्योंकि उनका मन नहीं मरता ॥ ९२ ॥

ऐसे ज्ञानी को 'समनस्क' कहा गया है। ये मन्दज्ञानी होते हैं। ये केवल ज्ञानी हैं। इनसे भिन्न ज्ञानी जीवन्मुक्त कहलाते हैं ॥ ९३ ॥

जो केवल ज्ञानी हैं, उन्हें दृष्ट दुःख भोगना पड़ता है। वे भाग्याधीन होते हैं। उन्हें मरने के बाद ही मुक्ति मिलती है ॥ ९४ ॥

जिन ज्ञानियों का मन मर चुका है, भाग्य उनके अधीन होता है। मन की भूमि पर ही प्रारब्धरूपी बीज से भोगरूपी अंकुर का जन्म होता है। किन्तु इनकी मनरूपी भूमि के अभाव में प्रारब्ध खत्ती में पड़े बीज की तरह कालक्रम से शक्तिहीन होकर स्वतः विनष्ट हो जाते हैं ॥ ९५–९६ ॥

काफी होशियार आदमी जैसे एक साथ दस-पाँच काम करता रहता है और उनमें से किसी में किसी तरह की भूल भी नहीं होती, इसी तरह ज्ञानियों में भी क्रिया-कौशल सम्पन्न अनेक महापुरुष देखे जाते हैं ॥ ९७ ॥

जैसे एक ही आदमी एक साथ चलता, बोलता और हाथों से काम करता देखा जाता है। उसी तरह एक ही मन से एक साथ तीन काम कैसे हो सकते हैं? ॥९८॥

अपभ्रंशानुच्चरितं वर्णभेदव्यवस्थितम् ।
राम यस्ते हतः शत्रुरर्ज्जुनो हैहयाधिपः ।। १०० ।।
सहस्रबाहुर्युगपद् हेतिभिर्बहुभिः पृथक् ।
अयुध्यदस्खलन् क्वापि मेधावी दृष्ट एव ते ।। १०१ ।।
तेषां मनो बहुविधं भूत्वा तत्तत्क्रमानुगम् ।
यथाकार्यं बहुविधं साधयेत् तद्वदेव हि ।। १०२ ।।
उत्तमज्ञानिनामात्मदृष्टिर्बाह्यगतापि च ।
अविरुद्धा सर्वदा स्याद् येषां ते बहुमानसाः ।। १०३ ।।
तत्प्रारब्धं मनोभूमौ भवेदङ्कुरितं पृथक् ।
भवेज्ज्ञानाग्निना दग्धं भूतं भूतं पुनः पुनः ।। १०४ ।।
प्रारब्धबीजाङ्कुरः स्यात् सुखदुःखसमागमः ।
तद्विमर्शः फलं प्रोक्तं कुतो दग्धाङ्कुरे फलम् ।। १०४ ।।
आहृतैरनुसन्धानैस्तेषां व्यवहृतिर्भवेत् ।
यथा प्रौढो हि बालेन सह खेलन् हि दृश्यते ।। १०६ ।।
हृष्टो विषण्णश्च शिलागजादीनां विनाशने ।
एवं हृष्यन्ति सीदन्ति कार्येषु बहुमानसाः ।। १०७ ।।

एक ही अध्यापक वर्ण में अवस्थित अनेक छात्रों की अनुच्चरित एवम् उच्चारण सम्बन्धी भूलों को जैसे एक साथ भाँप लेता है ।। ९९½ ।।

परशुराम ! तुमने अपने दुश्मन हैहयराज सहस्रार्जुन का वध किया है। लड़ाई के मैदान में एक साथ अनेक हथियारों को चलाने में वह काफी माहिर था। इसमें उससे कभी भूल-चूक नहीं होती थी। यह तुमने अपनी आँखों से देखा है ।। १००–१०१ ।।

ऐसे लोगों का मन अनेक रूपों में विभिन्न कार्यों का क्रमानुसार निष्पादन एक साथ कर लेता है। ठीक इसी तरह उत्कृष्ट ज्ञानियों की आत्मदृष्टि में भीतर-बाहर में कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसे ज्ञानियों को 'बहुमानस' कहा गया है ।। १०२–१०३ ।।

उनका अलग-अलग भाग्य जैसे-जैसे उनकी मनोभूमि में अंकुरित होता है, वैसे-ही-वैसे वह ज्ञानरूपी आग में जलकर खाक हो जाता है ।। १०४ ।।

भाग्यरूपी बीज का अंकुर है—जीवन में सुख-दुःख का मिलना और इनका फल है—उस सुख-दुःख पर विचार करना। परन्तु जिसका अंकुर जल गया, उसका फल कैसा ? ।। १०५ ।।

उनका काम स्वभावसिद्ध अनुसंधान से ही चलता है। जैसे कोई समझदार आदमी बच्चों के साथ खेलते समय पत्थर के खिलौने टूट-फूट जाने पर खुश या नाखुश होते हैं, उसी तरह ये बहुमानस ज्ञानी भी व्यावहारिक दुनिया में दुःखी या सुखी देखे जाते हैं ।। १०६–१०७ ।।

यथाऽन्यकार्यसक्तस्य हृर्षोद्वेगौ न चान्तरौ।
एवं तेषां व्यवहृतौ समा सर्वत्र संस्थितिः ॥ १०८ ॥
मेधाविनां ज्ञानिनां तु वासनानाशहेतवे।
विरुद्धवासनाभ्यासनिरोधादेरभावतः ॥ १०९ ॥
अनुवृत्तिर्भवेत् पूर्ववासनाऽनाशहेतुतः।
अतः केचित् कर्मनिष्ठाः कामिनः क्रोधिनोऽपरे ॥ ११० ॥
उत्तमज्ञानिनो भान्ति विविधाचारतत्पराः।
समनस्कस्तत्र यो वै मन्दज्ञानी निरूपितः॥ १११ ॥
तेनापि वेद्यमखिलमसत्यत्वेन निश्चितम्।
स्वरूपवित्तौ नो किञ्चिद्भासते हि समाधिषु ॥ ११२ ॥
समाधिर्वै स्वरूपस्य विमर्शो नान्य उच्यते।
निर्विकल्पस्वरूपं तु सर्वाश्रयतया सदा ॥ ११३ ॥
स्फुरत्येव हि सर्वेषां तदस्फूर्तौ न किञ्चन।
तथा विकल्पविकलं स्फुरेत् प्रोक्तदशासु च ॥ ११४ ॥
तावता न हि सर्वेषां समाधिः स्याद्धि भार्गव।
ये तद्विमर्शसंयुक्ताः स तेषामेव संस्मृतः॥ ११५ ॥

जैसे किसी दूसरे काम में लगे हुए आदमी को ऊपर से ही सुख-दुःख की अनुभूति होती है, भीतर से नहीं; उसी तरह अनेक काम करते समय भी उनकी स्थिति सब जगह समान रहती है ॥ १०८ ॥

ऐसे बुद्धिमान् ज्ञानी अपनी वासनाओं को विनष्ट करने के लिए न तो विरुद्ध वासना का अभ्यास करते हैं और न चित्त का निरोध ही। अतः पूर्ववासनाओं का समूल उच्छेदन होने की वजह से कभी-कभी इन ज्ञानियों में उसकी अनुवृत्ति देखी जाती है। यही कारण है कि इन ज्ञानियों में भी कोई कामी, तो कोई क्रोधी या कर्मसंकुल देखे जाते हैं ॥ १०९-११० ॥

ऊपर समनस्क मन्दज्ञानी का जो उल्लेख आया है, उन्हें भी दृश्यजगत् की असत्यता की निश्चयात्मक अनुभूति तो हो ही जाती है, फिर भी स्वरूपानुसंधान एवं समाधि के समय उन्हें दूसरी कोई वस्तु नहीं दीखती ॥ १११-११२ ॥

यथार्थ में तो स्वरूप का अनुसंधान ही समाधि है और कुछ नहीं। एक निर्विकल्प आत्मा ही हमेशा सबका आधार बनकर चमकती रहती है। उसकी दीप्ति न हो तो कुछ भी नहीं रह सकता। उपर्युक्त अनेक ज्ञानों की अन्तराल अवस्था में वही निर्विकल्प रूप से स्फुरित होता है ॥ ११३-११४ ॥

परशुराम ! किन्तु इतने से ही सबको समाधि की प्राप्ति नहीं हो जाती; जो आत्मानुसंधानपूर्वक अभ्यास करते हैं, उन्हें ही समाधि की प्राप्ति मानी गयी है ॥ ११५ ॥

व्यवहारपरा वित्तिरपि वेद्यविवर्जिता ।
विदितं नाभसं नैल्यं यथा भूयोऽवलोकने ॥ ११६ ॥
असत्यत्वेन विज्ञातं न वित्तिस्तेन संयुता ।
अन्यथा नैव भेदः स्यात् तत्त्वातत्त्वविभासयोः ॥ ११७ ॥
तथाऽसत्यगृहीतस्य वेद्यस्य न हि वेदने ।
सम्बन्धः कुत्र चिद्वा स्याज्ज्ञानिनामत एव हि ॥ ११८ ॥
वेद्यहीना भवेद्वित्तिर्बाधितस्य विभासनात् ।
अमनस्कस्य सुतरां यतः सा चोन्मनी दशा ॥ ११९ ॥
मनो वै निश्चलं यत्र तदुक्तं चोन्मनी दशा ।
मनसश्चलनं तत् स्यात् सत्यवेद्यस्य सङ्गतिः ॥ १२० ॥
उत्तमज्ञानिनश्चैते दशे युगपदास्थिते ।
स सर्वदा व्युत्थितश्च समाधिस्थश्च भार्गव ॥ १२१ ॥
तस्मात्तस्यापि वेद्येन रहिता वित्तिरास्थिता ।
एवमेतद्धि सम्प्रोक्तं पृष्टं यद्यत् पुरा त्वया ॥ १२२ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे ज्ञानिस्थितिविभेदकथनमेकोनविंशोऽध्यायः ।

तत्त्वज्ञ महापुरुषों की दृष्टि में तो व्यवहार के समय भी चेतन चैत्यवर्ग से रहित ही है। जिसे आकाश के नीलेपन की असत्यता का ज्ञान हो गया है, उसे दिखाई देने पर भी वह झूठ ही जान पड़ती है। उसी प्रकार ज्ञानियों की दृष्टि में चेतन दृश्यशून्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञानी और अज्ञानी के दृश्यदर्शन में कोई भेद नहीं रहे ॥ ११६–११७ ॥

दृश्य पदार्थ को असत्य मान लेने पर उसका अनुबोध होने पर भी ज्ञानियों के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसी से बाधित दृश्य का बोध होने पर भी उत्तम ज्ञानियों की दृष्टि में चित् शक्ति हमेशा दृश्यहीन ही है तथा जो अन्यमनस्क ज्ञानी हैं उन्हें तो दृश्य का बोध ही नहीं होगा, क्योंकि उनकी अवस्था ही उन्मनी रहती है ॥ ११८–११९ ॥

उन्मनी दशा में मन का निश्चलीकरण हो जाता है। सत्यरूप से गृहीत दृश्य के साथ जब उसका सम्बन्ध होता है तो वही उसका चलन कहलाता है ॥ १२० ॥

उत्तम ज्ञानी में दोनों अवस्थाएँ एक साथ होती हैं। परशुराम ! यह हमेशा जगी रहती हैं या हमेशा समाधि में लीन रहती हैं ॥ १२१ ॥

अतः उनकी आँखों में चेतन हमेशा चेतनशून्य ही है। इस तरह तुमने पहले जो सवाल उठाया था उसका जवाब तुम्हें मिल गया ॥ १२२ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त ।

विंशोऽध्यायः

अत्र ते वर्त्तयिष्यामि पुरा वृत्तं शृणुष्व तत् ।
पुरा ब्रह्मसभामध्ये सत्यलोकेऽतिपावने ।। १ ।।
ज्ञानप्रसङ्गः समभूत् सूक्ष्मात् सूक्ष्मविमर्शनम् ।
सनकाद्या वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।। २ ।।
भृगुरत्रिरङ्गिराश्च प्रचेता नारदस्तथा ।
च्यवनो वामदेवश्च विश्वामित्रोऽथ गौतमः ।। ३ ।।
शुक्रः पराशरो व्यासः कण्वः काश्यप एव च ।
दक्षः सुमन्तुः शङ्खश्च लिखितो देवलोऽपि च ।। ४ ।।
एवमन्ये ऋषिगणा राजर्षिप्रवरा अपि ।
सर्वे समुदितास्तत्र ब्रह्मसत्रे महत्तरे ।। ५ ।।
मीमांसां चक्रुरत्युच्चैः सूक्ष्मात् सूक्ष्मनिरूपणैः ।
ब्रह्माणं तत्र पप्रच्छुर्ऋषयः सर्व एव ते ।। ६ ।।
भगवन् ज्ञानिनो लोके वयं ज्ञातपरावराः ।
तेषां नो विविधा भाति स्थितिः प्रकृतिभेदतः ।। ७ ।।
केचित् सदा समाधिस्थाः केचिन्मीमांसने रताः ।
अपरे भक्तिनिर्मग्नाश्चान्ये कर्मसमाश्रयाः ।। ८ ।।

(श्रीत्रिपुरादेवी का प्रकट होकर उपदेश देना)

श्रीदत्तात्रेय ने कहा—अब मैं तुम्हें एक पुरानी कहानी सुनाता हूँ, सुनो। पहले की बात है—एक बार परमपवित्र ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की सभा में ज्ञान की चर्चा चली। उसमें बारीक-से-बारीक विचार किया गया ।। १½ ।।

उस महती ज्ञानगोष्ठी में सनकादि, वसिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अत्रि, अंगिरा, प्रचेता, नारद, च्यवन, वामदेव, विश्वामित्र, गौतम, शुक्राचार्य, पराशर, व्यास, कण्व, कश्यप, दक्ष, सुमन्तु, शंख, लिखित, देवल और अनेक महर्षि तथा राजर्षि-गण सम्मिलित हुए। ज्ञान का गहन प्रतिपादन करते हुए गम्भीर मीमांसा करने लगे। इसके बाद उन्होंने ब्रह्मा से पूछा—।। २–६ ।।

भगवन् ! संसार में हम लोग ज्ञानी माने जाते हैं। कार्य और कारण सब तत्त्वों को हम जाननेवाले हैं, किन्तु अलग-अलग स्वभाव के कारण हमारी स्थितियाँ भिन्न हैं ।। ७ ।।

हममें से कुछ तो समाधि में लीन रहते हैं, कुछ विचार में लगे रहते हैं, कुछ भक्तिभाव में लगे रहते हैं और कुछ कर्म में निष्ठा रखनेवाले हैं ।। ८ ।।

व्यवहारपरास्त्वेके बहिर्मुखनरा इव ।
तेषु श्रेयान् हि कतम एतन्नो वक्तुमर्हसि ॥ ९ ॥
स्वस्वपक्षं वयं विद्मः श्रेयांसमिति वै विधे ।
इति पृष्टोऽवदद् ब्रह्मा मत्वाऽनाश्वस्तमानसान् ॥ १० ॥
मुनीन्द्रा नाहमप्येतद्वेद्मि सर्वात्मना ततः ।
जानीयादिममर्थन्तु सर्वज्ञः परमेश्वरः ॥ ११ ॥
तत्र यामोऽर्थं सम्प्रष्टुमित्युक्त्वा तत्र तैर्ययो ।
सङ्गम्य देवदेवेशं विष्णुनाभिसमागतः ॥ १२ ॥
पप्रच्छ ऋषिमुख्यानां प्रश्नं तं लोकसृड् विधिः ।
प्रश्नं निशम्य च ज्ञात्वा विष्णुविधिः मनोगतम् ॥ १३ ॥
मत्वाऽनाश्वस्तमनसा ऋषीन् देवो व्यचिन्तयत् ।
किञ्चिदुक्तं मयाऽत्रापि व्यर्थमेव भवेन्न तु ॥ १४ ॥
स्वपक्षत्वेन जानीयुर्ऋषयः श्रद्धया युताः ।
इति मत्वा प्रत्युवाच देवदेवो महेश्वरः ॥ १५ ॥
शृणुध्वं मुनयो नाऽहमप्येतद्वेद्मि सुस्फुटम् ।
अतो विद्यां भगवतीं ध्यायामः परमेश्वरीम् ॥ १६ ॥
तत्प्रसादान्निगूढार्थमपि विद्मस्ततः परम् ।
इत्युक्त्वा मुनयः सर्वे विधिविष्णुशिवैः सह ॥ १७ ॥

कोई बहिर्मुख पुरुषों की तरह व्यवहार में लगे रहते हैं — इनमें श्रेष्ठ कौन हैं ? यह हमें बतलाने की कृपा करें। ब्रह्मन् ! हम लोग तो अपने पक्ष को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं ॥ ९½ ॥

ऋषियों के प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने समझा कि इन्हें मेरे प्रति सही श्रद्धा नहीं है। उन्होंने कहा — मुनियो ! यह बात तो पूरी तरह मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो आप लोग भगवान् महेश्वर से ही पूछें। वहीं जाइये, वे सर्वज्ञ हैं; इसके बारे में वे जानते होंगे ॥ १०–११ ॥

चलें, हम लोग वहीं चलें। ऐसा कहकर ब्रह्माजी सबके साथ शिवलोक पहुँचें। भगवान् विष्णु भी वहाँ मौजूद थे। सबके साथ महादेव से मिलकर ब्रह्माजी ने यही प्रश्न पूछा ॥ १२½ ॥

प्रश्न सुनकर महादेवजी ने ब्रह्मा और विष्णु के मन का भाव ताड़ लिया। उन्होंने सोचा ऋषियों के मन में श्रद्धा तो है ही नहीं, इन्हें कुछ भी समझाना तो बेकार ही होगा। इन्हें जो कुछ कहा जायेगा, उसे ये मेरे ही पक्ष की बात मानेंगे ॥ १३–१४½ ॥

ऐसा सोचकर देवाधिदेव महादेव ने कहा — मुनियो ! आपने जो पूछा है, उसे साफ-साफ तो मैं भी नहीं जानता। अच्छा हो हम सब मिलकर भगवती विद्यादेवी

दध्युर्विद्यां महेशानीं त्रिपुरां चिच्छरीरिणीम् ।
एवं सर्वैरभिध्याता त्रिपुरा चिच्छरीरिणी ॥ १८ ॥
आविरासीच्चिदाकाशमयी शब्दमयी परा ।
अभवन्मेघगम्भीरनिःस्वनो गगनाङ्गणे ॥ १९ ॥
वदन्त्वृषिगणाः किं वो ध्याता तद् द्रुतमीहितम् ।
मत्पराणां हि केषाञ्चिन्न हीयेताऽभिवाञ्छितम् ॥ २० ॥
इति श्रुत्वा परां वाणीं प्रणेमुर्मुनिपुङ्गवाः ।
ब्रह्मादयोऽपि तदनु तुष्टुवुर्विविधैः स्तवैः ॥ २१ ॥
अथ प्रोचुर्ऋषिगणा विद्यां तां त्रिपुरेश्वरीम् ।
नमस्तुभ्यं महेशानि श्रीविद्ये त्रिपुरेश्वरि ॥ २२ ॥
अशेषोत्पादयित्री त्वं स्थापयित्री निजात्मनि ।
विलापयित्री सर्वस्य परमेश्वरि ते नमः ॥ २३ ॥
अनूतना सर्वदाऽसि यतो नास्ति जनिस्तव ।
नवात्मिका सदा त्वं वै यतो नास्ति जरा तव ॥ २४ ॥
सर्वासि सर्वसारासि सर्वज्ञा सर्वहर्षिणी ।
असर्वाऽसर्वगाऽसाराऽसर्वज्ञाऽसर्वहर्षिणी ॥ २५ ॥

का ध्यान करें। फिर तो उनकी कृपा से गूढ़-से-गूढ़ रहस्य भी हम आसानी से जान सकते हैं ॥ १५–१६½ ॥

महादेव के ऐसा कहने पर ब्रह्मा, विष्णु सहित मुनियों ने चित्स्वरूपा त्रिपुरा का ध्यान करना शुरू किया। इस तरह सबके मिलकर ध्यान करने पर चिदाकाशमयी शब्दस्वरूपा विद्यादेवी त्रिपुरा इनके सामने साकार प्रकट हुईं ॥ १७–१८½ ॥

तब आकाश में मेघगर्जन की तरह उनकी आवाज गूँज उठी — ऋषियो ! बतलाओ, तुमने मेरा ध्यान किसलिए किया है ? शीघ्र ही अपनी अभिलाषा बतलाओ। मेरे भक्तों की कोई भी इच्छा कभी विफल नहीं होती ॥ १९–२० ॥

चार प्रकार की वाणियों में सबसे पहली परा वाणी सुनकर ऋषियों ने उन्हें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा, विष्णु और महेश ने भी प्रणाम किया। फिर सभी ने मिलकर उनकी अनेक वन्दनाएँ कीं ॥ २१ ॥

विद्यादेवी उस त्रिपुरेश्वरी को फिर ऋषियों ने कहा — हे महेश्वरि ! श्रीविद्ये ! त्रिपुरेश्वरि ! आपको हमारा अनेक नमस्कार है ॥ २२ ॥

हे परमेश्वरी ! आपने अपने में ही इस सारी दुनिया की उत्पत्ति, स्थिति और विनष्टि को समाहित कर रखा है। आपको हमारा अनेकशः प्रणाम है ॥ २३ ॥

आपका कभी जन्म नहीं होता, इसलिए आप सदा ही पुरानी हैं। आपमें कभी बुढ़ापा आता ही नहीं, अतः आप चिरनवीना हैं ॥ २४ ॥

आप ही सब हैं, आप ही सबकी जड़ हैं, आप सब कुछ जानती हैं तथा आप ही

देवि भूयो नमस्तुभ्यं पुरस्तात् पृष्ठतोऽपि च।
अधस्तादूर्ध्वतः पार्श्वे सर्वतस्ते नमो नमः ॥ २६ ॥
ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपमैश्वर्यं ज्ञानमेव च।
फलं तस्माद्धनं मुख्यं साधकं सिद्धमेव च ॥ २७ ॥
सिद्धेस्तु परमां काष्ठां सिद्धेषूत्तममेव च।
देव्येतत् क्रमतो ब्रूहि भूयस्तुभ्यं नमो नमः ॥ २८ ॥
इत्यापृष्टा महाविद्या प्रवक्तुमुपचक्रमे।
दयमाना ऋषिगणे स्पष्टार्थं परमं वचः ॥ २९ ॥
श्रृणुध्वमृषयः सर्वे प्रवक्ष्यामि क्रमेण तत्।
अमृतं ह्यगमाम्भोधेः समुद्धृत्य ददामि वः ॥ ३० ॥
यत्र सर्वं जगदिदं दर्पणप्रतिबिम्बवत्।
उत्पन्नश्च स्थितं लीनं सर्वेषां भासते सदा ॥ ३१ ॥
यदेव जगदाकारं भासतेऽविदितात्मनाम्।
यद्योगिनां निर्विकल्पं विभात्यात्मनि केवलम् ॥ ३२ ॥
गम्भीरस्तिमिताम्भोधिरिव निश्चलभासनम्।
यत् सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात् ॥ ३३ ॥

सबको खुश करनेवाली हैं। किन्तु आपके स्वरूप में सब तो है ही नहीं, अतः आप सर्वशून्या हैं। आप सबसे अलग हैं, आप कुछ नहीं जानती हैं और न किसी को खुश करनेवाली हैं ॥ २५ ॥

देवि ! आपको हमारा बार-बार प्रणाम है। आगे से, पीछे से, ऊपर से, नीचे से, चारों ओर से बार-बार प्रणाम है ॥ २६ ॥

आपका जो दूसरा रूप है, जो विभूति है, जो ज्ञान है; उसकी जानकारी का जो फल है, उसे जानने का जो प्रमुख साधन है; इसके जो साधक और सिद्ध हैं, जो सिद्धि की चरमसीमा है और सिद्धों में जो सर्वश्रेष्ठ हैं — इनके बारे में आप हमें बतलाये। हम आपको बार-बार प्रणाम करते हैं ॥ २७–२८ ॥

इस तरह ऋषियों के पूछने पर देवी त्रिपुरा को दया आ गई। उन्होंने सन्देह रहित बड़ी मीठी आवाज में उन्हें समझाना शुरू किया ॥ २९ ॥

ऋषियों आप सुनें, मैं सिलसिलेवार ढंग से आपको सारी बातें समझा देती हूँ। वेद और तंत्रशास्त्ररूपी समुद्र से अमृत निकालकर आपको देती हूँ ॥ ३० ॥

जहाँ यह सारी दुनिया आईने में परछाईं की तरह सबको हमेशा जनमती, टिकती और मिटती दीखती हैं; नासमझों को यह संसार के रूप में दिखलाई देती है और योगियों को यह बिलकुल स्थिर दीख पड़ती है। अपने स्वरूप में जो गंभीर और शान्त समुद्र की तरह अचल-अडिग स्फुरित हो रहा है, श्रेष्ठ भक्तगण इस आत्मपद को अद्वैत रूप से जानते हैं। फिर भी अपने मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति के

स्वभावस्थं स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वोदयं पदम् ।
विभेदभासमारुह्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः ॥ ३४ ॥
अक्षान्तःकरणादीनां प्राणसूत्रं यदान्तरम् ।
यदभानेन किञ्चित् स्याद् यच्छास्त्रैरभिलक्षितम् ॥ ३५ ॥
परा सा प्रतिभा देव्याः परं रूपं मयेरितम् ।
ब्रह्माण्डानामनेकानां बहिरूर्द्ध्वे सुधाम्बुधौ ॥ ३६ ॥
मणिद्वीपे नीपवने चिन्तामणिसुमन्दिरे ।
पञ्चब्रह्ममये मञ्चे रूपं त्रैपुरसुन्दरम् ॥ ३७ ॥
अनादिमिथुनं यत्तदपराख्यम् ऋषीश्वराः ।
तथा सदाशिवेशानौ विधिविष्णुत्रिलोचनाः ॥ ३८ ॥
गणेशस्कन्ददिक्पालाः शक्तयो गणदेवताः ।
यातुधानाः सुरा नागा यक्षकिम्पुरुषादयः ॥ ३९ ॥
पूज्याः सर्वा मम तनूरपराः परिकीर्त्तिताः ।
मम मायाविमूढास्तु मां न जानन्ति सर्वतः ॥ ४० ॥
पूजिता ह्येव सर्वैस्तैर्ददामि फलमीहितम् ।
न मत्तोऽन्या काचिदस्ति पूज्या वा फलदायिनी ॥ ४१ ॥

कारण उपास्य और उपासक के रूप में द्वैतभाव की कल्पना कर अत्यन्त तत्पर हो, निश्चल भाव से उस परम आत्मपद का सेवन करते हैं। इन्द्रिय और अन्तःकरण के बीच वह प्राणरूपी अन्तःसूत्र है। इसके स्फुरित न होने पर कुछ भी नहीं रहता। यह केवल शास्त्रों द्वारा ही लक्षित होता है। यह परमप्रकाश ही मेरा पररूप कहा गया है ॥ ३१–३५ ॥

अनेक ब्रह्माण्डों से बिलकुल अलग-थलग बहुत दूर एक सुधासागर है। उसमें मणियों का एक टापू है। उस टापू पर एक कदम्ब का वन है। उस वन में चिन्तामणियों का एक मन्दिर है। उस मन्दिर में 'पञ्चब्रह्मय' एक सिंहासन है। उस सिंहासन पर अनादि मिथुनात्मक त्रिपुरासुन्दरी की भव्य मूर्ति विराजित है। वही मेरा अपर स्वरूप है ॥ ३६–३७½ ॥

इसी तरह सदाशिव, ईशान, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गणेश, स्कन्द, इन्द्रादि दिग्पाल, महालक्ष्मी आदि शक्तियाँ, वसु आदि गण, राक्षस, देवता, नाग, यक्ष, किन्नर प्रभृति जो लोक में पूज्य हैं, सब मेरे ही दूसरे रूप हैं ॥ ३८–३९½ ॥

इन सभी रूपों में मैं ही हूँ, किन्तु मेरी ही माया से मोहित पुरुष मुझे ही नहीं पहचानते हैं। ऊपर वर्णित रूपों की उपासना से प्रसन्न होकर उपासक को मैं ही मनवांछित फल देती हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य मूर्ति न पूज्य है और न अभीष्ट फलदायिनी है ॥ ४०–४१ ॥

यथा यो मां भावयति फलं मत् प्राप्नुयात्तथा ।
ममैश्वर्यमृषिगणा अपरिच्छिन्नमीरितम ॥ ४२ ॥
अनपेक्ष्यैव यत् किञ्चिदहमद्वयचिन्मयी ।
स्फुराम्यनन्तजगदाकारेण ऋषिपुङ्गवाः ॥ ४३ ॥
तथा स्फुरन्त्यपि सदा नात्येम्यद्वैतचिद्वपुः ।
एतन्मे मुख्यमैश्वर्यं दुर्घटार्थविभावनम् ॥ ४४ ॥
ममैश्वर्यन्तु ऋषयः पश्यध्व सूक्ष्मया दृशा ।
सर्वाश्रया सर्वगता चाप्यहं केवला चितिः ॥ ४५ ॥
स्वमायया स्वमज्ञात्वा संसरन्ती चिरादहम् ।
भूयो विदित्वा स्वात्मानं गुरोः शिष्यपदं गता ॥ ४६ ॥
नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता भूयो भूयो भवाम्यहम् ।
निरुपादानसम्भारं सृजामि जगदीदृशम् ॥ ४७ ॥
इत्यादि सन्ति बहुधा ममैश्वर्यपरम्पराः ।
न तद् गणयितुं शक्यं सहस्रवद्नेन वा ॥ ४८ ॥
शृण्वन्तु सङ्ग्रहाद्वक्ष्ये मदैश्वर्यस्य लेशतः ।
जगद्धात्रा विचित्रेयं सर्वतः सम्प्रसारिता ॥ ४९ ॥
ममाज्ञानं बहुविधं द्वैताद्वैतादिभेदतः ।
परापरविभेदाच्च बहुधा चापि तत् फलम् ॥ ५० ॥

ऋषियो ! मेरी विभूति निःसीम है । मुझमें जिसकी भावना जैसी रहती है, उसे वैसा ही फल मिलता है ॥ ४२ ॥

मुनिवरो ! मैं अकेली हूँ, चिन्मयी हूँ । किसी दूसरी शक्ति की अपेक्षा किये बिना संसार के रूप में दीखती हूँ ॥ ४३ ॥

दुनिया के रूप में दीखने के बावजूद मैं अपने इस बेजोड़ चिन्मय रूप को छोड़ नहीं सकती । असंभव को भी संभव कर देनेवाला मेरा यही ऐश्वर्य है ॥ ४४ ॥

ऋषियो ! आप लोग जरा गहरी निगाह से मेरे प्रभुत्व की ओर देखें । मैं सबका आधार हूँ, सबमें अनुगत हूँ, फिर भी केवल चिन्मात्र हूँ ॥ ४५ ॥

अपनी माया से अपने को ही न जानकर मैं बहुत दिनों से जन्म-मरण रूप संसार-चक्र में पड़ी हुई हूँ । फिर गुरुदेव का शिष्यत्व कबूल करती हूँ । उसके प्रभाव से नित्यमुक्त होकर भी बार-बार मुक्त होती हूँ । फिर किसी साधन-सामग्री के बिना ही ऐसी दुनिया रच डालती हूँ ॥ ४६--४७ ॥

मेरे ऐश्वर्य की ऐसी ही अनन्त परम्पराएँ हैं, जिसे हजारों फनवाले शेषनाग भी नहीं गिन सकते ॥ ४८ ॥

सुनिए ! संक्षेप में बतलाती हूँ, मेरे ऐश्वर्य के एक कण से यह अनोखा लोक-व्यवहार चारों ओर फैला हुआ है ॥ ४९ ॥

द्वैतज्ञानन्तु विविधं द्वितीयालम्बनं यतः।
ध्यानमेव तु तत्प्रोक्तं स्वप्नराज्यादिसम्मितम् ॥ ५१ ॥
तच्चापि सफलं ज्ञेयं नियत्या नियतं यतः।
अपरश्चापि विविधं तत्र मुख्यं तदेव हि ॥ ५२ ॥
प्रोक्तमुख्यापरमयं ध्यानं मुख्यफलक्रमम्।
अद्वैतविज्ञानमेव परविज्ञानमीरितम् ॥ ५३ ॥
मामनाराध्य परमां चिरं विद्यां तु श्रीमतीम्।
कथं प्राप्येत परमां विद्यामद्वैतसंज्ञिकाम् ॥ ५४ ॥
तदेवाद्वैतविज्ञानं केवला या परा चितिः।
तस्याः शुद्धदशामर्शो द्वैतामर्शाभिभावकः ॥ ५५ ॥
चित्तं यदा स्वमात्मानं केवलं ह्यभिसम्पतेत्।
तदेवानुविभातं स्याद् विज्ञानमृषिसत्तमाः ॥ ५६ ॥
श्रुतितो युक्तितो वापि केवलात्मविभासनम्।
देहाद्यात्मावभासस्य नाशनं ज्ञानमुच्यते ॥ ५७ ॥
तदेव भवति ज्ञानं यज्ज्ञानेन तु किञ्चन।
भासमानमपि क्वापि न विभायात् कथञ्चन ॥ ५८ ॥

द्वैत-अद्वैत के भेद से मेरा ज्ञान भी अनेक तरह का है। उसके फल भी पर और अपर भेद से अनेक तरह के हैं ॥ ५० ॥

द्वैतज्ञान अनेक तरह के हैं। इनका आधार कोई दूसरा होता है। उसे ध्यान भी कहा जाता है। यह सपने और मानसिक बहाव की तरह होते हैं ॥ ५१ ॥

किन्तु मनोराज्य की तरह होने पर भी उसे फलदायक ही समझना चाहिए, क्योंकि नियति का विधान ऐसा ही है। अपर ज्ञान अनेक हैं, परन्तु उनमें प्रमुखता इसी की है ॥ ५२ ॥

ऊपर बतलाया गया ध्यान उत्कृष्ट ब्रह्म का है। इसका प्रमुख फल मुक्ति है। मुक्ति का यह परम्परागत साधन है। पर ज्ञान को तो अद्वैत ज्ञान ही कहा गया है ॥ ५३ ॥

मैं ही तो परम उत्कृष्ट श्रीविद्या हूँ। मेरी लम्बी आराधना किये बिना कोई अद्वैत नाम वाली इस पराविद्या को कैसे पा सकता है? ॥ ५४ ॥

जो सच्ची चित्शक्ति है, वही विशुद्ध ब्रह्मज्ञान है। इसके सच्चे स्वरूप का विचार ही आत्मा और परमात्मा के भेद को मिटाने वाला है ॥ ५५ ॥

जिस समय आदमी का मन अपनी आत्मा के स्वरूप की ओर लगता है, उसी समय उस विशुद्ध विज्ञान का साक्षात्कार होता है ॥ ५६ ॥

वेद से, उचित विचार से आत्मा की अनुभूति होना और देह आदि में आत्म-भाव की कमी हो जाना भी तो ज्ञान ही कहलाता है ॥ ५७ ॥

तदेवाद्वैतविज्ञानं यद्विज्ञानेन किञ्चन ।
अविज्ञातं नैव भवेत् कदाचिल्लेशतोऽपि च ॥ ५९ ॥
सर्वविज्ञानात्मरूपं यद्विज्ञानं भवेत् खलु ।
तदेवाद्वैतविज्ञानं परमं तापसोत्तमाः ॥ ६० ॥
जाते यादृशविज्ञाने संशयाश्चिरसम्भृताः ।
वायुनेवाभ्रजालानि विलीयन्ते परं हि तत् ॥ ६१ ॥
कामादिवासनाः सर्वा यस्मिन् सन्ति न किञ्चन ।
स्युर्भग्नदंष्ट्राहिरिव तद्विज्ञानं परं स्मृतम् ॥ ६२ ॥
विज्ञानस्य फलं सर्वदुःखानां विलयो भवेत् ।
अत्यन्ताभयसम्प्राप्तिर्मोक्ष इत्युच्यते फलम् ॥ ६३ ॥
भयं द्वितीयसङ्कल्पादद्वैते विदिते दृढम् ।
कुतः स्याद् द्वैतसङ्कल्पस्तमः सूर्योदये यथा ॥ ६४ ॥
ऋषयो न भयं क्वापि द्वैतसङ्कल्पवर्जने ।
अतो यत् फलमन्यत् स्यात् तद्भयं सर्वथा भवेत् ॥ ६५ ॥

असली ज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर दिखलायी देने वाली वस्तु भी कहीं नहीं दीखती ॥ ५८ ॥

सच्चा ब्रह्मज्ञान तो वही है जिसके मिल जाने पर फिर कभी कुछ भी अनजान नहीं रह जाता है ॥ ५९ ॥

हे तापसो ! जिस ज्ञान से सभी ज्ञान आत्मरूप हो जाते हैं, वास्तव में वही ज्ञान अद्वैत विज्ञान है ॥ ६० ॥

ऐसा विशिष्ट ज्ञान मिल जाने पर चिरपोषित सभी संशय उसी तरह खत्म हो जाते हैं जैसे हवा के झोंके से आकाश में मेघजाल विनष्ट हो जाते हैं। इसी ज्ञान को पराविज्ञान कहा गया है ॥ ६१ ॥

जिस ज्ञान के मिल जाने पर काम प्रभृति समस्त वासनाएँ स्वतः मिट जाती हैं, अगर कुछ बची-खुची रह भी जाती हैं तो वह दाँत तोड़े साँप की तरह बेकार ही होती है। यही पर-विज्ञान है ॥ ६२ ॥

इस विज्ञान की उपलब्धि समस्त दुःखों से छुटकारा और पूरी निर्भयता है। इसे ही पर-विज्ञान माना गया है ॥ ६३ ॥

डर तो किसी दूसरे को पाने का पक्का इरादा करने पर ही होता है या फिर किसी दूसरे के अस्तित्व से होता है। जहाँ अद्वैत ज्ञान मजबूत है वहाँ फिर द्वैत का संकल्प ही नहीं हो सकता है; जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नहीं होता ॥ ६४ ॥

ऋषियो ! आत्मा और परमात्मा का भेद छूट जाने पर डर तो रहता ही नहीं है। इसलिए जो फल आत्मा के रूप से अलग होगा वह सब तरह से भय रूप ही होगा ॥६५॥

अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद् भूयो लोके समीक्षणात् ।
सान्ते भयं सर्वथैवाभयं तस्मात् कुतो भवेत् ॥ ६६ ॥
संयोगो विप्रयोगान्तः सर्वथैव विभावितः ।
फलयोगोऽपि तस्माद्धि विनश्येदिति निश्चयः ॥ ६७ ॥
यावदन्यत् फलं प्रोक्तं भयं तावत्प्रकीर्तितम् ।
तदेवाभयरूपन्तु फलं सर्वे प्रचक्षते ॥ ६८ ॥
यदात्मनोऽनन्यदेव फलं मोक्षः प्रकीर्त्तितः ।
ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमपि फलं चैकं यदा भवेत् ॥ ६९ ॥
तदा हि परमो मोक्षः सर्वभीतिविवर्जितः ।
ज्ञानं विकल्पसङ्कल्पहानं मौढ्यविवर्जितम् ॥ ७० ॥
ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तदादावनुपलक्षितम् ।
उपदेशक एवातो गुरुः शास्त्रं च नेतरत् ॥ ७१ ॥
एतदेव हि विज्ञेयस्वरूपमभिधीयते ।
ज्ञातृज्ञानज्ञेयगतो यावद्भेदोऽवभासते ॥ ७२ ॥
तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि ज्ञेयं वा न भवेत् क्वचित् ।
यदा भेदो विगलितो ज्ञात्रादीनां मिथः स्थितः ॥ ७३ ॥
तदा ज्ञात्रादिसम्पत्तिरेतदेव फलं स्मृतम् ।

अपनी आत्मा से अलग जो कुछ भी होगा, वह नाशवान् तो होगा ही; क्योंकि ऐसा ही इस संसार में देखा जाता है। नाशवान् पदार्थ में तो हर तरह का डर बना ही रहता है। अतः उसे पाकर कोई निडर कैसे हो सकता है? ॥ ६६ ॥

हर संयोग की परिणति तो वियोग ही देखा जाता है। अतः यह निश्चय है कि किसी अन्य फल का संयोग अन्त में विनष्ट होना ही है ॥ ६७ ॥

अतः आत्मा से अलग यदि कोई फल रहता है, तो उससे बिछुड़ने का डर तो रहता ही है। आत्मा से अभिन्न मोक्ष रूप फल ही तो निडर कहलाता है। यहाँ आकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप हो जाता है ॥ ६८–६९ ॥

हर तरह की संकल्प रहित स्थिति में अज्ञानशून्य ज्ञान का उदय होता है। इसी स्थिति में भयशून्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ७० ॥

अपना यह विशुद्ध रूप पहले किसी ज्ञाता को पता नहीं चलता। ऐसी स्थिति में गुरु और शास्त्र ही उपदेष्टा होते हैं और कुछ नहीं ॥ ७१ ॥

ज्ञेय का यही स्वरूप है। जब तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद रहेगा तब तक वे कुछ नहीं हैं। जिस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है, उसी क्षण ये अपने रूप में आते हैं और यहीं इस ज्ञान का फल भी माना गया है ॥ ७२–७३½ ॥

ज्ञात्रादिफलपर्यन्तं न भेदो वस्तुतो भवेत् ॥ ७४ ॥
व्यवहारप्रसिद्धचर्थं भेदस्तत्र प्रकल्पितः ।
अतः पूर्वं लभ्यमत्र फलं नास्त्येव किञ्चन ॥ ७५ ॥
आत्मैव मायया ज्ञातृज्ञानज्ञेयफलात्मना ।
यावद्भाति भवेत्तावत् संसारो ह्यचलोपमः ॥ ७६ ॥
यथा कथञ्चिदेतत्तु भायाद्भेदविवर्जितम् ।
संसारो विलयं यायाच्छिन्नाभ्रमिव वायुना ॥ ७७ ॥
एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम् ।
तत्परत्वे तु सम्पूर्णे नान्यत् साधनमिष्यते ॥ ७८ ॥
अपूर्णे तत्परत्वे तु किं सहस्रसुसाधनैः ।
तस्मात् तात्पर्यमेव स्यान्मुख्यं मोक्षस्य साधनम् ॥ ७९ ॥
तात्पर्यं सर्वथैतत्तु साधयामीति संस्थितिः ।
यस्तात्पर्येण संयुक्तः सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ८० ॥
दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि ।
बुद्धिनैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः ॥ ८१ ॥
बुद्धौ तु बहवो दोषाः सन्ति सर्वार्थनाशनाः ।
यैर्जनाः सततन्त्वेवं पच्यन्ते घोरसंसृतौ ॥ ८२ ॥

यथार्थ तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से लेकर इनके फल तक कोई भेद है ही नहीं। केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही इनमें भेद की कल्पना की गई है। अतः इस भेद-कल्पना से पहले पाने योग्य कोई फल है ही नहीं ॥ ७४–७५ ॥

सांसारिक माया के कारण जब तक यह आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और फल के रूप में दीख रही है तब तक यह दुनिया राह रोके पहाड़ की तरह खड़ी है ॥ ७६ ॥

किन्तु किसी तरह यह आत्मा यदि भेदहीन दिखलाई पड़ने लगे तो हवा के झोंके से तितर-बितर किये गये बादल की तरह यह दुनिया विलीन हो जाती है ॥ ७७ ॥

इस तरह संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता ही मुख्य साधन है। यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी दूसरे साधन की कोई जरूरत नहीं है ॥ ७८ ॥

यदि पूरी तत्परता न हो तो हजारों दूसरे साधनों से भी कोई फायदा नहीं है। अतः तत्परता ही मुक्ति का प्रमुख साधन है ॥ ७९ ॥

"जैसे भी होगा मैं इस काम को अवश्य ही पूरा करूंगा" इस स्थिति का नाम ही तत्परता है। जिसके पास ऐसी तत्परता है वह हर तरह से जीवन्मुक्त है ॥ ८० ॥

ऐसे लोग कुछ दिनों में, महीनों, सालों या जन्मान्तरों में मुक्त हो ही जायेंगे। बुद्धि की निर्मलता के भेद से ही उसके शीघ्र या देर से मुक्त होने की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥ ८१ ॥

बुद्धि में हर तरह के पुरुषार्थ को विनष्ट करने की ताकत होती ही है। इसी

तत्राद्यः स्यादनाश्वासो द्वितीयः कामवासना।
तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैवं दोषसङ्ग्रहः॥ ८३॥
द्विविधः स्यादनाश्वासः संशयश्च विपर्ययः।
मोक्षोऽस्ति नास्ति वेत्याद्यः संशयः समुदाहृतः॥ ८४॥
नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो भवेदत्र विपर्ययः।
एतद् द्वयन्तु तात्पर्ये मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम्॥ ८५॥
विपरीतनिश्चयेन नश्येदेतद् द्वयं क्रमात्।
अत्रोपायो मुख्यतमो मूलच्छेदो न चापरः॥ ८६॥
अनाश्वासस्य मूलन्तु विरुद्धतर्कचिन्तनम्।
तत्परित्यज्य सत्तर्कावर्त्तनस्य प्रसाधने॥ ८७॥
विपरीतो निश्चयः स्यान्मूलच्छेदनपूर्वकः।
ततः श्रद्धासमुदयादनाश्वासः प्रणश्यति॥ ८८॥
कामादिवासना बुद्धेः श्रवणे प्रतिबन्धिका।
कामादिवासनाविष्टा बुद्धिर्नैव प्रवर्त्तते॥ ८९॥
लोकेऽपि कामी काम्यस्य सदा ध्यानैकतत्परः।
पुरःस्थितं न पश्येच्च श्रोत्रोक्तं शृणुयान्न च॥ ९०॥

बुद्धि के वात्याचक्र में फँसकर लोग जन्म-मरण रूपी भयंकर संसार की आग में जलते रहते हैं॥ ८२॥

इनका पहला दोष है—अविश्वास। दूसरा दोष है—कामवासना और तीसरा दोष है—जड़ता। मुख्यतः इसके ये तीन दोष हैं॥ ८३॥

अविश्वास दो तरह के हैं—संशय और विपर्यय। मोक्ष नाम की कोई वस्तु है या नहीं? यह पहला संशयदोष है॥ ८४॥

मुक्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसी मान्यता विपर्ययदोष है। ये दोनों ही तरह के दोष तत्परता के प्रमुख बाधक हैं॥ ८५॥

इनके विपरीत निश्चय करने पर ये दोनों दोष अपने-आप मिट जाते हैं। किन्तु इनके रोकने का प्रमुख उपाय तो इनका समूल विनाश ही है कोई और नहीं॥ ८६॥

अविश्वास का मूल कारण है—शास्त्र-विरुद्ध तर्कों का सहारा। इसे छोड़कर यदि शास्त्रानुमोदी तर्कों का सहारा लिया जाय तो विपरीत निश्चय की जड़ खोदकर उसे मिटाया जा सकता है। श्रद्धा जगते ही अविश्वास स्वतः मिट जायेगा॥ ८७-८८॥

कामवासना बुद्धि के श्रवण में रुकावट डालनेवाली होती है। क्योंकि जिस बुद्धि में कामवासना होती है, उसमें सात्त्विक भावना नहीं होती है॥ ८९॥

लोकव्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि कामनाशील व्यक्ति जब अपनी काम्य वस्तु में लीन रहता है तब उसे न तो सामने रखी वस्तु दीखती है और न उसे कान में कही बात ही सुनाई पड़ती है॥ ९०॥

कामादिवासितस्यैवं श्रुतं चाश्रुतसम्मितम् ।
कामादिवासनां तस्माज्जयेद्वैराग्यसम्पदा ॥ ९१ ॥
सन्ति कामक्रोधमुखा वासनास्तु सहस्रशः ।
तत्र कामो मूलभूतस्तन्नाशे न हि किञ्चन ॥ ९२ ॥
ततो वैराग्यसंयोगान्नाशयेत् कामवासनाम् ।
आशा हि कामः सम्प्रोक्त एतन्मे स्यादिति स्थिता ॥ ९३ ॥
शक्येषु स्थूलभूता सा सूक्ष्माऽशक्येषु संस्थिता ।
दृढवैराग्ययोगेन सर्वां तां प्रविनाशयेत् ॥ ९४ ॥
तत्र मूलं काम्यदोषपरामर्शः प्रतिक्षणम् ।
वैमुख्यं विषयेभ्यश्च वासना नाशयेदिति ॥ ९५ ॥
यस्तृतीयो बुद्धिदोषो जाड्यरूपो व्यवस्थितः ।
असाध्यः सोऽभ्यासमुखैः सर्वथा ऋषिसत्तमाः ॥ ९६ ॥
येन तात्पर्यतश्चापि श्रुतं बुद्धिमनारुहेत् ।
तज्जाड्यं हि महान् दोषः पुरुषार्थविनाशनः ॥ ९७ ॥
तत्रात्मदेवतासेवामृते नान्यद्धि कारणम् ।
सेवायास्तारतम्येन जाड्यं तस्य हराम्यहम् ॥ ९८ ॥

कामवासना से जिसका मन कलुषित रहता है, वह शास्त्रवचन सुनकर भी अनसुनी कर देता है । ऐसी स्थिति में विरक्ति-भावना से इस प्रवृत्ति पर विजय पानी चाहिए ॥ ९१ ॥

काम, क्रोध आदि वासनाएँ तो हजारों हैं; इनकी जड़ तो काम ही है । इन्हें विनष्ट कर देने पर अन्य दूसरी वासना स्वतः मिट जाती है ॥ ९२ ॥

अतः विरक्ति की भावना से कामवासना को विनष्ट करना चाहिए । आशा का ही दूसरा नाम काम है । मनुष्य के मन में—'मुझे यह मिल जाय' इस रूप में यह हमेशा मौजूद रहती है ॥ ९३ ॥

जो वस्तु मिल सकती है उसमें वह स्थूल रूप से रहती है और जो नहीं मिल सकती उनमें वह सूक्ष्म रूप से रहती है । ऐसी हर तरह की आशा को दृढ़ विरक्ति से विनष्ट कर देना चाहिए ।

ऐसी साधना की जड़ है—हर पल काम्यवस्तुओं में दोषदृष्टि रखना । विषयों के प्रति विमुखता ही वासना को विनष्ट कर देती है ॥ ९५ ॥

मुनियो ! तीसरा दोष है—बुद्धि की जड़ता । इसे अभ्यास के द्वारा मिटाना तो बिलकुल असंभव है ॥ ९६ ॥

इसी जड़ता के कारण तत्पर होकर सुनी गई बातें भी बुद्धि में समा नहीं पातीं । मनुष्य के सभी पुरुषार्थों को जड़ता बिलकुल व्यर्थ कर देती है ॥ ९७ ॥

इससे छुटकारा मिलने का उपाय आत्मदेव की उपासना के अतिरिक्त और कुछ

जाड्याल्पानल्पभावेन सद्यो वा परजन्मनि ।
भवेत्तस्य फलप्राप्तिर्जाड्यसंयुक्तचेतसः ॥ ९९ ॥
सर्वसाधनसम्पत्तिर्ममैव प्रणिधानतः ।
उपयाति च यो भक्त्या सर्वदा मामकैतवात् ॥ १०० ॥
स साधनप्रत्यनीकं विधूयाशु कृती भवेत् ।
यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम् ॥ १०१ ॥
अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः ।
पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा ॥ १०२ ॥
तस्मात्तु ऋषयो मुख्यं तात्पर्यं साधनं भवेत् ।
एवं तात्पर्यवानेव साधकः परमः स्मृतः ॥ १०३ ॥
तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः ।
सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहानात्मत्वभावना ॥ १०४ ॥
आत्मत्वभावनं नूनं शरीरादिषु संस्थितम् ।
तदभावनमात्रञ्च सिद्धिमौढ्यविवर्जितम् ॥ १०५ ॥
आत्मा व्यवसितः सर्वैरपि नो केवलात्मना ।
अत एव तु सम्प्राप्ता महानर्थपरम्परा ॥ १०६ ॥

है ही नहीं । साधक की उपासना के अनुसार कम या ज्यादे उसकी जड़ता मैं दूर करती हूँ ॥ ९८ ॥

जड़ चित्तवाले साधक को उसकी कम या ज्यादे जड़ता के अनुसार इसी या अगले जन्म में फल मिल जाता है ॥ ९९ ॥

हर तरह के साधनों की पूर्णता मेरी उपासना से ही होती है । जो हमेशा निश्छल भाव से भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह साधना के समस्त विघ्नों को पार कर निहाल हो जाता है ॥ १००½ ॥

इस ओर सबकी बुद्धि को मैं प्रेरित करती हूँ । अपनी जड़बुद्धि के कारण जो मेरा अनादर कर साधन में लग जाता है, वह पग-पग पर ठोकर खाता है । उसे फल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता है ॥ १०१–१०२ ॥

अतः हे तापसो ! मुख्य साधन तो तत्परता ही है, अतः तत्पर साधक ही श्रेष्ठ साधक माना गया है । इनमें भी जो साधक मेरा भक्त है, वह सबका आदरणीय होता है ॥ १०३½ ॥

देह को आत्मा समझने की भूल का अभाव और अपनी आत्मा में ठहराव ही तो सिद्धि है । देहादि में जो आत्मबुद्धि होती है, उसकी कमी ही अज्ञानरहित सिद्धि है ॥ १०४–१०५ ॥

'मैं कौन हूँ ? इसका सबको सही ज्ञान नहीं होने के कारण ही जन्म-मरणरूपी महान् इस अनर्थ की परम्परा मिली है ॥ १०६ ॥

तस्मात् केवलचिन्मात्रं यद्देहाद्यवभासकम् ।
तन्मात्रात्मव्यवसितिः सर्वसंशयनाशिनी ।। १०७ ।।
सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञैर्नातः सिद्धिरनन्तरा ।
सिद्धयः खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च ।। १०८ ।।
आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
ताः सर्वास्तु परिच्छिन्नाः सिद्धयो देशकालतः ।। १०९ ।।
इयं स्यादपरिच्छिन्ना स्वात्मविद्या शिवात्मिका ।
स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः ।। ११० ।।
आत्मविद्याविधावेतास्त्वन्तरायप्रयोजकाः ।
किं ताभिरिन्द्रजालात्मसिद्धितुल्याभिरीहितम् ।। १११ ।।
यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदमपि स्यात्तृणसम्मितम् ।
कियन्त्येताः सिद्धयो वै कालक्षपणहेतवः ।। ११२ ।।
तस्मात् सिद्धिर्नेतरा स्यादात्मविज्ञानसिद्धितः ।
ययाऽत्यन्तशोकनाशो भवेदानन्दसान्द्रता ।। ११३ ।।
सैव सिद्धिर्नेतरा तु मृत्युग्रासविमोचिनी ।
इयमात्मज्ञानसिद्धिर्विविधाभ्यासभेदतः ।। ११४ ।।
बुद्धिनैर्मल्यभेदाच्च परिपाकविभेदतः ।
सङ्क्षेपतस्तु त्रिविधा चोत्तमा मध्यमाऽधमा ।। ११५ ।।

अतः यह विशुद्ध चिति, जिसमें सारी दुनिया प्रतिबिम्बित है; उसी रूप में अपनी आत्मा को भी समझना ही सभी सन्देहों को मिटा देना है । इसी स्थिति को विज्ञजनों ने सिद्धि कहा है । इसके अलावा आकाश में घूमना या अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं है ।। १०७–१०८ ।।

ये सभी सिद्धियाँ तो देश और काल से परिसीमित हैं । अतः ये आत्मज्ञान रूप सिद्धि के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं है ।। १०९ ।।

यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो असीमित है । ये सब तो आत्मज्ञान के साधन करते-करते स्वयं ही आ जाती हैं ।। ११० ।।

किन्तु ये आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा डालनेवाली है । भला जिज्ञासुओं के जादूगर की जादूगरी जैसी इन सिद्धियों से क्या लेना-देना है ? ।। १११ ।।

जिनकी दृष्टि में 'ब्रह्मपद' भी तिनके के समान है, उनके लिए केवल समय काटने में उपयोगी इन सिद्धियों का क्या मूल्य है ? ।। ११२ ।।

अतः आत्मविज्ञान रूप सिद्धि से बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है, जिससे शोक का बिलकुल विनाश और आनन्दघनता मिल जाती है ।। ११३ ।।

यही सिद्धि काल के गाल से भी बचानेवाली है । अभ्यास, पवित्र बुद्धि और ज्ञान की पुष्टि के तारतम्य से यह आत्मज्ञानरूपा सिद्धि अनेक तरह की है । किन्तु

लोके द्विजानामृषयः पठिता श्रुतिसम्मिता ।
मेधया च महाभ्यासाद्व्यापारशतसङ्कुला ।। ११६ ।।
अप्यस्खलितवर्णा या पठिता श्रुतिरुत्तमा ।
समाहितस्य व्यापारेऽसमाहितस्य चान्यदा ।। ११७ ।।
पूर्ववद्याऽप्यस्खलिता पठिता मध्यमा श्रुतिः ।
या सदा ह्यनुसन्धानयोगादेव भवेत्तथा ।। ११८ ।।
पठिता श्रुतिरत्यन्तास्खलिता मध्यमा हि सा ।
एवमेवात्मविज्ञानसिद्धिरुक्ता त्रिधर्षयः ।। ११९ ।।
या महाव्यवहारेषु प्रतिसन्धानवर्जने ।
अन्यदा तद्वर्जने वा सर्वदा प्रतिसन्धितः ।। १२० ।।
अन्यूनाधिकभावा स्यात् सोत्तमा मध्यमाऽधमा ।
अत्रोत्तमैव संसिद्धेः पराकाष्ठा निरूपिता ।। १२१ ।।
स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु यदा स्यात् परमा स्थितिः ।
विचारक्षणतुल्येव सिद्धिः सा परमोत्तमा ।। १२२ ।।
सर्वत्र व्यवहारेषु यत्नात् संस्कारबोधतः ।
यदा प्रवृत्तिसिद्धेः सा पराकाष्ठा समीरिता ।। १२३ ।।

लोक में ब्राह्मण द्वारा पढ़ी हुई श्रुति की तरह यह तीन तरह की है—उत्तम, मध्यम और अधम ।। ११४–११५½ ।।

बुद्धि की प्रखरता और अत्यन्त अभ्यास के कारण जिस श्रुति के पाठ में सैकड़ों व्यापारों के रहते हुए वर्ण या स्वर में अन्तर नहीं आता, वह उत्तम श्रुति है ।।११६½।।

पाठ के समय सावधान रहने पर, दूसरे समय असावधान रहने पर भी जो पहले ही की तरह बिना फिसले पढ़ा जा सके, वह मध्यम श्रुति है ।। ११७½ ।।

जो हमेशा प्रयासपूर्वक ही पढ़ी जाय और पाठ में अनेक भूलें भी हों, वह अधम श्रुति कहलाती है ।। ११८½ ।।

मुनियो ! इसी तरह आत्मविज्ञान की सिद्धि भी तीन तरह की कही गई है । जो अधिक व्यवहृत होने पर या बिना प्रयास के भी रहती है वह उत्तम; जो व्यापार के बिना भी स्वभावसिद्ध है वह मध्यम; और जो हमेशा अत्मानुसंधान करते रहने पर ही कम या बेशी भाव से मिलती है, वह अधम सिद्धि है । इनमें उत्तम सिद्धि की ही पराकाष्ठा मानी गई है ।। ११९–१२१ ।।

जब सपने में भी जगे हुए की तरह ही उत्तम स्थिति बनी रहे तब वह सिद्धि परम उत्कृष्ट मानी गई है ।। १२२ ।।

जब पहले के संस्कार जगने पर हर तरह के व्यवहार में प्रयत्न करने पर रुचि जग जाती हो तो उसे हम सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं ।। १२३ ।।

अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि ।
अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठां समागता ॥ १२४ ॥
व्यवहारपरो भावान् पश्यन्नपि न पश्यति ।
द्वैतं तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२५ ॥
जागरादौ व्यवहरन्नपि निदितवद्यदा ।
स्थितिस्तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२६ ॥
एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते ।
व्यवहारपरो नित्यं न समाधिं विमुञ्चति ॥ १२७ ॥
कदाचिदपि मेधावी स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
ज्ञानिनां विविधानां च स्थितिं जानाति सर्वदा ॥ १२८ ॥
स्वानुभूत्या स्वान्तरेव स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
संशयो वापि कामो वा यस्य नास्त्येव लेशतः ॥ १२९ ॥
निर्भयो व्यवहारेषु स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
सर्वं सुखञ्च दुःखञ्च व्यवहारञ्च जागतम् ॥ १३० ॥
स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
अत्यन्तं बद्धमात्मानं मुक्तञ्चापि प्रपश्यति ॥ १३१ ॥
यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
यः पश्यन् बन्धजालानि सर्वदा स्वात्मनि स्फुटम् ॥ १३२ ॥

बिना प्रयास ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में निरन्तर ठहराव मिल जाय तो सिद्धि की पराकाष्ठा हो जाती है ॥ १२४ ॥

कामकाज में लगे रहने पर भी जब अनेक वस्तुओं को देखने के बावजूद वे दिखलाई न पड़े तो वैसी स्थिति में उत्तमा सिद्धि अपनी पूर्णता को पा लेती है । जगे रहने पर कामकाज करते समय जब सपने की अनुभूति हो तब सिद्धि की पूर्णता जाननी चाहिए । ऐसी सिद्धि प्राप्त पुरुष सिद्धों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥१२५–१२६½॥

लगातार कामकाज में लगे रहने पर भी जो कभी समाधि को नहीं छोड़ता, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२७½ ॥

अपने अनुभव के द्वारा जो अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियों की स्थितियों को जब चाहे जान लेता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२८½ ॥

जिसके मन में थोड़ी भी कामना या संशय नहीं है और कामकाज में किसी तरह का डर नहीं है, वह व्यक्ति सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२९½ ॥

सभी सुख, दुःख और दुनियादारी को जो अपनी आत्मा में ही प्रतिबिम्बित देखता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३०½ ॥

अत्यन्त बद्ध या मुक्त पुरुष को जो अपनी आत्मा में प्रतिभासित देखता है, वह सर्वात्मा सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३१½ ॥

मोक्षं नापेक्षते क्वापि स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित् ॥ १३३ ॥
एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं सुस्पष्टमनुयुक्तया ।
एतन्मयोक्तं विज्ञाय न क्वचित् परिमुह्यते ॥ १३४ ॥
इत्युक्त्वा सा परा विद्या विरराम भृगूद्वह ।
श्रुत्वैतदृषयः सर्वे सन्देहमपहाय च ॥ १३५ ॥
नत्वा शिवादीन् लोकेशान् जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
विद्यागीता मयैषा ते प्रोक्ता पापौघनाशिनी ॥ १३६ ॥
श्रुता विचारिता सम्यक् स्वात्मसाम्राज्यदायिनी ।
विद्यागीताऽत्युत्तमेयं साक्षाद्विद्या निरूपिता ॥ १३७ ॥
पठतां प्रत्यहं प्रीता ज्ञानं दिशति सा स्वयम् ।
संसारतिमिराम्भोधौ मज्जतां तरणिर्भवेत् ॥ १३८ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विद्यागीता नाम विंशोऽध्यायः ।

समस्त बन्धनों को अपनी आत्मा में ही सदैव प्रतिभासित देखकर जिसे कभी मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३२½ ॥

अधिक क्या, वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ । मुझमें उससे कभी कोई अन्तर नहीं है । मुनियो ! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया । मेरे कथन का अभिप्राय ठीक से समझ लेने पर फिर मोह होता ही नहीं ॥ १३३–१३४ ॥

हे परशुराम ! इतना बोलकर वह पराविद्या मौन हो गई । उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियों का सन्देह दूर हो गया । शिवसहित देवताओं को प्रणाम कर वे सभी अपनी-अपनी जगह लौट गये ॥ १३५½ ॥

यह मैंने तुम्हें समस्त पापों को विनष्ट करनेवाली विद्यागीता सुनायी । इस पर यदि ठीक ढंग से श्रवण-मनन किया जाय तो उसे अपने आत्मानन्द का साम्राज्य मिल जाय ॥ १३६½ ॥

प्रत्यक्ष विद्यादेवी द्वारा प्रतिपादित यह विद्यागीत है । जो आदमी इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं, उन पर विद्यादेवी प्रसन्न होकर उन्हें ज्ञानदान देती हैं । इस संसाररूप अन्धकार के समूह में डूबनेवालों के लिए यह सूर्य या नौका के समान है ॥ १३७–१३८ ॥

विशेष—इस श्लोक में 'तरणि' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है । कोषगत इसका अर्थ सूर्य और नौका दोनों ही है । यहाँ सागर में डूबने से बचाने के लिए नौका तथा अन्धकार में डूबने से बचाने के लिए सूर्य अर्थ का श्लिष्ट प्रयोग सूपयुक्त है ।

बीसवाँ अध्याय समाप्त ।

एकविंशोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं भार्गवो रामो दत्तात्रेयमुनीरितम् ।
अविद्याजालविभ्रान्तेर्मुक्तप्रायो बभूव ह ॥ १ ॥
पुनः पप्रच्छाऽत्रिसुतं किञ्चिन्नत्वा सुभक्तितः ।
भगवन् ब्रूहि विज्ञानसाधनं सुविनिश्चितम् ॥ २ ॥
सारभूतञ्च सुलभं यत् साक्षात् फलदायकम् ।
ज्ञानिनां लक्षणञ्चापि येन ज्ञास्यामि तान् द्रुतम् ॥ ३ ॥
ज्ञानिनां देहसंयोगे वियोगे च स्थितिं यथा ।
व्यवहारं कुर्वतां चाप्यनासक्तं मनः कथम् ॥ ४ ॥
एतत् सर्वं सुकृपया स्पष्टं मे वक्तुमर्हसि ।
एवमत्रिसुतः पृष्टो जमदग्निसुतेन वै ॥ ५ ॥
सन्तुष्टः प्राह करुणासिन्धुः सम्बोध्य भार्गवम् ।
शृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ज्ञानसाधनम् ॥ ६ ॥
ज्ञानस्य साधनं मुख्यं देवतानुग्रहः परः ।
यः सर्वभावतः स्वातमदेवतामुपसङ्गतः ॥ ७ ॥
तस्य ज्ञानं सुसुलभं भवतीति विनिश्चयः ।
एतत् सर्वोत्तमं राम प्रोक्तं ज्ञानस्य साधनम् ॥ ८ ॥

(ज्ञान के प्रमुख साधन, ज्ञानियों के लक्षण तथा हेमाङ्गद एवं ब्रह्मराक्षस का संवाद)

इस तरह परशुरामजी गुरु दत्तात्रेय का उपदेश सुनकर अविद्याजालरूपी संशय से प्रायः मुक्त हो गये ॥ १ ॥

अतिविनत भाव से भक्तिपूर्वक गुरु दत्तात्रेय को प्रणाम कर उन्होंने फिर पूछा—भगवन् ! ज्ञान पाने के लिए बिलकुल निर्णीत एवं पक्का साधन क्या है ? यह समझा दें । वह साधन सुलभ हो और मोक्षरूपी फल देनेवाला हो । ज्ञानियों को देखते ही मैं पहचान लूँ; इसके लिए उनका लक्षण भी बतलाने का कष्ट करें ॥ २–३ ॥

देह के साथ लगाव या अलगाव में उनकी हालत कैसी रहती है ? कामकाज करते समय भी उनका मन उनसे लिप्त क्यों नहीं होता ? ये सभी बातें कृपया मुझे साफ-साफ समझा दें ॥ ४–५ ॥

परशुरामजी का यह प्रश्न सुनकर दयालु गुरु दत्तात्रेयजी ने काफी प्रसन्न होकर कहा—सुनो परशुराम ! मैं तुम्हें ज्ञान का गुप्त साधन बतलाता हूँ ॥ ५–६ ॥

परमात्मा का परम अनुग्रह ही ज्ञान का प्रमुख साधन है । जो आदमी पूरी

अन्यानपेक्षमेतत्तु फलसंसाधने क्षमम् ।
एतद्विहायान्यदत्र न सम्यक् फलदं भवेत् ॥ ९ ॥
शृण्वत्र कारणं राम सकारणमिदं भवेत् ।
विज्ञानं केवलचितिर्या सर्वस्यावभासिका ॥ १० ॥
तस्यावभासरूपायाः कल्पितावरणन्तु यत् ।
विचारात् तदपोहेन तत् स्वरूपोपलक्षणम् ॥ ११ ॥
तच्चान्येषां बहिर्भावतत्पराणां सुदुर्लभम् ।
भक्तानामन्यपरताहानेन तत्परत्वतः ॥ १२ ॥
सुलभं शीघ्रसम्प्राप्यं भवत्येव सुनिश्चितम् ।
देवतातत्परस्त्वेव भूत्वा स्वल्पान्यसाधनः ॥ १३ ॥
ज्ञात्वा कथञ्चिदात्मानमन्यान् प्रति निरूपयेत् ।
निरूपयन् सदा राम समावेशं समाप्नुयात् ॥ १४ ॥
एवं निरूपणाद्यैस्तु समावेशे दृढे सति ।
शिवतामाप्य तच्चित्तं हर्षोद्वेगविवर्जितम् ॥ १५ ॥

लगन के साथ इस आत्मदेव की शरण में जाता है, उसके लिए ज्ञान सुलभ हो जाता है—यह तथ्य-निर्णीत है । अतः हे परशुराम ! ज्ञान का परमोत्कृष्ट साधन यही है ॥ ७–८ ॥

किसी दूसरे साधन की सहायता के बिना ही यह साधन ज्ञान का फल दिलाने में सक्षम है और यदि यह न हो तो दूसरा कोई साधन ठीक-ठीक फल नहीं दिला सकता है ॥ ९ ॥

हे परशुराम ! इसकी वजह सुनो, यहं बात बेवजह नहीं है । दरअसल ज्ञान अपने आप में शुद्धचेतन ही है । यह तो सबका प्रकाशक है ॥ १० ॥

इस चेतन का स्वरूप प्रकाश है । यह प्रकाश एक नकली ढक्कन से ढका है । इस पर विचार करते ही इसका नकली आवरण हट जाता है और असली रूप साफ झलकने लगता है ॥ ११ ॥

किन्तु दूसरे साधकों को, जो दुनियादारी में लगे रहते हैं, ऐसा होना बड़ा कठिन है । भक्तों को भगवान् के सिवा और किसी से तो लगाव होता ही नहीं । अतः उन्हें यह फल बड़ी आसानी से मिल जाता है—यह बात बिलकुल निश्चित है ॥ १२½ ॥

पर जो परमात्मा में दिन-रात लगे हैं, वे यदि वैराग्य जैसे दूसरे साधनों का भी थोड़ा सहारा लेकर उस परमतत्त्व से परिचित होकर दूसरे साधकों के सामने लगातार उसका बखान करें तो निश्चय ही वे परमात्मा की तरह हो जायेंगे ॥ १३-१४ ॥

इस तरह परमात्मा के सम्बन्ध में विवेचनापूर्वक निश्चय करते हुए जब उसकी समानता पक्की हो जाय तब उन्हें शिवत्व मिल जाता है । वे दुःख और सुख से परे हो

यत्र यत्र व्रजति तत् सर्वं तच्छिवसात्कृतम् ।
करोत्युत्तमविज्ञानी जीवन्मुक्तपदस्थितः ॥ १६ ॥
तस्मात् सुभक्तियोगेनान्येभ्यो भूयो निरूपणम् ।
श्रेष्ठं साधनमेतत्तु नान्यदेतत्समं भवेत् ॥ १७ ॥
भक्त्या निरूपणसमं न भवेदन्यसाधनम् ।
ज्ञानिनां लक्षणं राम दुर्विज्ञेयं भवेत् खलु ॥ १८ ॥
यतः सर्वान्तरं तत्तु नेत्रवागाद्यगोचरम् ।
न निरूपयितुं शक्यं लक्षितुं वा परैः क्वचित् ॥ १९ ॥
यथा शास्त्रज्ञता लोके त्वन्यैर्न ज्ञायते क्वचित् ।
देहवस्त्रभूषणाद्यैरेवमन्यैर्न वेद्यते ॥ २० ॥
विद्वत्ता हि स्वसंवित्तिमात्रवेद्या न चान्यथा ।
यथा संस्वादितरसरसज्ञत्वं हि भार्गव ॥ २१ ॥
तथापि चतुरैर्विद्यावद्भिस्तद्भाषणादिभिः ।
वेद्यते हि यथा स्वस्य मार्गः सूक्ष्मपिपीलकैः ॥ २२ ॥
सन्ति स्थूललक्षणानि त्वनेकान्तानि तानि तु ।
सूक्ष्मलक्ष्माणि चान्यानि दुर्विज्ञेयानि वै परैः ॥ २३ ॥

जाते हैं । ऐसे लोग जहाँ कहीं भी जाते हैं वहाँ शिवमय कर देते हैं । ऐसे ज्ञानी उत्कृष्ट होते हैं और जिन्दा रहकर भी जीवन्मुक्त बन जाते हैं ॥ १५–१६ ॥

भक्तिभाव से दूसरे जिज्ञासुओं के सामने बार-बार आत्मतत्त्व का विवेचन करना ही श्रेष्ठ साधन है । इसके समान और कोई दूसरा साधन है ही नहीं । सचमुच भक्तिपूर्वक इस आत्मतत्त्व का विवेचनापूर्वक निश्चय करने से बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥ १७½ ॥

परशुराम ! रही बात ज्ञानियों के लक्षण की, सो इसे जानना तो बड़ा ही कठिन है । इसका असली रूप तो भीतरी है । इसे न तो आँखों से देखा जा सकता है और न ही यह इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला है । दूसरा कोई इसका न तो विवेचन कर सकता है और न दर्शन ही ॥ १८–१९ ॥

जैसे किसी की देह कैसी है ? उसके कपड़े और जेवर कैसे हैं ? यह जाना जा सकता है, उसी तरह उसका शास्त्र-ज्ञान तो नहीं जाना सकता; ठीक उसी तरह किसी के ज्ञान की थाह पाना संभव नहीं है ॥ २० ॥

शरबत की मिठास की अनुभूति तो जैसे शरबत पीनेवाले को ही होती है, उसी तरह तत्त्वज्ञता की अनुभूति आत्मा को ही होती है, दूसरे को नहीं ॥ २१ ॥

फिर भी नन्हीं-नन्हीं चिटियाँ जैसे अपनी राह आप खोज लेती हैं, उसी तरह चतुर विद्वान् पुरुष ज्ञानियों की बातें सुनकर उन्हें पहचान ही लेते हैं ॥ २२ ॥

इनमें कई स्थूल लक्षण बतलाये गये हैं, किन्तु वे लक्षण केवल इन्हीं में हो ऐसी

निरूपणं भाषणञ्च साधनाभिनयस्तथा ।
ज्ञानिनामिव चान्यैस्तु कुर्त्तुं शक्यो हि लक्ष्यते ॥ २४ ॥
अनिर्मलान्तःकरणैरभ्यस्तं ज्ञानसाधनम् ।
स्थिरीभवति यत्तेषां लक्षणं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥ २५ ॥
यस्य मानावमानौ च लाभालाभौ जयाजयौ ।
नेषद्विशेषितुं शक्तौ विद्यात्तं ज्ञानिषूत्तमम् ॥ २६ ॥
स्वात्मानुभववार्त्तासु पृष्टो गूढार्थमप्युत ।
असन्दिग्धः प्रतिवदेज्झटिति ज्ञानिषूत्तमः ॥ २७ ॥
यस्योत्साहो भवेज्ज्ञानं वार्त्तास्वतितरां किल ।
निरूपणे ह्यवैमुख्यं ज्ञानिनो लक्षणं हि तत् ॥ २८ ॥
अनारम्भः स्वभावेन सन्तोषः शुचिचित्तता ।
महापत्स्वपि शान्तात्मा स भवेज्ज्ञानिषूत्तमः ॥ २९ ॥
एतदादीनि लक्ष्माणि भार्गवोत्तमाज्ञनिनाम् ।
स्वात्मनस्तु परीक्षायां सुस्थिराणि न संशयः ॥ ३० ॥
साधकस्तु सदा स्वात्मपरीक्षातत्परो भवेत् ।
यथा परीक्षणेऽन्यस्य निपुणः सम्प्रवर्त्तते ॥ ३१ ॥

बात नहीं है । इसी तरह अनेक सूक्ष्म लक्षण भी इनमें हैं, किन्तु दूसरे लोग इन्हें जान नहीं पाते ।। २३ ।।

इस तरह देखने में आता है कि ज्ञानियों की तरह निरूपण, भाषण एवं साधनों का नाटक दूसरे लोग भी कर सकते हैं ।। २४ ।।

जिनका भीतरी मन पवित्र नहीं है, ऐसे लोग भी यदि ज्ञान के किसी साधन का अभ्यास करते हैं तो वे उनमें स्थिर हो जाते हैं और वही उनका लक्षण बन जाता है ।। २५ ।।

जिनके मन में मान-अपमान, हानि-लाभ, हार-जीत में कोई फर्क नहीं पड़ता वे उत्तम ज्ञानी माने गये हैं ।। २६ ।।

अपनी आत्मा के बारे में यदि कोई कठिन सवाल पूछे और उसका सही निश्चित जवाब उसी क्षण कोई दे दे, तो वह ज्ञानियों में उत्तम है ।। २७ ।।

ज्ञान की चर्चा में जिसकी रुचि हो, उसकी विवेचना में जो पीछे न हटे—यह भी उस व्यक्ति के ज्ञानी होने का ही लक्षण है ।। २८ ।।

स्वभाव से ही किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति मन का लगाव न हो, मन में सन्तोष हो, हृदय से पवित्र हो, गाढ़ी विपत्ति में भी घबड़ाने की अपेक्षा शान्त रहे, वह ज्ञानियों में उत्तम है ।। २९ ।।

परशुराम ! ज्ञानियों के कुछ ऐसे और भी लक्षण हैं । किन्तु इतना निश्चित है कि वे अपनी परीक्षा में सुस्थिर हैं ।। ३० ।।

तथा परीक्षन् स्वात्मानं सिद्धिं न कथमाप्नुयात् ।
यदान्यगुणदोषाणामविचारणतत्परः ॥ ३२ ॥
स्वीयानां गुणदोषाणां विचारपरमो भवेत् ।
तदा सर्वसाधनानां प्राप्त्या सिद्धिमुपेष्यति ॥ ३३ ॥
एवं प्रोक्तानि लक्ष्माणि ज्ञानिनां भृगुनन्दन ।
स्वात्मनस्तु परीक्षायामुपयुक्तानि सर्वथा ॥ ३४ ॥
अन्येषान्तु परीक्षायामनेकान्तान्यमूनि तु ।
यतो ये ज्ञानिनोऽत्यन्तशुद्धस्वान्ता भृगूद्वह ॥ ३५ ॥
तेषामापातसंसिद्धसाधनैः सिद्धिरास्थिता ।
अतः पूर्ववासनानुरोधव्यापारतत्पराः ॥ ३६ ॥
कथं परीक्षणीयास्ते सामान्यव्यवहारिणः ।
ज्ञानिनस्तु तत्परीक्षां कुर्युरभ्यासवैभवात् ॥ ३७ ॥
आपातदर्शनादेव यथा रत्नपरीक्षकाः ।
मन्दज्ञानवतां देहसंस्था मूढसमैव हि ॥ ३८ ॥
यतो न तेषां सहजसमाधिप्राप्तिरस्ति हि ।
यावद्विमर्शनपरास्तावत्ते पूर्णरूपिणः ॥ ३९ ॥

साधक को तो अपने मन की जाँच-पड़ताल में हमेशा लगे रहना चाहिए । वह जैसे बड़ी होशियारी से दूसरों की जाँच में लगा रहता है, उसी तरह यदि अपनी जाँच करता रहे तो भला उसे सिद्धि कैसे नहीं मिलेगी ? ॥ ३१½ ॥

आदमी जिस समय दूसरों के गुण-दोषों की विवेचना करने की जगह अपने ही गुण-दोषों की छानबीन में लग जायेगा, उसी क्षण वह हर तरह के साधनों को पाकर सिद्धि तो पा ही लेगा ॥ ३२-३३ ॥

हे भृगुनन्दन ! इस तरह यहाँ ज्ञानियों के जो लक्षण बतलाये गये हैं वे तो बिलकुल अपने मन की परीक्षा के लिए ही उपयुक्त हैं ॥ ३४ ॥

लेकिन ये लक्षण दूसरों की जाँच-पड़ताल के लिए बिलकुल ही उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि हे परशुराम ! जिनका मन बिलकुल पाक-साफ है उन्हें तो शुरू में ही अनेक अन्य साधनों से सिद्धि मिल ही जाती है ॥ ३५½ ॥

अतः वे अपने पहले के संस्कार के मुताबिक ही काम-धन्धे में लगे रहते हैं । ऐसे साधारण काम-काजियों की जाँच-पड़ताल तुम कैसे कर सकोगे ? उनकी जाँच तो अपने अनुशीलन की ताकत से ज्ञानीजन ही कर पायेंगे । कोई जौहरी ही तो रत्न को देखते ही परख सकता है, दूसरा नहीं ॥ ३६-३७½ ॥

सुस्त ज्ञानियों की देह की स्थिति तो अज्ञानियों की तरह ही होती है, क्योंकि उन्हें सहज समाधि प्राप्त नहीं होती ॥ ३८½ ॥

ऐसे ज्ञानी जब तक विचार में डूबे रहते हैं तब तक तो वे अपने पूरे स्वरूप में ही

यदा विचारमुखास्तदा देहमयत्वक्तः ।
सुखदुःखजुषोऽत्यन्तं पशुतुल्यतया स्थिताः ॥ ४० ॥
मध्ये मध्ये पूर्णदशासादनान्निर्वृता अपि ।
तेषां या सा पशुदशा सद्विमर्शान्तरालगा ॥ ४१ ॥
न बन्धनाय भवति दग्धरज्जुरिव स्थिता ।
लाक्षारसैर्यदा वस्त्रप्रान्तयुग्मं सुरञ्जितम् ॥ ४२ ॥
व्याप्त्या वासोमध्यमपि सर्वं लाक्षारुणं भवेत् ।
एवं तस्य व्यवहृतिश्चिदामर्शनमध्यगा ॥ ४३ ॥
चिद्रूपात्मैकतां याता न ततो बन्धनाय सा ।
मध्यविज्ञानिनां देहसंयोगो नास्ति सर्वथा ॥ ४४ ॥
देहात्मत्वग्रहो देहसंयोगः प्रोच्यते बुधैः ।
स नास्ति मध्यविज्ञानवतो राम कदाचन ॥ ४५ ॥
अभ्यासातिशयात्तस्य मनो लीनं हि सर्वदा ।
सदा समाहितस्वान्तो व्यवहारो न तस्य हि ॥ ४६ ॥
यो देहयात्रानिर्वाहः सोऽपि तस्य सुषुप्तिवत् ।

रहते हैं, किन्तु जब तक वे विचारोन्मुख नहीं होते तो देह के प्रति मिथ्याज्ञान होने के कारण सुख-दुःख की तीव्र अनुभूतिवश पशु की तरह रहते हैं ॥ ३९–४० ॥

बीच-बीच में उन्हें पूर्ण दशा आती रहती है। इसी से उन्हें शान्ति का अनुभव होता है। फिर भी उस अच्छे विचार के बीच में उन्हें जो पशुदशा प्राप्त होती है, वह तो जली हुई रस्सी की तरह होती है। यही कारण है कि यह रस्सी उनके बन्धन का कारण नहीं बनती ॥ ४१½ ॥

जब किसी कपड़े के दोनों छोर महावर से रंग दिये जाते हैं तो रंग के फैल जाने से कपड़े का बीच का हिस्सा अपने-आप लाल हो जाता है ॥ ४२½ ॥

कहा जा चुका है कि 'परमात्मा चित्स्वरूप है' उनका चिन्तन करते हुए बीच-बीच में जो काम-काज होता है, वह भी उस परमात्मा से अलग नहीं होता है। यही कारण है कि यह काम-काज साधक का बन्धन नहीं बन पाता है ॥ ४३½ ॥

औसत दर्जे के ज्ञानियों को देह के साथ कोई लगाव नहीं रहता। होशियार लोग देह में आत्मबुद्धि को ही देह का लगाव कहते हैं ॥ ४४½ ॥

परशुराम ! औसत दर्जे के ज्ञानियों को देह का लगाव कभी नहीं होता। क्योंकि लगातार अनुशीलन से उनका मन हमेशा उसी परमात्मा में लगा रहता है ॥ ४५½ ॥

जिस समय उसका भीतरी मन समाधि में लीन रहता है, उस समय उसका बाहरी व्यवहार बिलकुल बन्द रहता है। उसका खान-पान, चलना-फिरना या अन्य दैहिक क्रियाएँ तो गहरी नींद में किये गये काम की तरह ही होते हैं ॥ ४६½ ॥

यथा कश्चित् सुषुप्तिस्थो वासनामात्रतः क्वचित् ॥ ४७ ॥
किञ्चिदुक्त्वा च कृत्वा च न पश्चाद्वेद किञ्चन ।
यथा च मदिरामत्तो वदन् कुर्वन्न वेद वै ॥ ४८ ॥
एवमेष महायोगी लोकयात्राबहिर्गतः ।
किञ्चित् कदाचित् कुर्वंश्च न विजानाति तत् पुनः ॥ ४९ ॥
प्रारब्धवासनाभ्यां तु स देहो निर्वहेत् सदा ।
यस्तूत्तमः स विज्ञानी देहस्तस्यापि नास्ति हि ॥ ५० ॥
व्यवहारं करोत्येष रथसारथिवत् स्थितः ।
यथा रथेन व्यापारं कुर्वन्न रथदेहकः ॥ ५१ ॥
सारथिः स्यादेवमेव देहव्यापारतत्परः ।
न देही नापि व्यापारी शुद्धसंवेदनात्मकः ॥ ५२ ॥
अन्तरत्यच्छसुस्वान्तो बहिर्व्यवहरत्यसौ ।
यथा स्त्रीवेषितो नाटचे द्वैरूप्यमुपसङ्गतः ॥ ५३ ॥
यथा क्रीडन् कुमारेण प्रौढस्तद्दोषवर्जितः ।
एवमेष जगत्क्रीडातत्परो निर्मलाशयः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई सोया हुआ आदमी पहले की गई इच्छा के मुताबिक सपने में कुछ बोल या कर बैठता है तो पीछे जगने पर उसे इस कृत्य का कोई पता नहीं चलता ॥४७½॥

जैसे कोई मदहोश शराबी नशे की झोंक में अनजाने ही कुछ बोलता या करता रहता है । खुमारी उतरने पर उसे पता नहीं चलता कि उसने क्या कहा या किया ? ठीक उसी तरह दुनियादारी से दूर रहनेवाला एक योगी कभी कुछ करता भी है तो बाद में उसे इसका पता ही नहीं चलता ॥ ४८–४९ ॥

ऐसे लोग अपनी देहयात्रा का निर्वाह तो नियति या पूर्वाभ्यास के कारण ही करते हैं । किन्तु जो उत्कृष्ट ज्ञानी है, उनका लगाव देह के साथ बिलकुल नहीं होता । पर रथ पर सवार सारथी की तरह देह के साथ व्यवहार करते हैं ॥ ५०½ ॥

जैसे सारथी रथ पर सवार होकर अपना काम-काज तो करता है, पर वह रथ नहीं हो जाता है । इसी तरह उत्तम ज्ञानी देहयात्रा का निर्वाह करते हुए भी न तो देह बन जाते हैं और न देहयात्रा के निर्वाहक ही । वे तो विशुद्ध ज्ञानी ही बने रहते हैं ॥ ५१–५२½ ॥

वे तो भीतर से बिलकुल पाक-साफ और अपने असली रूप में मौजूद रहते हुए ही ऊपर-ही-ऊपर दुनियादारी का निर्वाह करते हैं । जैसे रंगमंच पर स्त्री के वेश में उतरनेवाला पुरुष अपने दोनों रूप में समान रूप से मौजूद रहता है ॥ ५३ ॥

अथवा जैसे बच्चों के साथ खेलनेवाले सयाने लोग खेल की हार-जीत से बरी रहते हैं, उसी तरह उत्तम ज्ञानी सांसारिक जंजाल में फँसकर भी पाक-साफ बने रहते हैं ॥ ५४ ॥

मध्यज्ञानी निरोधस्य प्रकर्षेणाचलस्थितिः ।
अचलस्थितिरेतस्य विचारस्य प्रकर्षतः ॥ ५५ ॥
बुद्धेस्तु परिपाकेन मध्यमोत्तमयोर्भिदा ।
अत्र ते शृणु वक्ष्यामि संवादं ज्ञानिनोर्मिथः ॥ ५६ ॥
पुरा हि पर्वतेशोऽभूद्राजा रत्नाङ्गदाह्वयः ।
स विपाशामनु पुरीमध्यासीदमृताभिधाम् ॥ ५७ ॥
तस्य पुत्रौ महात्मानौ स्थितावतिमनीषिणौ ।
रुक्माङ्गदहेमाङ्गदौ जनकस्यातिवल्लभौ ॥ ५८ ॥
तत्र रुक्माङ्गदो ह्यासीच्छास्त्राणां पारदर्शनः ।
हेमाङ्गदोऽतिविज्ञानी ज्ञानिनामुत्तमोऽभवत् ॥ ५९ ॥
तावुभौ निर्गतौ सर्वसेनाभिः परिवारितौ ।
मृगयार्थं वसन्तेषु ययतुर्गहनं वनम् ॥ ६० ॥
तत्रानेकान् मृगान् व्याघ्रान् शशकान् महिषानपि ।
हत्वाऽत्यन्तपरिश्रान्तावासाद्य ह्लदमास्थितौ ॥ ६१ ॥
तद्ध्रदस्य परे पारे न्यग्रोधे ब्रह्मराक्षसः ।
समस्तशास्त्रपारज्ञो विद्वद्भिर्विवदत्यलम् ॥ ६२ ॥

औसत दर्जे के मध्यम ज्ञानियों की स्थिति तो बहुत ज्यादे अवरोध के कारण अटल बनी रहती है। किन्तु उत्तम कोटि के ज्ञानियों की स्थिति तो बेरोक पर विचार की उत्कृष्टता के कारण ही अटल बनी रहती है ॥ ५५ ॥

इस तरह बुद्धि की प्रौढ़ता की कमी-बेशी के हिसाब से उत्तम और मध्यम कोटि के ज्ञानियों का भेद होता है। इसके बारे में मैं तुम्हें दो ज्ञानियों का पारस्परिक संवाद सुनाता हूँ, सुनो ॥ ५६ ॥

पुराने जमाने की बात है—पहाड़ी इलाके में रत्नांगद नाम का एक राजा था। विपाशा नदी के किनारे अमृता नाम की नगरी में वह रहता था ॥ ५७ ॥

उस राजा को दो बेटे थे। एक का नाम रुक्मांगद और दूसरे का नाम हेमांगद था। दोनों ही बड़े बुद्धिमान्, उदारमना और पिता के अत्यन्त प्यारे थे ॥ ५८ ॥

उनमें रुक्मांगद तो सकलशास्त्र-विशेषज्ञ था और हेमांगद ज्ञानियों में श्रेष्ठ और आत्मदर्शी था ॥ ५९ ॥

एक बार अपनी सारी सेना के साथ दोनों भाई नगर से बाहर निकले। वसन्त का समय था। शिकार खेलने के लिए दोनों भाई सघन वन में घुस गये ॥ ६० ॥

वहाँ उन्होंने अनेक हिरनों, बाघों, खरहों और गेंडों को मार गिराया। फिर थक कर एक सरोवर के किनारे आकर बैठ गये ॥ ६१ ॥

उस सरोवर के दूसरे किनारे पर एक विशाल बरगद का पेड़ था। उस पेड़ पर

निर्जितान् भक्षयन्नास्ते चिरकालाद्धि भार्गव।
रुक्माङ्गदश्चारमुखान्निशम्य वादकौतुकी ॥ ६३ ॥
गत्वा तत्र भ्रातृयुतस्तेन वादपरोऽभवत्।
निर्जितस्तेन वादेषु गृहीतो ब्रह्मरक्षसा ॥ ६४ ॥
रुक्माङ्गदोऽथ तं दृष्ट्वा प्राह हेमाङ्गदस्तु तम्।
भो ब्रह्मराक्षसैनं त्वं न भक्षयितुमर्हसि ॥ ६५ ॥
मां जित्वाऽवरजं ह्यस्य ततो नौ सह भक्षय।
हेमाङ्गदवचः श्रुत्वा प्रोवाच ब्रह्मराक्षसः ॥ ६६ ॥
चिराय लब्धो ह्याहारो बुभुक्षा मां प्रबाधते।
एतेन पारणां कृत्वा विवदामि त्वया सह ॥ ६७ ॥
ततस्त्वामपि निर्जित्य भक्षितेन त्वया ततः।
अत्यन्तं तर्पितो भूयामिति मे नृप निश्चयः ॥ ६८ ॥
चिरादेष वरः प्राप्तो वसिष्ठात्तु महात्मनः।
कदाचिदागतः शिष्यो वसिष्ठस्य तु भक्षितः ॥ ६९ ॥
देवराताभिधस्तेन शप्तस्तेन महात्मना।

एक ब्रह्मराक्षस रहता था। वह शास्त्रज्ञान में पारंगत था। विद्वानों के साथ वह शास्त्रार्थ करता था ॥ ६२ ॥

हे परशुराम ! शास्त्रार्थ में वह जिसे पराजित कर देता था उसे खा जाता था। पिछले बहुत दिनों से उसका यह सिलसिला जारी था। रुक्मांगद को भी वाद-विवाद का शौक था। उन्हें जब इसकी खबर मिली तब वह भाई के साथ वहाँ जाकर उससे शास्त्रार्थ करने लगा ॥ ६३½ ॥

ब्रह्मराक्षस से रुक्मांगद हार गया। उसने रुक्मांगद को पकड़ लिया। यह देखकर हेमांगद ने कहा—'हे ब्रह्मराक्षस ! तुम इन्हें मत खाओ। मैं इनका छोटा भाई हेमांगद हूँ, हमें पहले जीत लो। फिर हम दोनों को एक साथ ही खा लेना ॥ ६४–६५½ ॥

हेमांगद की बात सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—मुझे बहुत जोर से भूख लगी है। बहुत दिनों के बाद मुझे यह आहार मिला है। पहले मुझे इसका पारण कर लेने दो फिर तुमसे शास्त्रार्थ कर लूँगा ॥ ६६–६७ ॥

फिर तुम्हें भी जीत कर खा लूँगा तो मेरा पेट भर जायेगा। राजन् ! यही मेरा विचार है ॥ ६८ ॥

बहुत दिन बीत गये। महर्षि वशिष्ठ ने मुझे ऐसा ही वरदान दिया था। एक बार उनका देवरात नामक शिष्य यहाँ आया था, उसे मैं खा गया तो उन्होंने मुझे शाप दिया ॥ ६९½ ॥

इतः परं भक्षयित्वा मनुष्यं ब्रह्मराक्षसः ॥ ७० ॥
दग्धं भवेत्तव मुखमिति पश्चान्मया मुनिः ।
भूयः सम्प्रार्थितो मह्यं प्रायच्छद्वरमुत्तमम् ॥ ७१ ॥
वादेषु निर्जितान् मर्त्यान् भक्षय त्वं समन्ततः ।
इति तद्वादविजितान् भक्षयामि ततस्त्वहम् ॥ ७२ ॥
चिरायैष मया प्राप्त आहारः सर्वतोऽधिकः ।
भक्षयित्वा ततो वादे त्वां विजेष्यामि भूमिप ॥ ७३ ॥
इत्युक्त्वा भक्षणोद्युक्तं पुनर्हेमाङ्गदोऽब्रवीत् ।
ब्रह्मराक्षस मद्वाक्यं किञ्चिच्छृणु मया चितः ॥ ७४ ॥
अपि किञ्चित् त्राप्यं चैनं परित्यजसि तद्वद ।
दत्वा तुभ्यं तदेनं तु मोचयामि सहोदरम् ॥ ७५ ॥
इत्युक्तः प्राह भूयस्तं नृपं स ब्रह्मराक्षसः ।
श्रृणु राजन्नास्ति तद्वै किञ्चिद्येनैनमुत्सृजे ॥ ७६ ॥
कः प्राणप्रियमाहारं त्यजेत् कालोपसङ्गतम् ।
किन्त्वेकः समयो मेऽस्ति प्रश्ना मे हृदि संस्थिताः ॥ ७७ ॥
तान्मे यदि प्रतिब्रूयास्तत्ते भ्रातरमुत्सृजे ।
ततो हेमाङ्गदः प्राह पृच्छ तान् संवदामि ते ॥ ७८ ॥

हे ब्रह्मराक्षस ! इसके बाद यदि तुम किसी आदमी को खाओगे तो तुम्हारा मुँह जल जायेगा।' फिर मैंने जब उनकी काफी विनती की तब उन्होंने यह सुन्दर वर दिया ॥ ७०–७१ ॥

'शास्त्रार्थ में पराजित आदमी को तुम खा सकते हो' इसीलिए शास्त्रार्थ में जिसे जीतता हूँ उसे मैं खा जाता हूँ ॥ ७२ ॥

बहुत दिनों के बाद राजन् ! मुझे यह सुन्दर आहार मिला है। पहले इसे खा लेता हूँ, बाद में तुम्हें जीतूँगा ॥ ७३ ॥

इतना कहकर वह रुक्माङ्गद को खाने के लिए तैयार हो गया। यह देखकर हेमाङ्गद ने कहा—ब्रह्मराक्षस ! मेरी एक छोटी-सी बात सुनो—बतलाओ, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मैं तुम्हें दूँ और वह लेकर तुम इन्हें छोड़ दो ॥ ७४–७५ ॥

यह सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—राजन् ! सुनो ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसके बदले में मैं इसे छोड़ दूँ ॥ ७६ ॥

भला इतने दिनों के बाद अपने प्रिय आहार को पाकर उसे कौन छोड़ना चाहेगा ? किन्तु मेरी एक शर्त है, मेरे मन में कुछ सवाल हैं। यदि तुम उसका सही जबाव दे दोगे तो तुम्हारे भाई को छोड़ दूँगा ॥ ७७½ ॥

तब हेमाङ्गद ने कहा—'पूछो, मैं उसका जवाब दूँगा।' इतना सुनने के बाद

इत्युक्तो नृपपुत्रं तं पप्रच्छ ब्रह्मराक्षसः ।
गूढप्रश्नान् क्रमेणैव तद्वक्ष्ये शृणु भार्गव ॥ ७९ ॥
आकाशाद्वितता या स्यात् सूक्ष्मा च परमाणुतः ।
सा किंरूपा स्थिता कुत्र वदैतन्नृपपुत्रक ॥ ८० ॥
वितता चितिराकाशात् सूक्ष्मा च परमाणुतः ।
स्फुरद्रूपा स्वात्मसंस्था शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८१ ॥
एकापि साऽतिवितता कथं सूक्ष्मतरा भवेत् ।
स्फुरत्त्वं किं किमात्मा च वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८२ ॥
कारणत्वाद्धि वितता सूक्ष्माऽग्राह्यत्वतोऽपि च ।
स्फुरत्त्वमात्मा च चितिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८३ ॥
स्थानं तदुपलब्धौ किं कथं वा सोपलभ्यते ।
उपलब्ध्या च किं वा स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८४ ॥
धीः स्थानमुपलब्धौ तु स्वैकाग्र्यात् सोपलभ्यते ।
उपलब्ध्या जनिर्न स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८५ ॥
धीः केयं समाख्याता तदैकाग्र्यं च कीदृशम् ।
जनिर्वापि भवेत् का सा वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८६ ॥

उस ब्रह्मराक्षस ने कई गम्भीर सवाल पूछे। सुनो परशुराम ! वह सवाल कहता हूँ ॥ ७८–७९ ॥

हे राजकुमार ! बतलाओ, वह कौन सी वस्तु है जिसका फैलाव आकाश से भी ज्यादे है और परमाणु से भी छोटा है ? उसका रूप कैसा है और वह कहाँ रहती है ? ॥ ८० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! वह वस्तु चिति है। चिति आकाश से भी बड़ी और परमाणु से भी छोटी है। उसका रूप स्फुरण है। वह अपनी आत्मा में मौजूद है ॥ ८१ ॥

राजकुमार ! वह तो एक ही है, फिर एक साथ बहुत बड़ी और बहुत छोटी कैसे हो सकती है ? यह स्फुरण क्या है ? और फिर आत्मा क्या है ? बतलाओ ॥८२॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! सबका कारण होने की वजह से बहुत बड़ी है और इन्द्रियग्राह्य न होने के कारण सबसे छोटी है। स्फुरण और आत्मा तो चिति का ही अपर नाम है ॥ ८३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, उसे पाने की जगह कहाँ है ? कैसे वह पायी जा सकती है ? और उसे पा लेने पर क्या होता है ? ॥ ८४ ॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! उसे पाने की जगह बुद्धि है। एकाग्र मन से उसे पाया जाता है। उसे पा लेने पर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ८५ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, बुद्धि किसे कहते हैं ? उसकी एकाग्रता कैसे होती है ? और जन्म लेना क्या है ? ॥ ८६ ॥

चितिर्जाड्यावृता धीः स्यादैकाग्र्यं स्वात्मविश्रमः ।
जनिर्देहात्मताबुद्धिः श्रृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८७ ॥
कस्माच्चितेर्नोपलब्धिः केन वा सोपलभ्यते ।
जनिः कथं वा सम्प्राप्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८८ ॥
अविवेकान्नोपलब्धिरात्मना सोपलभ्यते ।
जनिः कर्तृत्वाभिमानाच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८९ ॥
कोऽविवेकस्त्वया प्रोक्तस्तथात्मा वापि को भवेत् ।
को वा कर्तृत्वाभिमानो वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९० ॥
अविवेकोऽपृथक्ज्ञानमात्मानं पृच्छ स्वात्मनि ।
तद्वासनाभिमानः स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९१ ॥
अविवेकः केन नश्येत् तस्य किं वा हि कारणम् ।
तस्यापि किं कारणं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९२ ॥
विचारेण स नश्येद्वै वैराग्यं तस्य कारणम् ।
तत्कारणं दोषदृष्टिः श्रृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९३ ॥
को विचारो भवेत् किं वा वैराग्यं सम्प्रचक्षते ।
दोषदृष्टिश्च का प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९४ ॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! जड़ता अर्थात् अविद्या से बिना ढकी पवित्र बुद्धि ही चिति है । अपनी आत्मा में ठहर जाना ही एकाग्रता है और देह में आत्मबुद्धि ही जन्म है ॥ ८७ ॥

राजकुमार ! तुम यह बतलाओ कि चिति मिलती क्यों नहीं ? वह साधन क्या है, जिसके माध्यम से वह मिलती है ? और जन्म कैसे होता है ? ॥ ८८ ॥

ब्रह्मराक्षस सुनो ! अपनी नादानी की वजह से चिति नहीं मिलती है । वह तो खुद ही मिल जाती है । काम करने के अहंकार से जन्म होता है ॥ ८९ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि तुमने नादानी किसे कहा ? स्वयं अर्थात् आत्मा क्या है ? कर्त्तापन का अभिमान क्या है ? ॥ ९० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! देह को आत्मा से अलग न समझना ही नादानी है । आत्मा क्या है ? इसे खुद से पूछो । 'मैं करता हूँ' ऐसा सोचना ही कर्त्तापन का घमण्ड है ॥ ९१ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, नादानी कैसे मिट सकती है ? उसका कारण क्या है ? और उस कारण का भी कोई कारण है क्या ? ॥ ९२ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! विचार करने से नादानी मिटती है । उसकी वजह विरक्ति है और विरक्ति का कारण विषयों में दोषदृष्टि है ॥ ९३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ कि विचार क्या है ? विरक्ति किसे कहते हैं ? दोषदृष्टि क्या कहलाती है ? ॥ ९४ ॥

दृग्दृश्ययो परीक्षातो दृश्ये तत्परिवर्जनम् ।
दुःखबुद्धिः सा हि दृश्ये श्रृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९५ ॥
एतत् सर्वं केन भवेत् स वा कस्मादवाप्यते ।
तत्र वा किं निदानं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९६ ॥
देवतानुग्रहात् सर्वं भक्त्या सा हि समाप्यते ।
निदानं सत्सङ्ग एव श्रृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९७ ॥
का देवता च सम्प्रोक्ता का च सा भक्तिरुच्यते ।
सन्तश्च कीदृशाः प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९८ ॥
देवता स्याज्जगद्धात्री भक्तिस्तत्परतोच्यते ।
सन्तः शान्ता दयावन्तः श्रृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९९ ॥
सदा बिभेति को लोके सदा दुःखपरोऽपि कः ।
सदा दैन्ययुतः को वा वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०० ॥
महाधनी सदा भीतो दुःखी बहुकुटुम्बवान् ।
आशाग्रस्तः सदा दीनः श्रृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०१ ॥
निर्भयः को भवेल्लोके निर्दुःखश्चापि को भवेत् ।
अदीनः सर्वदा कः स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०२ ॥

सुनो हे ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा और दृश्य की सही पहचान ही विचार है। दृश्य में राग नहीं रखना ही विरक्ति या वैराग्य है। दृश्य में दुःखात्मक बुद्धि का होना ही दोषदृष्टि है ॥ ९५ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि ये सब होंगे कैसे ? और तुमने जिन साधनों का उल्लेख किया है, वे भी कैसे मिलेंगे, उसका भी मूल कारण क्या है ? ॥ ९६ ॥

ब्रह्मराक्षस ! सुनो ये सब भगवान् की कृपा से होते हैं और भगवान् की कृपा तो उनकी भक्ति से होती है। भक्ति सत्संग से होती है ॥ ९६ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, भगवान् किसे कहते हैं ? भक्ति क्या है ? सन्त किसे कहा जाता है ? ॥ ९८ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! संसार को धारण करनेवाला जो है वही तो भगवान् है। उनमें मन को लीन कर देना उनकी भक्ति है। शान्त और दयालु पुरुष सन्त है ॥ ९९ ॥

राजकुमार ! यह भी बतला दो, दुनिया में हमेशा कौन डरता रहता है ? कौन दुःख में डूबा रहता है ? और कौन दीनता में डूबा रहता है ? ॥ १०० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! धन की अधिकता के कारण लोग हमेशा डरते रहते हैं। अधिक परिवार वाला आदमी दुःखी रहता है। आशा में फँसा आदमी दीन बना रहता है ॥ १०१ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ, दुनिया में निडर कौन हो सकता है ? बिना दुःख के कौन है ? हमेशा दीनताशून्य कौन है ? ॥ १०२ ॥

निर्भयः सङ्गरहितो निर्दुःखो जितमानसः ।
ज्ञातज्ञेयस्त्वदीनात्मा शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०३ ॥
दुर्लक्ष्यः स्यात् को हि लोके विदेहो दृश्यते च कः ।
निष्क्रियस्य क्रिया का स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०४ ॥
जीवन्मुक्तो हि दुर्लक्ष्यो विदेहो देहवानपि ।
तत्क्रिया निष्क्रयस्योक्ता शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०५ ॥
किमस्ति किं नास्ति लोके कोऽत्यन्तासम्भवी भवेत् ।
एतावदुक्त्वा नृपते मोचय द्रुतमग्रजम् ॥ १०६ ॥
दृगस्ति नास्ति वै दृश्यं व्यवहारो ह्यसम्भवी ।
उक्तमेतद्ब्रह्मरक्षो मुञ्च मद्भ्रातरं द्रुतम् ॥ १०७ ॥
श्रुत्वैतदथ सन्तुष्टो मुमोच ब्रह्मराक्षसः ।
रुक्माङ्गदं ततः पश्चादभवद्ब्राह्मणो हि सः ॥ १०८ ॥
तेजस्विनं तपोमूर्त्ति दृष्ट्वा ब्राह्मणरूपिणम् ।
पप्रच्छतू राजसुतौ को भवानिति शङ्कितौ ॥ १०९ ॥

हे ब्रह्मराक्षस ! सुनो, जिसे किसी में कोई अनुरक्ति नहीं है, वह हमेशा निडर रहता है । मन पर जिसका अधिकार है वह सदैव सुखी रहता है और जानने योग्य वस्तु को जिसने जान लिया है उसमें दीनता नहीं रहती ॥ १०३ ॥

राजकुमार ! तो फिर यह भी बतला दो कि संसार में बड़ी कठिनाई से जिसे पहचाना जाय वह कौन है ? देह के बिना भी कौन दिखलायी देता है ? जिसमें कोई क्रिया न हो उसकी क्रिया क्या है ? ॥ १०४ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! जो जीवित दशा में ही आत्मज्ञान द्वारा सांसारिक माया-बन्धन से छूट गया हो, ऐसे वीतराग की पहचान बड़ी कठिन है । वही देही होकर भी विदेह है और उसकी क्रिया को ही निष्क्रियकी क्रिया कहते हैं ॥ १०५ ॥

संसार में कौन-सी वस्तु है और कौन-सी नहीं है ? तथा बिलकुल असम्भव क्या है ? राजन् ! बस, इतना बतला देने पर मैं तुम्हारे भाई को तुरन्त ही छोड़ दूंगा ॥ १०६ ॥

ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा चेतन है और दृश्य नहीं है तथा व्यवहार असम्भव है । इस तरह मैंने तुम्हारे इस सवाल का भी जवाब दे दिया । अब तुम मेरे भाई को जल्द छोड़ दो ॥ १०७ ॥

यह सब सुनकर ब्रह्मराक्षस बड़ा खुश हुआ और उसने रुक्मांगद को छोड़ दिया । इसके बाद वह भी ब्रह्मराक्षस से ब्राह्मण बन गया ॥ १०८ ॥

उस ब्रह्मराक्षस को एक तेजस्वी तपःपूत ब्राह्मण के रूप में देखकर राजकुमारों ने सशंक होकर पूछा—आप कौन हैं ? ॥ १०९ ॥

अथ प्राह ब्राह्मणाग्र्यः स्ववृत्तं वै यथातथम् ।
अहं पुरा ब्राह्मणस्तु मगधेष्वभिविश्रुतः ॥ ११० ॥
वसुमानिति विख्यातः सर्वशास्त्रविशारदः ।
सभासु निर्जिता भूयो मया विद्याभिमानिना ॥ १११ ॥
विद्वांसः शतशो विप्रास्ततोत्यन्तसुगर्वितः ।
कदाचिन्मगधेशस्य सभायामष्टकं मुनिम् ॥ ११२ ॥
परावरज्ञं संशान्तं वादार्थी सङ्गतोऽभवम् ।
शुष्कतर्कैकनिपुण आत्मविद्याविचारणे ॥ ११३ ॥
ततो मया स आक्षिप्तः केवलं तर्कयुक्तिभिः ।
समाधानवचस्तस्य बह्वागमसुबृंहितम् ॥ ११४ ॥
दूषयित्वा तर्कजालैरधिक्षेपपरोऽभवम् ।
अधिक्षिप्तोऽपि बहुधा मया राजसभागतः ॥ ११५ ॥
शान्तस्तूष्णीं बभूवाथ शिष्यस्तस्य महात्मनः ।
काश्यपो मां क्रोधवशाच्छशाप नृपसंसदि ॥ ११६ ॥
आचार्यं मेऽधिक्षिपसि त्वमस्थाने द्विजाधम ।
यतस्तस्माच्चिरं कालं ब्रह्मरक्षो भविष्यसि ॥ ११७ ॥
शप्त एवमहं तेन भीतोऽत्यन्तं तदा मुनिम् ।
वेपमानः प्रणम्याशु चाष्टकं शरणं गतः ॥ ११८ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने जस-के-तस अपनी कहानी सुना दी । मगध देश में पहले मैं एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण था ॥ ११० ॥

मेरा नाम वसुमान था । मैं सकल शास्त्रों में प्रवीण था । विद्या का मुझे बड़ा अभिमान था । सभा में मैंने सैकड़ों विद्वान् ब्राह्मणों को पराजित किया था । इससे मैं काफी घमंडी हो गया था ॥ १११½ ॥

किसी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए मैं सदैव उत्सुक बना रहता था । मैं शुष्क तर्क करने में बड़ा निपुण था । मगधनरेश की सभा में एक बार मेरा शास्त्रार्थ अष्टक मुनि के साथ हुआ । विचारणीय विषय था—'आत्मविद्या' । मुनिजी परमार्थ-तत्त्ववेत्ता और बड़े ही शान्तचित्त थे ॥ ११२–११३ ॥

शुष्क तर्क के सहारे बहुत देर तक मैं उनके मत का खण्डन करता रहा । उनके शास्त्रसम्मत सप्रमाण कथन को मैं शुष्क तर्क से बार-बार काटता रहा ॥ ११४½ ॥

उस राजसभा में मैं लगातार उन पर दोषारोपण करता रहा, फिर भी वे शान्त होकर चुप लगा गये । पर उनके शिष्य काश्यप से मेरी यह ज्यादती बर्दाश्त नहीं हुई । उन्होंने मुझे श्राप दे दिया ॥ ११५–११६ ॥

अरे नीच ब्राह्मण ! तुमने बेवजह ही मेरे गुरु का अपमान किया है । अतः तुम बहुत दिनों तक ब्रह्मराक्षस बनकर रहो ॥ ११७ ॥

मयि सोऽथ दयाञ्चक्रे विरोधिन्यपि शान्तधीः ।
शापस्यान्तं ददौ मह्यं तन्मे निगदतः श्रृणु ॥ ११९ ॥
प्रश्नांस्त्वयापि हि कृतान् प्रत्युक्तांश्च मया हि तान् ।
स्थापितान् केवलैस्तर्कैर्यदैकः प्रतिवक्ष्यति ॥ १२० ॥
कश्चिद्विद्वांस्तदा शापाद्विमुक्तस्त्वं भविष्यसि ।
तच्छापादथ ते मुक्तश्चिराय नृपनन्दन ॥ १२१ ॥
तत्त्वां मन्ये महात्मानं ज्ञातज्ञेयं नृपूत्तमम् ।
इत्युक्तस्तेन विप्रेण विस्मितोऽभून्नृपात्मजः ॥ १२२ ॥
ततो भूयो नृपसुतोऽनुयुक्तस्तेन सर्वशः ।
वसुमन्तं बोधयित्वा सम्यक् प्रागात् पुरं स्वकम् ॥ १२३ ॥
प्रमम्य वसुमन्तं तं सहितो भ्रातृसैनिकैः ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं भार्गव त्वया ॥ १२४ ॥

इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे राक्षसोपाख्यानं एकविंशोऽध्यायः ।

उसका दारुण श्राप सुनकर मैं बुरी तरह डर गया । कोई दूसरा चारा न देखकर थर-थर काँपते हुए अष्टक मुनि को ही प्रणाम कर उनकी शरण में चला गया ॥११८॥

मुनि शान्तचित्त थे । मैंने उनका विरोध किया था, फिर भी उन्होंने मुझ पर दया की । उन्होंने उस श्राप का अन्त कैसे किया, मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥११९॥

तुमने मुझसे प्रश्न किया, जिसका मैंने उचित समाधान कर दिया । फिर भी तुमने अपने शुष्क तर्क से इन प्रश्नों को खड़ा रखा है । अतः यदि कोई एक ही विद्वान् तुम्हारे इन तर्कों का समाधान कर देगा; तब तुम श्रापमुक्त हो जाओगे ॥ १२०½ ॥

राजकुमार ! बहुत समय बीत जाने के बाद तुमने मुझे उस श्राप से मुक्त कराया है । अतः मैं तुम्हें महात्मा, ज्ञात और ज्ञेय समझता हूँ । राजाओं में तुम सर्वश्रेष्ठ राजा हो ॥ १२१–१२२ ॥

उस ब्राह्मण की बातें सुनकर राजकुमार को बड़ा ही आश्चर्य हुआ । उस वसुमान् नामक ब्राह्मण ने राजकुमार से फिर अनेक प्रश्न पूछे । राजकुमार ने सभी प्रश्नों का सही समाधान कर दिया । फिर उस वसुमान् ब्राह्मण को प्रणाम कर अपने भाई और सैनिकों के साथ राजधानी लौट गया । परशुराम ! तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर मैंने दे दिया ॥ १२३–१२४ ॥

इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ।

द्वाविंशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं राक्षसकथां रामो भृगुकुलोद्भवः ।
पुनः पप्रच्छावधूतकुलेशं प्रश्रयाश्रयः ॥ १ ॥
भगवन् किं तेन पृष्टं शापमुक्तद्विजेन वै ।
हेमाङ्गदेन किं प्रोक्तमेतन्मे कृपया वद ॥ २ ॥
कौतुक्यत्यन्तमत्राहं न तदल्पं भवेत् क्वचित् ।
इति पृष्टः पुनः प्राह दत्तात्रेयो दयापरः ॥ ३ ॥
राम तत्ते प्रवक्ष्यामि महार्थं तत् प्रभाषितम् ।
ततः पप्रच्छ वसुमान् हेमाङ्गदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥
राजपुत्र किञ्चिदहं पृच्छामि त्वं समीरय ।
अहमष्टकयोगीशात् तदज्ञासिषमादितः ॥ ५ ॥
भूयस्त्वदुक्त्या च सम्यग् विदितं परमं पदम् ।
किन्तु ते ज्ञाततत्त्वस्य कथं स्थितिरियं भवेत् ॥ ६ ॥
कथं ज्ञातसुविज्ञेयो व्यवहारपरायणः ।
ध्वान्तप्रकाशयोर्यद्वत् स्थितिरेकत्र सम्भवेत् ॥ ७ ॥

(वसुमान् का समाधान एवं ग्रन्थ का सारांश)

इस तरह ब्रह्मराक्षस की कहानी सुनकर भृगुवंश में उत्पन्न परशुराम ने विनयावनत हो अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेयजी से पुनः पूछा ॥ १ ॥

भगवन् ! शापमुक्त उस ब्राह्मण ने क्या पूछा था ? और हेमाङ्गद ने उसका उत्तर क्या दिया ? कृपया मुझे बतलायें ॥ २ ॥

इसके बारे में मुझे काफी कुतूहल है । यह कभी कोई छोटी बात नहीं हो सकती । यह सुनकर दयालु दत्तात्रेय ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ३ ॥

परशुराम ! यह संवाद गम्भीर अर्थ से भरा है, जो मैं तुम्हें सुनाता हूँ । समीप में बैठे हेमाङ्गद से वसुमान् ने पूछा ? ॥ ४ ॥

राजकुमार ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ । कृपया आप स्पष्ट बतलायें । शुरु में मैंने योगिराज अष्टक से यह तत्त्व सुना था ॥ ५ ॥

अब आपके मुँह से उस परमपद की बातें सुनकर अच्छी तरह उसका ज्ञान मुझे हो गया । परन्तु आप तो तत्त्वज्ञ हैं; आपकी स्थिति ऐसी क्यों है ? ॥ ६ ॥

जिसने जानने योग्य वस्तु की जानकारी हासिल कर ली है, वह फिर दुनियादारी में कैसे लगा रह सकता है ? यह तो अन्धकार और प्रकाश के एक साथ रहने जैसी बात ही होगी ॥ ७ ॥

एतन्मे राजतनय ब्रूहि सम्यग् यथास्थितम् ।
इत्यापृष्टः प्राह हेमाङ्गदस्तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मन् ते भ्रान्तिरद्यापि न सम्यक् प्रविनाशिता ।
व्यवहारेण किं ज्ञानं बाध्यते स्वात्मसम्भवम् ॥ ९ ॥
व्यवहारवशाज्ज्ञानं बाध्यते च ततः कथम् ।
पुरुषार्थस्य लाभः स्यात् स्वप्नज्ञानसमेन वै ॥ १० ॥
सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं ज्ञानमाश्रित्य सम्भवेत् ।
तज्ज्ञानं बाध्यते तेन कथं तन्मे समीरय ॥ ११ ॥
ज्ञानं तदेव हि भवेद् यत्रेदं भासते जगत् ।
सङ्कल्पाद् व्यवहारो हि ज्ञाने सर्वं प्रकाशते ॥ १२ ॥
असङ्कल्पेन तद्रूपमनुलक्ष्य धिया सकृत् ।
कृतार्थो बन्धनिर्मुक्तो भवतीति सुनिश्चयः ॥ १३ ॥
तस्माद् ब्रह्मन्न ते प्रश्नः सम्मतोऽयं सुबुद्धिभिः ।
पुनस्तं प्राह वसुमान् नृपसूनुं महाशयम् ॥ १४ ॥
सत्यं राजकुमारैतन्मयापीत्थं सुनिश्चितम् ।
स्वरूपं निर्विकल्पं हि संवेदनमिहोच्यते ॥ १५ ॥
सविकल्पत्वमापन्ने पुनर्भ्रान्तिः कुतो न हि ।
विकल्प एव हि भ्रान्तिर्यथा रज्जौ भुजङ्गमः ॥ १६ ॥

राजकुमार ! इसका जो कुछ भी कारण हो वह मुझे हू-ब-हू समझा दें। ऐसा पूछने पर हेमाङ्गद ने उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से कहा ॥ ८ ॥

ब्राह्मणदेवता ! आपका भ्रम अभी भी नहीं गया है। अपनी आत्मा के रूप में रहनेवाला ज्ञान भला व्यवहार से बाधित हो सकता है ? ॥ ९ ॥

यदि किसी व्यवहार से ज्ञान बाधित हो जाय, तो सपने के ज्ञान और जाग्रत् ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाय ॥ १० ॥

ये सारे-के-सारे व्यवहार तो ज्ञान के सहारे ही होते हैं। फिर उसी से यह बाधित कैसे हो जायेगा ॥ ११ ॥

जिसमें सारी दुनिया दीख रही है, वही तो ज्ञान है। सिर्फ संकल्प से ज्ञान में ही तो सारे व्यवहार के दर्शन होते हैं ॥ १२ ॥

हाँ ! यह बात बिलकुल निश्चित है; कामनाशून्य होकर एक बार उस आत्मा के स्वरूप को लख लेने पर जीव बन्धनमुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है ॥ १३ ॥

अतः हे ब्राह्मणदेवता ! 'बुद्धिमानों को आपका यह प्रश्न मान्य नहीं है।' तब वसुमान् ने उदारमना राजकुमार से पुनः पूछा ॥ १४ ॥

राजकुमार ! यह बात ठीक है और मैंने भी ऐसा ही निश्चय किया है। शुद्ध-चिति ही अपना निर्विकल्प स्वरूप कहा गया है। यही यथार्थ भी है ॥ १५ ॥

शृणु ब्रह्मन् न जानासि भ्रमाभ्रमविनिर्णयम् ।
गगने नीलिमा भाति गगनं जानतामपि ।। १७ ।।
व्यवहारं च कुर्वन्ति नीलं नभ इति क्वचित् ।
तावतैव तु तज्ज्ञानं न भ्रान्तिरभिधीयते ।। १८ ।।
अतत्त्वज्ञे हि सा भ्रान्तिस्तत्त्वज्ञ सा प्रमैव हि ।
हतप्रामाण्यजीवं तज्ज्ञानं मृतमहाहिवत् ।। १९ ।।
दर्पणप्रतिबिम्बस्य व्यवहारसमो भवेत् ।
अभिज्ञस्यानभिज्ञस्य चाप्यतोऽस्ति भिदा तयोः ।। २० ।।
ज्ञस्य प्रमैव तज्ज्ञानमज्ञस्य तु भ्रमात्मकम् ।
ज्ञानिनां ज्ञानमेव स्यात् सर्वोऽपि व्यवहारकः ।। २१ ।।
दर्पणप्रतिबिम्बानां व्यवहारेण सम्मितः ।
अभिज्ञानामतो भूयो न हि भ्रान्तेः समुद्भवः ।। २२ ।।
केवलाज्ञानजनितं ज्ञानेन विनिवर्त्तते ।
दोषेण जनितं कस्माद्विलीयेज्ज्ञानमात्रतः ।। २३ ।।
अत एव तैमिरिकः पश्येज्जानन्नपि द्वयम् ।
जगदाभास एषस्तु कर्मदोषसमुद्भवः ।। २४ ।।

किन्तु ! वह यदि सविकल्प हो जाय तो फिर भूल क्यों न होगी ? जैसे डोरी में कभी-कभी साँप का भ्रम हो जाता है, उसी तरह 'विकल्प' तो भ्रान्ति का स्वरूप है ही ।। १६ ।।

सुनो ब्रह्मन् ! सच तो यह है कि भ्रम और निर्भ्रम के बीच आप ठीक से भेद भी नहीं कर पा रहे हैं। जो लोग आकाश को जानते हैं, उन्हें भी तो उसकी नीलिमा दिखलायी ही देती है। आकाश नीला है—ऐसा कहकर उन्हें व्यवहार करते भी देखा जाता है। किन्तु इतने से ही उनके ज्ञान को भ्रम तो नहीं कहा जा सकता ।।१७–१८।।

अज्ञानी में आकाश की नीलिमा का ज्ञान भ्रान्ति ही है, किन्तु ज्ञानियों में तो ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही है। उनका यह ज्ञान प्रामाण्य रूप जीवन से रहित होने के कारण मरे हुए साँप की तरह किसी अनर्थ का कारण नहीं बनता ।। १९ ।।

ज्ञानियों का कामकाज आईने में परछाईं की हलचल की तरह होता है। अतः ज्ञानी और अज्ञानियों के कार्य-कलापों में भेद तो है ही ।। २० ।।

ज्ञानियों का व्यावहारिक ज्ञान तो यथार्थ है। परन्तु अज्ञानियों का ज्ञान भ्रम है। ज्ञानियों के लिए सारा व्यवहार भी तो ज्ञानस्वरूप ही है ।। २१ ।।

उनके लिए यह ज्ञान आईने में परछाईं की तरह व्यावहारिक होता है। यही कारण है कि ज्ञानियों को फिर भ्रान्ति नहीं होती ।। २२ ।।

केवल अज्ञान से उत्पन्न का ही विनाश ज्ञान से होता है। किन्तु जिनकी उत्पत्ति किसी अन्य दोष के कारण हुई हो, वह केवल ज्ञान से नहीं नष्ट हो सकते ।। २३ ।।

तस्मादाकर्मविलयं व्यवहारो न लीयते।
समाप्ते कर्मणि ततः शिष्येदद्वयचिन्मयम् ॥ २५ ॥
तस्मान्नास्त्येव विज्ञानं कदापि भ्रान्तिसम्भवः।
इति श्रुत्वा पुनर्विप्रः पप्रच्छ नृपनन्दनम् ॥ २६ ॥
अहो नृपात्मज कथं ज्ञानिनां कर्म सम्भवेत्।
ज्ञानाग्निसंस्पर्शनेऽपि कर्मतूलः कथं स्थितः ॥ २७ ॥
अथाह हेमाङ्गदोऽपि विप्रं तं नृपनन्दन।
ब्रह्मन् शृणु प्रवक्ष्यामि त्रिविधं कर्म ज्ञानिनाम् ॥ २८ ॥
सर्वेषाञ्च समानं स्यादपक्वं पक्वमेव च।
हतोदितं चेति तत्र नेश्येज्ज्ञानादमध्यमम् ॥ २९ ॥
कर्मणा पाचकः कालो नियत्या नियतः स्थितः।
कालेन पाचितप्रायं पक्वं कर्म समीरितम् ॥ ३० ॥
अपाचितमपक्वं स्याज्ज्ञानोत्पत्तेरनन्तरम्।
कृतं हतोदितं विद्धि ज्ञानाद्धतसमुद्भवात् ॥ ३१ ॥
तत्र पक्वं तु यत् कर्म तदारब्धमितीर्यते।
आवेगं मुक्तशरवत् तिष्ठत्येव फलप्रदम् ॥ ३२ ॥

यही वजह है कि रतौंधी से पीड़ित आदमी यह जानते हुए कि वस्तु एक है उसे दो रूप में देखता है। इस दुनिया में असल की झलक तो कर्मदोष से पैदा हुई है। इसलिए जब तक कृतकर्म से उत्पन्न भाग्य का क्षय नहीं हो जाता, तब तक इस व्यवहार का विलय नहीं होता। प्रारब्ध कर्म के विनष्ट होते ही केवल चिन्मात्र तत्त्व ही शेष रह जाता है ॥ २४–२५ ॥

इसलिए इस विशिष्ट ज्ञान में भूल की सम्भावना कभी हो नहीं सकती। ऐसा सुनकर उस ब्राह्मण ने राजकुमार से पूछा ॥ २६ ॥

हे राजकुमार! ज्ञानियों से भला कर्म की सम्भावना कैसे हो सकती है? ज्ञान रूपी आग के छू लेने पर कर्मरूपी कपास बिन जले कैसे रह सकती है? ॥ २७ ॥

राजकुमार हेमाङ्गद बोला—सुनो ब्रह्मन्! मैं तुम्हें बतलाता हूँ—सभी ज्ञानियों के कर्म समान रूप से तीन तरह के होते हैं—अपक्व, पक्व और हतोदित। इनमें बीच के पक्व को छोड़कर शेष दो स्वतः विनष्ट हो जाते हैं ॥ २८–२९ ॥

नियति ने काल को कर्मों को पकाने वाला नियुक्त किया है। जो कर्म काल के द्वारा प्रायः पकाकर फलोन्मुख कर दिये जाते हैं, वे 'पक्व' कर्म कहे गये हैं ॥ ३० ॥

जो परिपक्व नहीं हुए हैं, वे अपक्व हैं और जो कर्म ज्ञानोत्पत्ति के बाद किये जाते हैं, उन्हें हतोदित समझो, क्योंकि वे ज्ञान से हत अर्थात् मरे हुए ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥

तन्मूलको जगद्भासो ज्ञानस्य तारतम्यतः ।
स्थितोऽपि भ्रान्तितुल्योपि न भ्रान्तिः फलभेदतः ॥ ३३ ॥
जनयेत्तत्कालफलं मन्दज्ञानवतां स्फुटम् ।
मध्यानामस्फुटं तच्च ज्ञानिनां फलभासनम् ॥ ३४ ॥
उत्तमानान्तु तत्कालफलञ्च स्पष्टभासनम् ।
शशशृङ्गसमं ब्रह्मन् न हि तत्फलमुच्यते ॥ ३५ ॥
अज्ञानिनां कर्मफलं पुष्टं पूर्णानुसन्धितः ।
पूर्वापरानुसन्धानात् पोषितं तत्फलन्तु तैः ॥ ३६ ॥
ज्ञानिनां फलसन्धानं छिन्नमात्मानुसन्धितः ।
अतो न पुष्टं मन्दानामारब्धजनितं फलम् ॥ ३७ ॥
मध्यानां ज्ञानिनां तच्च फलं मन्दसुषुप्तिषु ।
मशकादिकृतं दुःखमिव तत् सूक्ष्मतां गतम् ॥ ३८ ॥
उत्तमज्ञानिनां तत्तु फलं पूर्णमपि स्थितम् ।
दग्धरज्जुरिव भवेत् स्थितात्मज्ञानवैभवात् ॥ ३९ ॥

इनमें जो परिपक्व कर्म हैं वे प्रारब्ध अर्थात् नियति या भाग्य कहलाते हैं । वे धनुष से छूटे हुए तीर की तरह अपना वेग रहने तक फल देते ही रहते हैं ॥ ३२ ॥

ज्ञान की कमी-बेशी के मुताबिक उन्हीं की वजह से दुनिया की प्रतीति बनी रहती है । यह संसार की प्रतीति भ्रान्ति की तरह होने के बावजूद फल में भेद रहने के कारण भ्रान्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

मन्द ज्ञानियों को यह प्रारब्ध उसी क्षण फल देता है और मध्यम ज्ञानियों को उस फल का बोध स्पष्ट मालूम पड़ता है ॥ ३४ ॥

उत्तम ज्ञानियों को फल की जानकारी तो उसी समय हो जाती है । किन्तु हे ब्रह्मन् ! उनकी दृष्टि में वह खरहे के सींग की तरह सफेद झूठ होने के कारण उसे फल नहीं मानते ॥ ३५ ॥

अज्ञानियों को कर्मफल का अनुशीलन पहले से ही बना रहता है । इसलिए वह तैयार या मजबूत होता है । आगे-पीछे का अनुशीलन रहने के कारण वे उस फल को बढ़ाते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ज्ञानीजन अपनी आत्मा की खोज में लगे रहते हैं । फलतः बीच-बीच में उनके कर्मफल की जाँच पड़ताल का क्रम टूटता रहता है । इसीलिए मन्द ज्ञानियों का भाग्यफल मजबूत नहीं होता ॥ ३७ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानियों के लिए तो वह फल हलकी नींद में मच्छर काटने से होनेवाले दुःख की तरह बहुत कम तकलीफदेह होता है ॥ ३८ ॥

उत्तम ज्ञानियों को यह कर्मफल पूरी तरह प्राप्त होने पर भी दृढ़ आत्मज्ञान की वजह से जली हुई रस्सी की तरह केवल प्रतीति मात्र रहती है ॥ ३९ ॥

यथा नाटकवृत्तेषु नरो वेषान्तरं गतः ।
हृष्यन् विषीदंश्च भूयो नान्तः विकृतिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
एवमेष स्थितज्ञानी सुपूर्णफलसङ्गतः ।
न फलैः स्पृश्यते तस्मात्तत्फलं शशशृङ्गवत् ॥ ४१ ॥
अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा नोपलक्षित एव हि ।
अतो देहात्मभूतास्ते दृश्यसत्त्वविमर्शनाः ॥ ४२ ॥
मन्दज्ञानिभिरात्मा तु विदितः शुद्धचिन्मयः ।
जगच्चासत्यतो दृष्टं तथाप्यभ्यासमान्द्यतः ॥ ४३ ॥
प्राग्वासनाहृतज्ञानास्ते देहात्मप्रभासनम् ।
जगतः सत्यताभासं मध्ये मध्ये समाययुः ॥ ४४ ॥
भूयो ज्ञानवासना या विधुन्वन्त्यसतीं दृशम् ।
वासनैवं सत्यमिथ्याज्ञानयोश्च परस्परम् ॥ ४५ ॥
मिलिता मन्दज्ञानिनामतो मध्ये फलं स्फुटम् ।
समेऽपि वासने चैते न हि तुल्ये महीसुर ॥ ४६ ॥
सत्यज्ञानवासनया बाध्यते वासना परा ।
न च मिथ्या वासनया बाध्यते सत्यवासना ॥ ४७ ॥

जैसे एक अभिनेता मंच पर अनेक वेश बनाकर हर्ष और शोक की भूमिका निभाने के बावजूद भीतर से इस अभिनय के प्रभाव से मुक्त रहता है, उसी तरह एक निष्ठा-वान् ज्ञानी पूरा-का-पूरा फल पाने पर भी उसमें लीन नहीं होता। इसलिए उसका यह फलभोग भी खरहे के सींग की तरह केवल कहने भर ही होता है ॥ ४०–४१ ॥

अज्ञानियों को तो विशुद्ध आत्मा का पता ही नहीं चलता, इसलिए वे तो देह को ही आत्मा मानते हैं और दृश्य पदार्थ को सच समझते हैं ॥ ४२ ॥

मन्दज्ञानियों को तो शुद्ध चिन्मय आत्मा का ज्ञान होता है और दुनिया भी उसे झूठी दिखलायी देती है। फिर भी अभ्यास की कमी के कारण पहले की वासना से उनका ज्ञान दब जाता है और देह को ही वे आत्मा के रूप में देखने लगते हैं। बीच-बीच में उन्हें संसार की सत्यता का भी बोध होता रहता है ॥ ४३–४४ ॥

किन्तु उनके ज्ञानजन्य संस्कार उनकी इस झूठी परख को दूर कर देते हैं। इस तरह उनके सच और झूठ का ज्ञान आपस में मिलकर बीच-बीच में साफ ढंग से फल का भोग कराते हैं ॥ ४५–४६ ॥

हे धरती के देवता ! यद्यपि ये दोनों ही संस्कार समान रूप से आते-जाते रहते हैं, फिर भी इनका प्रभाव एक जैसा नहीं रहता। ज्ञान की वासना सच है, अतः उससे दृश्य की मिथ्या वासना जैसे बाधित होती है, उसी तरह मिथ्या वासना से सत्य की वासना बाधित नहीं होती ॥ ४६–४७ ॥

मिथ्यावासनयाविष्टो विस्मृतः केवलां परः।
ततो मिथ्यावासनां तु विनिश्चित्य भ्रमात्मिकाम् ॥ ४८ ॥
विधूय वासनां सत्यामुपैति ब्राह्मणोत्तम।
ततो न बाधिता सत्यवासना भवति क्वचित् ॥ ४९ ॥
मध्यमस्य विस्मृतिर्नो न मिथ्या ज्ञानमेव च।
अविस्मृतस्येच्छयैव मिथ्याज्ञानं क्वचिद्भवेत् ॥ ५० ॥
सिद्धस्यैषा स्थितिः प्रोक्ता साधकस्योच्यते शृणु।
यथा यथा तत्परः स्यात्तथाऽविस्मृतिरुच्छ्रिता ॥ ५१ ॥
पूर्णस्य विस्मृतिर्नास्ति मिथ्याज्ञानं प्रयत्नतः।
उत्तमस्य पुनर्ब्रह्मन् समाधिव्यवहारयोः ॥ ५२ ॥
न भेदो लेशतोऽप्यस्ति यतोऽविस्मरणं सदा।
यः समाधिपरो मध्यस्तस्य याऽविस्मृतिः स्थिता ॥ ५३ ॥
सैषा म्लाना भवेन्मिथ्याज्ञानभूमिषु भूसुर।
यस्तूत्तमोऽपि स्वाच्छन्द्यात्प्रारब्धवशतोऽपि वा ॥ ५४ ॥
समाध्यतत्परो भूयात्तस्याम्लानैव चास्मृतिः।
वस्तुतः शृणु भूदेव मध्यमोत्तमज्ञानिनाम् ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! यह मिथ्या वासना के अधीन होकर शुद्ध वासना को भूल जाता है। फिर उस मिथ्या वासना को भ्रम मानकर उसे छोड़ देता है और सत्य रूप ज्ञान-वासना को पा लेता है। इसके बाद उसकी यह सत्य वासना कभी बाधित नहीं होती ॥ ४८–४९ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानी को सत्य वासना कभी भुलाती नहीं और मिथ्या ज्ञान होता ही नहीं। वे सत्य वासना को बिना भुलाये ही कभी-कभी अपनी इच्छा से व्यवहार के उपयुक्त मिथ्या ज्ञान भी कुबूल कर लेते हैं ॥ ५० ॥

औसत दर्जे के सिद्ध ज्ञानी की ही यह स्थिति होती है। अब मैं तुम्हें साधक की स्थिति के बारे में समझाता हूँ, सुनो—साधक जेसे-जैसे अपनी आत्मा की खोज में लगता है उसी अनुपात में उसे अपने असली स्वरूप की याद बढ़ती जाती है। साधना पूरी होने पर तो अपने वास्तविक स्वरूप को वह कभी भुला ही नहीं पाता और मिथ्या द्वैत का स्फुरण तो काफी प्रयास के बाद ही होता है ॥ ५१½ ॥

अपने स्वरूप की याद हमेशा बनी रहने के कारण उत्तम ज्ञानी को समाधि और व्यवहार में कोई अन्तर नही होता ॥ ५२½ ॥

समाधि में लीन मध्यम ज्ञानी को ही अपने स्वरूप की पहचान में थोड़ी भूल होती है। वह मिथ्या अज्ञान की स्थिति आने पर ही कुछ मन्द पड़ जाती है। किन्तु जो उत्तम ज्ञानी है वे अपनी इच्छा से अथवा भाग्य के अधीन होने पर ही यदि वे समाधि में लीन न रहें तो उसे अपने स्वरूप की पहचान में भूल नहीं होती ॥५३-५४½॥

कर्म नैवास्ति यत्किञ्चिद्यतस्ते पूर्णतां गताः।
संविदात्मातिरिक्तं यन्न ते पश्यन्ति किञ्चन ॥ ५६ ॥
कर्म शेषं कथं शिष्येद्यतः सर्वं चिदग्निना।
भस्मीकृतमतस्तेषां न किञ्चित् परिशिष्यते ॥ ५७ ॥
ऐन्द्रजालिककर्मेव त्वितरैरेव दृश्यते।
शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि समासतः ॥ ५८ ॥
शिवस्य यादृशी सैव ज्ञानिनां दृष्टिरुच्यते।
नास्ति भेदो लेशतोऽपि सत्यमेतन्न संशयः ॥ ५९ ॥
तस्मान्न किञ्चित् कर्मापि ज्ञानिनामनुवर्त्तते।
इति श्रुत्वा स वसुमान् हेमाङ्गदनिरूपितम् ॥ ६० ॥
सर्वसन्देहनिर्मुक्तो विज्ञानविशदाशयः।
पूजितो राजपुत्राद्यैः संस्थानं प्रत्यपद्यत ॥ ६१ ॥
प्राप्तौ स्वनगरं राजपुत्रावपि ततः परम्।
एवं श्रुत्वा पुना रामः पप्रच्छात्रिसुतं मुनिम् ॥ ६२ ॥
श्रुतमेतद्धि विज्ञानं गुरो त्वन्मुखनिर्गतम्।
विनष्टो मम सन्देहो विदितं तन्महत् पदम् ॥ ६३ ॥
सर्वानुस्यूतसंवित्तिमात्रात्मा भाति सर्वतः।

सुनो ब्राह्मणदेवता! दरअसल उत्तम और मध्यम कोटि के ज्ञानियों के कुछ भी कर्म हैं ही नहीं। क्योंकि उन्हें तो पूर्णता मिल जाती है। एक चिदात्मा के सिवा और कुछ वे देखते ही नहीं ॥ ५५–५६ ॥

उनका कोई भी कर्म बचा नहीं रह सकता है, क्योंकि उनके समस्त कर्म चेतनरूपी आग में जलकर राख हो जाते हैं। अतः उनका कोई कर्म बचा नहीं रहता ॥ ५७ ॥

बाजीगर के हाथ की सफाई की तरह उनके सभी काम दूसरों को ही दिखलाई देते हैं। इसमें जो गूढ़ रहस्य छिपा है, संक्षेप में मैं तुम्हें समझा देता हूँ ॥ ५८ ॥

भगवान् शिव की दृष्टि की तरह ज्ञानियों की दृष्टि भी होती है। इसमें थोड़ी भी संदेह की गुंजाईश नहीं है। उक्त कथन में कोई अन्तर नहीं है, अतः ज्ञानियों का कोई कर्म बचा नहीं रहता ॥ ५९½ ॥

वसुमान् का सारा संदेह हेमाङ्गद का तत्त्व-निरूपण सुनकर दूर हो गया। उसका अन्तःकरण इस विशिष्ट ज्ञान के प्रकाश से प्रदीप्त हो उठा। फिर राजकुमारों से सम्मानित होकर वह अपनी जगह लौट गया ॥ ६०–६१ ॥

इसके बाद वे दोनों राजकुमार अपनी राजधानी लौट आये। सारी बातें सुनकर परशुराम ने गुरु दत्तात्रेय से पुनः पूछा ॥ ६२ ॥

हे गुरुदेव! आपके मुखकमल से निकले ज्ञानोपदेश को मैंने सावधान होकर सुना। सुनकर मेरा सारा सन्देह मिट गया। मुझे उस परमपद की जानकारी मिल गई ॥ ६३ ॥

तथापि भवता प्रोक्तमादितः सर्वमेव तु ॥ ६४ ॥
सङ्क्षेपेण पुनर्ब्रूहि विज्ञानं सारवत्तरम् ।
यावद्धारयितव्यं मे गुरो सर्वात्मना मया ॥ ६५ ॥
इत्यापृष्टः स रामेण पुनः प्राहात्रिनन्दनः ।
श्रृणु राम प्रवक्ष्यामि सर्वसारतमं पुनः ॥ ६६ ॥
या चितिः परमेशानी पूर्णाहन्तामयी परा ।
सा स्वातन्त्र्याभिधामायाशक्तिमाहात्म्यतः सदा ॥ ६७ ॥
जगदाभासयेन्नूनं दुर्घटैकविधायिनी ।
प्रतिबिम्बवदादर्शे तत्प्रकारं श्रृणु क्रमात् ॥ ६८ ॥
या सा पराचितिः पूर्णापूर्णाहम्भावबृंहिता ।
स्वातन्त्र्यवशतः स्वात्मरूपं द्वेधावभासयत् ॥ ६९ ॥
तत्रैकांशेऽप्यहम्भावो पूर्ण आभासितो यदा ।
तदा द्वितीयभागस्तदहम्भावविनिर्गतः ॥ ७० ॥
बाह्यमव्यक्तमभवत्तद्दृष्टचैव भृगूद्वह ।
अपूर्णाहम्भावयुत एष प्रोक्तः सदाशिवः ॥ ७१ ॥
स तमव्यक्तभागन्तु पश्यन् भिन्नमपि स्वतः ।
अहमेतदित्यभेदादनुसन्धिपरः सदा ॥ ७२ ॥

सबमें घुला-मिला चिन्मात्र आत्मा ही सब ओर दीख रहा है। फिर भी गुरुदेव शुरू से अब तक आपने जो कुछ कहा, उसे संक्षेप में एक बार जितना मैं समझ सकूँ, मुझे ध्यान में रखना चाहिए — फिर समझाने का कष्ट करें ॥ ६४–६५ ॥

परशुराम की जिज्ञासा सुनकर अत्रिपुत्र दत्तात्रेय ने उन्हें फिर समझाना शुरू किया। सुनो परशुराम ! सम्पूर्ण कथन का सार मैं तुम्हें फिर समझाता हूँ ॥ ६६ ॥

जो सर्वाधिक ताकतवाली प्रसन्नता से भरी पराचिति है, वह अपनी परम स्वतंत्र मायाशक्ति की महिमा से, जो असम्भव को भी संभव कर देनेवाली है, आईने में परछाईं की तरह अपने-आप में ही सारी दुनिया को दिखला देती है। उसके जगत्-प्रकाशन का प्रकार क्रमशः सुनो ॥ ६७–६८ ॥

वह जो पराचिति है, पूरी तरह भरी है। अहंभाव के कारण सब जगह फैली है। अपनी बे-नियाज ताकत की महिमा से अपने ही स्वरूप को दो रूपों में प्रकाशित किया है ॥ ६९ ॥

जब उसके एक अंश में अहम्-भाव आभासित हुआ तो दूसरा भाग अहन्ता से शून्य जड़ अव्यक्त हो गया। परशुराम उस बाहरी अव्यक्त की दृष्टि से ही वह अपूर्ण अहन्ता युक्त अंश 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ७०–७१ ॥

यद्यपि वह उस अविदित अंश को अपने से अलग ही देखती है, फिर भी उसे हमेशा अभेदपूर्वक यही जान पड़ता है कि यह मैं ही हूँ ॥ ७२ ॥

स एव भूयः स्वातन्त्र्यात् सिसृक्षुर्विविधं जगत् ।
अव्यक्तमात्मनो देहमेतदेवाहमास्थितः ॥ ७३ ॥
इत्येवमनुसन्धानपर ईश्वर आबभौ ।
अव्यक्तमभिमानेनाविष्ट ईश्वर एव तु ॥ ७४ ॥
त्रिधासमभवद्रुद्रहरिद्रुहिणरूपतः ।
द्रष्टृदृश्यमहाराशिसमुदायावभासकः ॥ ७५ ॥
विधयो विविधा आसंस्तथा तद्रूपसंस्थिताः ।
बहवो हरयोऽप्यासंस्तत्संहारपरायणाः ॥ ७६ ॥
अनेकशोऽभवन् रुद्रा एवमेष जगद्विधिः ।
एवंविधं जगत्तत्त्वं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ७७ ॥
भासते केवलं राम न हि जातं तु किञ्चन ।
पराचितिः प्रपूर्णाहम्भावरूपैव सर्वदा ॥ ७८ ॥
स्थिताप्यनेका सम्पूर्णाहम्भावपरिबृंहिता ।
यथा त्वं राम सर्वस्मिन् देहेऽहम्भावबृहितः ॥ ७९ ॥
पृथङ् नेत्राद्यहम्भावैरपि तत्तत्क्रियापरः ।
एवमेव परा संवित् पूर्णाहन्तासमाश्रया ॥ ८० ॥
सदाशिवादिस्तम्बान्ताऽपूर्णाहन्ताश्रयापि वै ।
वस्तुतः सैव परमा चितिरेवं हि भासिनी ॥ ८१ ॥

उसी को स्वतंत्रता के कारण फिर अनेक तरह की दुनिया रच डालने की इच्छा होती है और वह अप्रकट अपनी देह में 'मैं यही हूँ' ऐसी आस्था करने लगता है ॥७३॥

ऐसा परिशीलन करते रहने पर तो वह स्वयं ईश्वर हो जाता है। जो सम्माननीय भावना द्वारा अव्यक्त में समाया है, वही 'ईश्वर' है ॥ ७४ ॥

इस दृश्यवर्ग के एक बड़ी राशिरूप समूह का प्रकाशक वह द्रष्टा ही रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के रूप में तीन तरह का हो गया ॥ ७५ ॥

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा अनेक थे, पालक विष्णु अनेक थे और संहर्त्ता रुद्र भी अनेक थे। ऐसा ही इस संसार का नियम है ॥ ७६½ ॥

आईने में परछाई की तरह इस दुनिया का स्वरूप यही है। परशुराम ! यह केवल दीखता ही है, दरअसल है कुछ नहीं ॥ ७७½ ॥

वह भरी-पूरी पराचिति बिलकुल गौरवमयी ही है। वह स्थिरस्वरूपा होने के बावजूद सम्पूर्ण अहंभाव के कारण सब जगह फैली हुई-सी जान पड़ती है। हे परशु-राम ! जैसे तुम इस देह में अहंभाव से पूरी तरह घिरे हो, फिर भी आँख, नाक आदि के अहंभावों से भी अनेक तरह के व्यापारों में लगे रहते हो ॥ ७८–७९½ ॥

इसी तरह यह पराचिति भी सम्पूर्ण 'अहन्ता' का सहारा है। फिर भी यह सदाशिव से लेकर जड़ता या असंवेद्यता तक अधूरे अहंभाव का भी सहारा है। दरअसल वह पराचिति ही इन सब रूपों में दीखने वाली है ॥ ८०–८१ ॥

देहाहम्भावरूपस्त्वं स्वतो रूपरसादिकम् ।
ग्रहीतुमसमर्थोऽपि चाक्षतादात्म्यमेत्य तु ॥ ८२ ॥
सर्वं गृह्णासि सततमेवं देवः सदाशिवः ।
स्वतः सर्वाभिदमयो ब्रह्मादिस्तम्बराशिषु ॥ ८३ ॥
अतस्तादात्म्यमापन्नो जानाति च करोति च ।
यथा ते निर्विकल्पं तु रूपं सर्वाश्रयं हि सत् ॥ ८४ ॥
न किञ्चिदपि जानाति करोति च भृगूद्वह ।
एवमेव परा संवित् सर्वलोकसमाश्रया ॥ ८५ ॥
भेदलेशमपि क्वापि न जानाति करोति च ।
एतावज्जागतं सर्वं तस्यामेवावभासते ॥ ८६ ॥
तत्स्वातन्त्र्यात् प्रभूतश्च दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
जगतो भासनं सर्वं तस्या एवावभासनम् ॥ ८७ ॥
यथादर्शाभास एष प्रतिबिम्बावभासनम् ।
अत्र त्वमहमन्ये च द्रष्टारो दृङ्मयाः खलु ॥ ८८ ॥
दृश्यासम्मेलने शुद्धचितिरेव न चेतरत् ।
घटादिदर्पणो यद्वद् घटादीनामसङ्गमे ॥ ८९ ॥
शुद्धदर्पणमात्रः स्याद्विभेदः प्रतिबिम्बतः ।

तुम अपनी देह में अहंभाव से मौजूद होकर भी यद्यपि स्वयं रूप, रस प्रभृति विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो, फिर भी इन्द्रियों के साथ एकरूपता धारण कर तो सब कुछ हमेशा ग्रहण कर ही लेते हो। इसी तरह भगवान् सदाशिव ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सबके साथ अभिन्न रूप ही है। फिर भी उन ब्रह्मादि की देहों में एकरूपता पा लेने पर वे ही सब कुछ जानते भी हैं और करते भी हैं ॥ ८२–८३½ ॥

हे भार्गव ! जैसे तुम्हारा निर्विकल्पस्वरूप सबका सहारा और सच है। फिर भी यह न तो कुछ जानता ही है और न कुछ करता ही है। इसी तरह वह पराचिति समस्त लोकों का आधार है, फिर भी वह थोड़ा भी इस द्वैत को न तो जानती है और न कुछ करती ही है ॥ ८४–८५½ ॥

दुनिया का यह सारा जंजाल उसी में दीख रहा है, किन्तु अपनी बेनियाज ताकत से वही आईने में परछाई की तरह अनेक रूप में बँट गयी है। अतः इस दुनिया का सारा दृश्य उसी का आभास है। जैसे आईने की परछाई की प्रतीति से केवल आईने का ही आभास होता है ॥ ८६–८७½ ॥

यहाँ जो मैं और दूसरे देखने वाले हैं वे निश्चय ही चिन्मात्र हैं। यदि उनके साथ दृश्य की मिलावट न हो तो वे शुद्धचिति ही है और कुछ नहीं ॥ ८८½ ॥

जैसे घड़े की परछाई से अलग आईना घड़े का संग न रहने पर शुद्ध रूप से सिर्फ आईना ही होता है। उनका भेद तो परछाई के कारण ही है ॥ ८९½ ॥

एवं विकल्पसम्भूतदृश्याभासप्रमार्जने ॥ ९० ॥
शेषिता परमा संविदद्वितीयस्वरूपिणी ।
महानन्दघना चैषा दुःखलेशविवर्जनात् ॥ ९१ ॥
सर्वानन्दघनाकारा यतः सर्वैरभीप्सिता ।
सुखमात्मस्वरूपं स्यात् सर्वैर्यस्मादभीप्सितम् ॥ ९२ ॥
यदर्थो देहादिभावो यन्न कस्यापि नेप्सितम् ।
यस्यैव लेशो विषयानन्द इत्यभिधीयते ॥ ९३ ॥
स एव भारहानादौ सुषुप्तौ चावभासते ।
चिदेव स्पृहणीयत्वादानन्द इति प्रोच्यते ॥ ९४ ॥
मूढा न हि विजानन्ति स्वात्मभूतं महासुखम् ।
विभिन्नमभिजानन्ति व्यञ्जकानां विभेदतः ॥ ९५ ॥
यथा हि दर्पणे भावा भासमाना निमित्ततः ।
यावद्दर्पणविज्ञानं भिन्ना एव विभान्ति वै ॥ ९६ ॥
विदिते प्रतिबिम्बत्वे भासमानं च पूर्ववत् ।
न दर्पणाद् भिन्नमस्ति त्वादर्शः शुद्ध एव हि ॥ ९७ ॥
एवं विदिततत्त्वस्य जगदेतावदीदृशम् ।
भासमानमपि स्वात्ममात्रमेव न चेतरत् ॥ ९८ ॥

इसी तरह विकल्प से उत्पन्न दृश्य रूप आभास का निषेध करने पर बची हुई पराचिति तो बेजोड़ ही है। उसमें लेशमात्र भी दुःख नहीं है, अतः वह परमानन्द रूपा भी है ॥ ९०–९१ ॥

सभी आनन्दों की यह घनीभूत मूर्त्ति है, क्योंकि सब उसे चाहते हैं। सुख तो आत्मा का स्वरूप ही है, क्योंकि सब उसकी चाह रखते हैं ॥ ९२ ॥

जिसके लिए देह में प्रीति होती है, जो किसी को भी अप्रिय नहीं लगता और जिसका एक कण ही विषयानन्द कहा जाता है, वह स्वरूपभूत आनन्द ही किसी तरह के बोझ के उतरने पर या गाढ़ी नीन्द दीख पड़ती है या उसका अनुभव होता है। दरअसल वांछित होने के कारण चेतन को ही आनन्द कहा जाता है ॥ ९३–९४ ॥

अपनी आत्मा से मिलने वाले उस परम सुख को अज्ञानी आदमी नहीं जानते। ऐसे लोग तो उसे व्यक्त करने वाले विषयों की विभिन्नता के कारण अपने से उसे अलग ही समझते हैं ॥ ९५ ॥

जैसे परछाई रूप निमित्तों के कारण आईने में दीखने वाले पदार्थ जब तक आईने का ज्ञान नहीं होता तब तक अलग ही जान पड़ते हैं, किन्तु जब उनकी परछाईपन का बोध हो जाता है तो पहले ही की तरह दीखते रहने पर भी वे आईने से अलग नहीं रहते; आईने तो निखालिश रहते ही हैं। इसी तरह जिस आदमी को तत्त्व का ज्ञान मिल जाता है, उसके लिए यह दुनिया इसी रूप में दिखलायी पड़ती है। यही अपनी आत्मा है और कुछ नहीं ॥ ९६–९८ ॥

घटादिकं मृदि यथा हेम्नि यद्वद्विभूषणम् ।
प्रतिमाश्च यथा शैले जगदेवं चिदात्मनि ॥ ९९ ॥
जगन्नास्त्येवेति दृष्टिरपूर्णेव भृगूद्वह ।
नास्तीति विपरीतो हि निश्चयो नैव सिद्ध्यति ॥ १०० ॥
साधकात्मजगद्दृष्टेर्भूयः सम्भवतः स्फुटम् ।
नास्तीति शापमात्रेण कथं स्याज्जगतो लयः ॥ १०१ ॥
आदर्शनगरं सर्वमस्त्यादर्शस्वभावतः ।
एवं जगच्चिदात्मैकरूपं सत्यमुदीरितम् ॥ १०२ ॥
पूर्णविज्ञानमेतत् स्यात् सङ्कोचपरिवर्जनात् ।
दृगेव दृश्यतां प्राप्तं स्वमाहात्म्यप्रकर्षतः ॥ १०३ ॥
यथादर्शो नगरतामेष शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ।
न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति साधकः साधनं च न ॥ १०४ ॥
अखण्डाद्वयचिच्छक्तिस्त्रिपुरैवात्रभासिनी ।
सैवाविद्या च विद्या च बन्धो मोक्षश्च साधनम् ॥ १०५ ॥
एतावदेव विज्ञेयं नान्यद्भार्गव विद्यते ।
एतत्तेऽभिहितं राम विज्ञानक्रममादितः ॥ १०६ ॥
एतत् सुविज्ञाय जनो भूयः क्वापि न शोचति ।

जैसे मिट्टी में घड़े, सोने में जेवरात और पत्थर में प्रतिमाओं की प्रतीति होती है, उसी तरह चिदात्मा में यह दुनिया दीख रही है ॥ ९९ ॥

परशुराम ! 'यह दुनिया है ही नहीं' ऐसा सोचना तो अधूरा ही है । क्योंकि 'है ही नहीं' ऐसा विरोधी निश्चय किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता ॥ १०० ॥

'है और नहीं है' इन दोनों पक्षों को सिद्ध करनेवाले चिदात्म रूप से संसार की सत्ता साफ-साफ रह ही जाती है । ऐसी स्थिति में यह संसार 'है ही नहीं' ऐसा कह देने से संसार का लोप तो नहीं हो सकता है ॥ १०१ ॥

जैसे आईने में दीखने वाला नगर तो आईने में है ही, उसी तरह यह संसार भी अद्वितीय चिदात्म रूप में सदा सत्य ही है ॥ १०२ ॥

यही पूर्ण विज्ञान है । क्योंकि इसमें किसी तरह की कमी नहीं है । दरअसल हर तरह की आवश्यकताओं और बन्धनों से रहित परम स्वतंत्रता के प्रभाव से दृक् अर्थात् शुद्ध चेतन ही दृश्य अर्थात् संसार का स्वरूप हो गया है । जैसे आईना ही अपने में प्रतिबिम्बित नगर रूप हो जाता है — संक्षेप में शास्त्रों का अभिमत यही है ॥ १०३½ ॥

न कोई बन्धन है और न मुक्ति ही, न कोई साधक है और न कुछ साधन ही; एक अखण्ड एवं बेजोड़ चित्शक्ति ही चमक रही है । वही विद्या है, वही अविद्या है, वही बन्धन है, वही मोक्ष है, वही साध्य और साधन भी है ॥ १०४–१०५ ॥

हे भार्गव ! इतनी ही बातें जानने योग्य हैं और कुछ नहीं । ज्ञान पाने का यह

नारदैष ज्ञानखण्डः सूपपत्त्युपलब्धिकः ॥ १०७ ॥
श्रुतो न नाशयेत् कस्य मोहमज्ञानसम्भवम् ।
श्रुत्वाप्येतद्यस्य मोहो न शान्ति प्राप्नुयात् क्वचित् ॥ १०८ ॥
स शैलपुरुषो लोके केन ज्ञानं पुनर्भवेत् ।
सकृदेव श्रुतं ह्येतद्विज्ञानं जनयेद् दृढम् ॥ १०९ ॥
द्विधा त्रिधा वा मन्दस्य ज्ञानं न जनयेत् कथम् ।
एतत् पापौघशमनं श्रुतं विज्ञानदं मतम् ॥ ११० ॥
लिखितं दृष्टिदोषघ्नं पूजितं चित्तशोधनम् ।
मूढतानाशनं चैतत् सर्वदा परिशीलितम् ॥ १११ ॥
सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्यावगतं स्फुटम् ।
मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धः सा भवेत्त्रिपुरैव ह्रीम् ॥ ११२ ॥

इति श्रीमदितिहासोत्तमे त्रिपुरारहस्ये द्वादशसाहस्र्यां संहितायां ज्ञानखण्डे द्वाविंशोऽध्यायः ।

सिलसिला शुरू से ही मैंने तुम्हें सुनाया है । इसे ठीक से हृदयङ्गम कर लेने पर किसी आदमी को किसी तरह का शोक नहीं होता है ॥ १०६½ ॥

हारितायन मुनि ने नारद से कहा — यह ज्ञानखण्ड अच्छी तरह सुन्दर युक्ति और अनुभव से भरा है । यदि इसे ध्यानपूर्वक सुना जाय तो ऐसा कौन आदमी है जिसका अज्ञानजनित मोह भंग न हो जाय ? ॥ १०७½ ॥

यह सुनकर भी जिसका मोह भंग न हो, वह इस दुनिया में आदमी होकर भी पत्थर की प्रतिमूर्त्ति है । उसे फिर किसी से ज्ञान नहीं मिल सकता ? ॥ १०८½ ॥

इसे जो एक बार सुन लेता है, उसका ज्ञान पक्का हो जाता है । दो-तीन बार इसे सुनने पर मन्दबुद्धि व्यक्ति भी ज्ञानी बन जाता है ॥ १०९½ ॥

इसे जो सुनता है, उसका पाप विनष्ट हो जाता है । वह विशुद्ध ज्ञान पा लेता है । इसे जो लिखता है, उसका दृष्टिदोष मिट जाता है । जो इसकी पूजा करता है, उसका चित्त पवित्र हो जाता है । जो इस पर विचार करता है, उसका अज्ञान सदा के लिए मिट जाता है ॥ ११०–१११ ॥

जो सबकी आत्मा के रूप में सर्वत्र उपलब्ध है, उसे विचारपूर्वक साफ-साफ जान लिया जाय तो फिर उस जानकार को मुक्ति मिल जाती है । अन्यथा उसके लिए बन्धन तो है ही । यह देवी त्रिपुरा का स्वरूप ही है । — ह्रीम् ।

बाईसवाँ अध्याय समाप्त ।

शाके रसेन्दुनिधिचन्द्रे धिषणेकुह्विबाहुले ।
समाप्तिरगमद् व्याख्या विमलेयं मयेरिता ॥

आत्मपरिचयः

साक्षात् शक्तिस्वरूपिणीं सुखमयीं सौभाग्यसंवर्द्धिनीम्।
माता मे च सरस्वतीं सुकृतिनीं धर्मैकनिष्ठामयीम् ।।
शास्त्रज्ञानप्रवीणशुद्धचरितः श्रीकीर्तिनाथः पिता ।
तज्जोऽहं जगदीशचन्द्रमुदितः प्राप्तावकाशः गृही ।।
चन्द्राङ्कवसुभूशाके चाषाढस्याऽसिते दले ।
सप्तम्यां रविवारे च निशायाः पश्चिमे पले ।।
दत्त्वाशिषश्च मे तात क्षिप्त्वा गृहधुरम्मयि ।
वैकुण्ठाधिपतिं ध्यात्वा वैकुण्ठञ्च समाययौ ।।
(६-७-१९६९)

बाणव्योमाङ्कचन्द्राऽब्दे शाके ज्येष्ठासिते शनौ ।
द्वितीयायां समाप्येह लीला मे जननीं ययौ ।।
(मई, १९८३)

—डॉ० जगदीशचन्द्रः

श्लोकानुक्रमणिका